* श्रीकृष्णाय नमः *

धृतराष्ट्र उवाच

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।
मामकाः पांडवाश्चैव किमकुर्वत संजय ॥१॥

संजय आगत्य पूर्वं सेनापतिमरणं वक्ति। ततो धृतराष्ट्रेण तत्परिदेवने कृते, पश्चात्तन्निवृत्तौ सर्वां कथां विस्तारेण वदतीति।

तत्र पांडवानां स्वल्पं सैन्यं स्वस्य तु महत्। स्वस्य शूराश्च भूयांसस्तेषां सर्वेषामेव पश्यतां तैरुपेक्षितो भीष्मो रणे पतितः उत पांडवैः प्रसह्यमारितः पांडवाश्च तादृशे क्षेत्रे पितामहावज्ञालक्षणमधर्मं कथं कृतवन्त इति ज्ञातुं।

हे संजय धर्मक्षेत्रे धर्मोत्पत्तिभूमौ कुरुक्षेत्रे। मामकाः मत्पुत्राः। पांडवाः पांडुपुत्राश्च युयुत्सवो योद्धुकामाः। समवेताः मिलिताः। किमकुर्वत किं कृतवंतः।

स्वपुत्राणामधर्मपरायणत्वाद्धर्मक्षेत्रेऽप्यधर्ममेव कृतवंतः किंवा धर्ममिति स्वीयानां प्रश्नः। पांडवाश्च धर्मपरायणास्तत्र धर्मक्षेत्रे द्रोणादीन् गुरून् कथं मारितवंत इति तेषां प्रश्नः।

इदमेव चकारेण द्योतितं यत्तेषां धर्मपरायणत्वं तथा चैकमरणे नैवान्यस्य राज्यप्राप्तिरिति निश्चितस्यापि किं कृतवंत इत्यर्थः।
संजयस्य वरप्राप्तसर्वज्ञत्वमालक्ष्य संबोधनम् ॥१॥

संजय ने आकर पहले सेनापति के मरण की सूचना दी। तब धृतराष्ट्र ने दुःख प्रकट किया। दुःख से निवृत्त होने के पश्चात् संजय ने युद्ध की सम्पूर्ण कथा का विस्तार पूर्वक वर्णन किया।

युद्ध में पांडवों की सेना थोड़ी है और अपनी सेना अधिक है। अपने शूर भी अधिक हैं। इन सबके देखते हुए तथा इनकी उपेक्षा करते हुए भीष्म रण में गिर पड़े या पांडवों ने उन्हें बल पूर्वक मार दिया। पांडवों ने ऐसे (पवित्र) क्षेत्र में पितामह के प्रति अवज्ञारूपी अधर्म को कैसे किया—इसे जानने की इच्छा से धृतराष्ट्र ने संजय से प्रश्न किया।

धर्मक्षेत्र—धर्म की उत्पत्ति भूमि कुरुक्षेत्र में मेरे तथा पांडु के पुत्रों ने, जो युद्ध की कामना से इकट्ठे हुए थे, वहाँ क्या किया?

धृतराष्ट्र को शंका है। मेरे पुत्र अधर्म परायण हैं अतः उन्होंने धर्मक्षेत्र में भी अधर्म किया या धर्म ? यह प्रश्न अपनों के संबंध में किया। पांडव धर्म परायण हैं अतः उन्होंने धर्मक्षेत्र में द्रोणादि गुरुओं को कैसे मारा ? यह पांडवों के संबंध में प्रश्न किया।

चकार वर्ण द्वारा इसी बात को प्रकट किया है क्योंकि पांडव तो धर्म परायण थे।

एक के मरण से दूसरे को राज्य मिलना निश्चित समझ कर भी उन्होंने क्या किया ? संजय को दिव्य दृष्टि का वर मिल चुका है। वह सर्वज्ञ है अर्थात् सब कुछ जानता है इसे लक्ष्य में रखते हुए संजय को संबोधित किया गया है[1] ॥१॥

संजय उवाच

दृष्ट्वा तु पांडवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा।
आचार्यमुपसंगम्य राजावचनमब्रवीत् ॥२॥

संजयस्तु नायमधर्मो भगवता कर्त्तव्यत्वेन बोधनादितिवक्तुं तदर्थं संगतिमाह दृष्ट्वेत्याद्यष्टादशश्लोकैः।

तत्रैवं धृतराष्ट्रवाक्यं श्रुत्वा संजयः पूर्वंपृष्टत्वात्तत्पुत्र कथामेवाह पूर्वं दृष्ठ्वात्विति।

---

१ शंकराचार्य ने धृतराष्ट्र के प्रश्न पर कुछ भी नहीं लिखा। इनके भाष्यकार आनन्दगिरि ने धृतराष्ट्र को प्रज्ञाचक्षु लिखा है और संजय को हितोपदेष्टा।

श्रीमधुसूदन ने धृतराष्ट्र वाक्य वैशंपायन की उक्ति माना है और वहां प्रश्न में दृष्टभय तथा अदृष्टभय माने हैं। भीम अर्जुन सम्बन्ध से कदाचित् युद्ध न हुआ हो यह दृष्टभय तथा धर्म का क्षेत्र है यह अदृष्टभय है।

कुछ विद्वानों का मत है कि युद्ध में भीष्म पितामह जब पराजित हो गये तब संजय धृतराष्ट्र के पास आया और भीष्म के पतन का संवाद सुनाया। भीष्म दस दिन रण स्थल में सेनापति रहे थे अतः धृतराष्ट्र संजय का संवाद युद्ध के दस दिन बाद हुआ। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि धृतराष्ट्र ने इस निमित्त ही प्रश्न किया था। कदाचित् भीष्म की पराजय से दोनों पक्ष युद्ध से निवृत्त हो गये हों या एक की विजय हो गई हो।

—भाष्योत्कर्ष दीपिका

राजा दुर्योधनः व्यूढं व्यूहरचनया स्थितं पांडवसैन्यं दृष्ट्वा द्रोणाचार्यमुपसंगम्य निकटे गत्वाऽग्रे वक्ष्यमाणं वचनमब्रवीदुवाच ।

तदा धर्मयुद्धोपस्थितावित्यर्थः एतेनापराधित्वेपि धार्तराष्ट्र एव युद्धे प्रथमं प्रवृत्त इति दशभिस्तत्कथा कथनेन बोधितम् ॥२॥

संजय का मत है कि यह अधर्म नहीं है क्योंकि इसमें भगवत् प्रेरणा है अतः वह इसकी संगति 'दृष्ट्वा तु' इत्यादि अठारह श्लोकों द्वारा बतलाता है।

धृतराष्ट्र के वाक्य सुनकर संजय पूर्व प्रश्न के उत्तर में उनके पुत्रों की कथा ही प्रथम कहता है।

राजा दुर्योधन पांडव सेना की व्यूह रचना देखकर द्रोणाचार्य के समीप गया और कहने लगा[1]।

यहाँ 'तदा' का अर्थ है धर्म युद्ध की उपस्थिति में। इससे अपराध करने में भी धृतराष्ट्र के पुत्र ही प्रथम प्रवृत्त हुए हैं, यह बात उसने आगे के दस श्लोकों द्वारा व्यक्त की है ॥२॥

पश्यैतां पांडुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम् ।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥३॥

न वाक्यमेवाह । पश्येत्यादि नवभिः । तत्र भोष्मस्याभिषिक्तत्वात्स्वतएवोत्साहः । द्रोणस्योदासीन्यमालक्ष्य प्रोत्साहयति परोत्कर्षवर्णनैः एतां निकटस्थां युधिष्ठिरस्य राज्यत्वाभावादविशेषेण पांडुपुत्राणामित्युक्तम् ।

हे आचार्य ! यद्यपि त्वमुभयोः समस्तथापि तेषां सेनायाः प्रबलत्वादस्मत्पक्षपातं कुर्वित्यतः संबोधनं पांडुपुत्राणां महतीं स्वभयजनिकां चमूं धीमता व्यूहरचनाकृतिना द्रुपदपुत्रेण धृष्टद्युम्नेन व्यूढां व्यूहरचनया संमार्जितां पश्य ।

तव शिष्येणेति विशेषणेन स्वस्य भयजनकत्वसामर्थ्यं द्योतितं तस्य भयाभावः ॥३॥

---

१. यद्यपि राजा दुर्योधन द्रोणाचार्य को अपने समीप बुलवा सकता था, किन्तु स्वयं जाकर उसने अपनी राजनीति कुशलता का परिचय दिया है। इससे उसका भय भी व्यक्त होता है। अर्जुन के उपस्थित भय को भगवान् ने दूर किया अतः पांडवों के भयाभाव का द्योतक 'तु' शब्द है।

—भाष्योत्कर्ष दीपिका।

इस सम्बन्ध में उसने 'पश्य' इत्यादि नौ श्लोकों द्वारा कथन किया है । भीष्म का अभिषेक हुआ था अतः उत्साह तो स्वतः था ही । द्रोणाचार्य को उदासीन देखकर शत्रुओं के उत्कर्ष वर्णन द्वारा उन्हें उत्साहित करता हुआ दुर्योधन कहता है :—

अपने समीप ही स्थित इन पांडु पुत्रों की सेना को देखिये ।

यहाँ केवल युधिष्ठिर को ही राज्य प्राप्ति नहीं है, अपितु पांडवों को भी है, अतः 'पांडुपुत्राणां' पद रखा गया है ।

हे आचार्य ! यद्यपि आप दोनों के समान गुरु हैं तथापि उनकी सेना प्रबल है अतः आप हमारा पक्ष लें । यहाँ आचार्य सम्बोधन है । पांडु पुत्रों की विशाल और भय जनक सेना को, जिसे व्यूह रचना के शिल्पी बुद्धिमान् द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्न ने व्यूह रचना से व्यवस्थित किया है, उसे आप देखिये ।

'तव शिष्येण' पद से कौरवों को भय एवं पांडवों को भय का अभाव प्रदर्शित किया गया है[1] ॥३॥

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि ।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥४॥

एवं सेनां दर्शयित्वा तस्याः प्रबलत्वमुपनाय तत्स्थितान् शूरान् वर्णयति ।

अत्रेति । अत्र अस्यां सेनायां इषवो अस्यंते एभिरितीष्वासाश्चापाः । महान्त इष्वासा येषां ते महेष्वासा । शूरा महेष्वासा इति पदद्वयेन स्वतः शिक्षातश्च सामर्थ्यं दर्शितम् । युधि संग्रामे भीमार्जुनसमाः शूराः संति । भीमार्जुनावतिबलाविति तत्समत्वेन गणिताः । युधीतिपदेनान्यत्र न तत्समा दानादिष्वित्यर्थः ॥४॥

---

१. द्रोणाचार्य का पूर्व वैर द्रुपद से था । अतः उसकी स्मृति कराने के लिये दुर्योधन ने द्रुपद का नाम लिया है ।

—नीलकंठ

यहाँ 'धीमता' शब्द साभिप्राय है । द्रुपद पुत्र द्रोणाचार्य के वध के लिये उत्पन्न हुआ है, फिर भी द्रोण ऐसे मूढ हैं कि उसे विद्या पढ़ा दी । द्रुपद पुत्र ने शत्रु से भी विद्या ग्रहण की अतः वह धीमान् है ।

—मधु सूदन सरस्वती

इस प्रकार सेना दिखाकर उसकी प्रबलता को प्रकट करने के लिये उस सेना में स्थित शूरों का वर्णन किया गया है।

अत्र आदि। इस सेना में चाप से बाण फेंके जाते हैं, इस व्युत्पत्ति से 'इष्वास' का अर्थ चाप है। उनके चाप (धनुष) बड़े हैं अतः वे 'महेष्वास' कहलाते हैं। 'शूर' और 'महेष्वासा' इन दो पदों से शिक्षा सामर्थ्य का प्रकाशन अपने आप हो जाता है। 'युधि' अर्थात् युद्ध में भीम और अर्जुन के समान शूर हैं। भीमार्जुन बलशाली हैं उनको समान गिना गया है अतः शूरवीरों की उपमा भी भीमार्जुन से दी है। 'युधि' पद का अर्थ यह है कि योद्धागण युद्ध में ही समान हैं। दानादि में उनके समान नहीं हैं ॥४॥

धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान्।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुंगवः ॥५॥
युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान्।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥६॥

तानेव गणयति युयुधान इत्यादिभिः। युयुधानः सात्यकिः, विराट द्रौपदी, राजानो धृष्टकेतुप्रभृतयो। राजानोऽसंबद्धा अस्मच्छत्रवश्च । वीर्यवानिति प्रत्येकं सर्वेषां विशेषणं विक्रान्तः=अतिपराक्रमो, वीर्यवानिति सौभद्रविशेषणम्। द्रौपदेयाः पंचप्रतिविन्ध्यादयः। सर्व एव महारथाः। महारथ लक्षणं च-

एकोदशसहस्राणि योधयेद्यस्तु धन्विनाम्।
शस्त्रशास्त्र प्रवीणश्च महारथ इति स्मृतः ॥
अमितान्योधयेद्यस्तु संप्रोक्तोतिरथस्तु सः।
रथीचैकेन यो योद्धातन्न्यूनोर्द्ध रथस्मृतः ॥

इत्यादि ॥५-६॥

योद्धाओं के नाम निर्देश 'युयुधान' इत्यादि से किये गये हैं। युयुधान=सात्यकि, बिराट, द्रुपद, धृष्टकेतु आदि राजाओं के साथ हमारा सम्बन्ध नहीं है। ये हमारे शत्रु ही हैं। वीर्यवान् यह प्रत्येक का विशेषण है। विक्रान्त वीर्यवान यह सौभद्र का विशेषण है।

[illegible] थे। ये सभी महारथी थे।

जो दशसहस्र धनुर्धरों का वध करे, शस्त्र शास्त्र में चतुर हो वह महारथी[1] कहलाता है।

अतिरथी वह है जो अगणित योद्धाओं का विनाश करे।

रथी वह है जो अकेले ही लड़े।

अर्द्ध रथी वह होता है जो उससे कम हो ॥५,६॥

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते ॥ ७ ॥

एवं तत्सैनिकानक्त्वा स्वीयानाह प्रोत्साहनार्थं। अस्माकमित्यादिभिः। अस्माकं ये विशिष्टाः महान्तस्तान्निबोध बुध्यस्व द्विजोत्तमेति विस्मृति संभावनया संबोधनं मम सैन्यस्य नायकाः नेतारः। तान्संज्ञानार्थंमया विशेषेण स्वरूपतो ज्ञायन्ते नवेति ते ब्रवीमि ॥७॥

इस प्रकार पांडवों के सैनिकों का परिचय देकर अपने सैनिकों को प्रोत्साहित करने के लिये दुर्योधन ने कहा —

हमारे जो विशिष्ट योद्धा हैं उन्हें समझें। यहां द्विजोत्तम संबोधन विस्मृति संभावना के कारण हैं। अपनी सेना के नायकों को मैं विशेष रूप से जानता हूं या नहीं, अतः आप से कहता हूं ॥७॥

भवान् भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिंजयः।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ॥८॥

एव विज्ञाप्य तन्नामान्याह। भवानिति द्वाभ्याम्। भवान्द्रोणः सर्वेषामाचार्योऽस्माकं मुख्यः। त्वया कार्यार्थमन्ये प्रेर्याः उभयोर्द्रोणसामर्थ्य-मिति वाक्यात् परमबलीति पूर्वं गणितः। भीष्मश्च तथैव मुख्यः। चकारेण

१. महारथ विशेषण :—युयुधान, विराट, द्रुपद के लिये।
वीर्यवान् " :—धृष्टकेतु, चेकितान, काशिराज के लिये।
नरपुंगव " :—पुरुजित् कुन्तिभोज, शैब्य के लिये। अथवा सब विशेषण सब के लिये।

क्षत्रियत्वात् शापसामर्थ्याभावमाशंक्यपितामहत्वात् शापसामर्थ्यं ज्ञाप्यते। कर्णस्याप्यर्धरथिषु गणनात्स दुःखितो भविष्यतीति सोपि मुख्यत्वेन गणितः। इदमेव चकारेण गृह्यते। कृपाचार्योपि तथा एते सर्वेपि समितिंजयाः संग्रामजेतारः भिन्नतया सर्वेषां विशेषणम्। अश्वत्थामा त्वत्पुत्रः विकर्णश्च, सौमदत्तिः भूरिश्रवाः। तथेति यथा भवदादयस्तुल्या अप्यस्मत्पक्षपातिनस्तथैव सोमदत्तिरित्यर्थः यद्वा। तथैवेत्युत्तरत्र योज्यम् ॥८॥

भगवान् आदि दो श्लोकों से उनके नाम बतलाते है। हमारे सबके स्वयं आचार्य द्रोण मुख्य हैं। द्रोणाचार्य अन्यों के प्रेरक भी हैं। द्रोणाचार्य की 'शापादपि शरादपि' उभयविध सामर्थ्य है, अतः परमबलशाली का प्रथम उल्लेख है और भीष्म भी उसी प्रकार मुख्य हैं।

चकार से क्षत्रियत्व कहा गया है। फलतः शाप देने की उनमें शक्ति नहीं है।

पितामह पद से शाप सामर्थ्य का संकेत संभाव्य था। कर्ण अर्द्धरथियों में गिनने से दुखी होगा अतः वह भी मुख्य रूप से गिना गया है।

कृपाचार्य भी वैसे ही हैं। ये भी चकार शब्द से ग्रहण किये गये हैं एवं अन्य लोग भी संग्राम विजेता हैं। वैसे यह 'समितिंजय' पद सबका विशेषण है।[1]

अश्वथामा (आपका पुत्र), विकर्ण,[2] सोमदत्ति=भूरिश्रवा[3]। जिस प्रकार आप लोग हमारे पक्षपाती हैं उसी प्रकार भूरिश्रवा भी है अथवा तथैव यह उत्तर से संबंधित है ॥८॥

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥९॥

अन्ये चैतादृशा बहवः शूरा मदर्थे मत्कार्यार्थं त्यक्तं जीवितं यैः तादृशा जीविताशां परित्यज्य मत्कार्यंवर्तुं कृतनिश्चया इत्यर्थः। यद्वा आदि कर्मणि क्तः। त्यक्षमाण जीविता इत्यर्थः।

---

१. कृपाचार्य का नाम कर्ण के बाद आया है अतः समितिंजयः विशेषण दिया जिससे कृप अप्रसन्न न हों।

२. दुर्योधन का छोटा भाई।

३. सौमदत्ति=शान्तनु के बड़े भाई वाह्लीक के पौत्र थे।

नाना शस्त्राणि प्रहरणसाधनानि येषां ते युद्धे विशारदाः अति निपुणाः ॥९॥

इस प्रकार के अन्य अनेक शूरवीर मेरे लिये जीवन को त्यागकर जीविताशा परित्याग कर मेरा कार्य करने का निश्चय करके आये हैं। अथवा आदि कर्म में क्त प्रत्यय है। इसका अर्थ होगा 'जीवन छोड़ने की आशा में'। जिनके पास अनेक प्रकार के अस्त्र शस्त्र हैं और जो युद्ध में विशारद हैं--अत्यन्त निपुण हैं ॥९॥

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥ १०॥

एवं सर्वानुक्त्वा तद्रक्षितमप्यस्मद्बलं तद्बलयुद्धाऽसमर्थं ममाभातीत्याह। अपर्याप्तमिति। भीष्माभिरक्षितमप्यस्माकं बलं अपर्याप्तं तैः सहयोद्धमसमर्थं भाति। द्रोणः कदाचित् कुप्येदिति भीष्मादिरक्षितमेवोक्तम्। पांडवानां च बलमस्माभिर्योद्धुं समर्थं भातीत्याह। पर्याप्तमिति। इदं तेषां पांडवानां बलं भीमेनाभितः सर्वतो रक्षितं सत् पर्याप्तं समर्थं प्रविभाति। तु शब्देना-पर्याप्त पक्षो निराकृतः। यद्वा। तत्प्रसिद्धमस्माकं बलं अपर्याप्त अत्यधिकं किं च। भीष्मेणाभितो रक्षितम्। तेषां तु बलं शूर भूयिष्ठमपि पर्याप्तम्। अक्षौहिणी सप्तकमितत्वात् ॥ १० ॥

इस प्रकार सबके नामों का उल्लेख कर इनके द्वारा रक्षित हमारा बल भी इनकी सेना के बल के समान नहीं है। अतः कहता है—अपर्याप्तमिति।

भीष्म के द्वारा रक्षित हमारा बल अपर्याप्त है अर्थात् पांडवों की सेना से युद्ध करने में असमर्थ है।

यहां भीष्म का उल्लेख इसलिये किया है कि कहीं द्रोणाचार्य अप्रसन्न न हो जायें। पांडवों की सेना पर्याप्त है अर्थात् हमसे युद्ध कर सकती है। पांडवो की सेना भीम द्वारा रक्षित है—पर्याप्त समर्थ है। तु शब्द से अपर्याप्त पक्ष का निराकरण किया है। अथवा हमारी प्रसिद्ध सेना अपर्याप्त—अत्यधिक हैं क्योंकि इसकी रक्षा भीष्म कर रहे हैं। और पांडवों की सेना शूर भूयिष्ठ होने पर भी पर्याप्त है। पांडवों की सेना में कुल सात अक्षौहिणी सेना थी। अतः उसे पर्याप्त कहा है ॥१०॥

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः ।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥११॥

किञ्च । भीष्मेणाभिरक्षितम् । एवं सति किं कर्त्तव्यमित्याकांक्षायामाह । अयनेषु चेति व्यूहप्रवेशमार्गेषु यथाभाग विभक्ताः । स्वस्थाने स्थिताः भवन्तः सर्व एव भीष्ममेवाभितः सर्वतः रक्षन्तु । यतोऽस्माकं बलं भीष्मरक्षितमेव च कारेण व्यूहप्रवेशमार्गात् परस्थानेऽपि स्थितैरिदमपिज्ञापितम् । एवकारेणास्मदादि रक्षा कार्येति ज्ञापितम् । हीति युक्तत्वम् ॥ ११ ॥

क्योंकि भीष्म द्वारा रक्षित है अतः क्या करना चाहिये इस आकांक्षा में कहा है 'अयनेषु'। व्यूह प्रवेश मार्गों में यथाभाग विभक्त होकर—अपने स्थान पर स्थित होकर आप सब भीष्म की ही चारों ओर से रक्षा करें, क्योंकि हमारी सेना भीष्म रक्षित है। चकार पद से व्यूह प्रवेश मार्ग से पृथक् स्थिति को भी ज्ञापित किया है। एव पद से हमारी रक्षा भी करनी चाहिये यह व्यक्त किया है। 'हि' पद वाक्य पूर्ति के लिये है॥ ११॥

तस्य संजनयन् हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः ।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शंखं दध्मौ प्रतापवान् ॥१२॥

सेनापतिरेव रक्षणीय इत्येवं स्वबहुमानप्रतिपादकं राजवाक्यं श्रुत्वा राज्ञो हर्षमुपजनयन् भीष्मः स्वबलख्यापकं शंखनादं कृतवानित्याह । तस्येति, तस्य राज्ञः हर्षं सम्यक् प्रकारेण यास्यामि इत्यादिरूपेण जनयन् भीष्मस्य भक्तत्वात् स्वपराजयज्ञानेन स्वतो हर्षेण न शंखादिवादनं किन्तु दुर्योधनस्य वाक्यं श्रुत्वा भगवदिच्छां ज्ञात्वा तस्य राज्ञः हर्षजननार्थं तथा कृतवानिति बोधयितुमेवमुक्तम् । कुरुवृद्धः कुरूणां कुरुषु वा वृद्धः । देशकालोचितज्ञानः पितामह इति हर्षजनने हेतुरुक्तः । भीष्मः उच्चैरूर्ध्वंमुखं यथास्यात्तथा महान्तं वा सिंहनादं विनद्य स्वप्रौढिज्ञापकं गर्जनं कृत्वा प्रतिभटः कोपि नास्तीति ज्ञापयन् शंखं दध्मौ वादितवान् । ननु राज्ञा बहुमाने कृतेऽपि राज्ञोऽग्रे तथाविनादं शंखादिवादनं च न कर्त्तव्यं तत्कथं कृतवानित्याशंक्याह । प्रतापवानिति नादेनैव शत्रुजयः सूच्यते ॥ १२ ॥

सेनापति की रक्षा होनी चाहिये.[1] इस प्रकार बहुमान पूर्वक राजा दुर्योधन के वचनों को सुनकर राजा को हर्ष पैदा करने के लिये भीष्म ने अपने बल को व्यक्त करते हुए शंखनाद किया। राजा को हर्षित किया अर्थात् मैं अच्छी भांति संग्राम करूँगा इसका विश्वास दिलाया। भीष्म भक्त हैं, उन्हें अपनी पराजय का ज्ञान है। अतः स्वतः हर्ष से शंखादि वादन नहीं किया, अपितु दुर्योधन के वचन सुनकर भगवान् की इच्छा जानकर राजा को हर्षित करने के लिये शंखनाद किया—यह बतलाने के लिये शंखनाद की बात कही है। कुरुओं में वृद्ध पितामह को देश और काल का ज्ञान है यही उनके हर्ष उत्पादन में हेतु है।

भीष्म ने ऊँचा मुख कर महान् सिंहनाद किया और अपनी प्रौढ़ता के ज्ञापन के लिये गर्जन किया तथा मेरे समान और कोई योद्धा नहीं है यह बतलाने के लिये शंख बजाया।

शंका:—राजा ने भले ही भीष्म का मान किया, किन्तु उन्हें राजा के सामने गर्जना और शंखादि वादन करना उचित न था। वह क्यों किया, इस आशंका से कहा है—प्रतापवान् नाद से ही शत्रु पर विजय की सूचना देते हैं ॥१२॥

ततः शंखाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः ।
सहसैवाभ्यहन्यंत स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥१३॥

एवं सेनापतेर्युद्धोत्सवप्रवृत्तकं शंखध्वनिमाकर्ण्य सर्वसावधानकरणार्थं वादका दुंदुभ्यादिवादनं कृतवन्त इत्याह। तत इति सहसा तच्छ्रवण एव शंखाः भेर्यश्च पणवा आनकाः गोमुखाः अभ्यहन्यंत वादिता इत्यर्थः। एवकारेण तच्छ्रवणादेव वादितवन्तो न तु युद्धोपस्थित्या स्वशौर्याविर्भावेनेति व्यज्यते स शंखादिशब्दस्तुमलो महानासीत् ॥ १३ ॥

---

१. दुर्योधन का भाव था कि शिखंडी से भीष्म की रक्षा की जाय। शिखंडी पहले स्त्री था बाद में पुरुष। भीष्म स्त्री पर हाथ छोड़ना नहीं चाहते थे, अतः उनकी रक्षा आवश्यक थी।

इस प्रकार सेनापति के युद्धोत्सव में प्रवर्त्तक शंख• ध्वनि को सुनकर सब को सावधान करने के लिये वादकों ने दुंदुभी बजाई। सहसा ही शंख ध्वनि के साथ अन्य शंख, भेरी, पणव, गोमुख बजाये गये। 'एवं' कार से उसके 'श्रवण के साथ ही बजाये गये' युद्धारम्भ के समय के नहीं। उससे उनके शौर्य का प्रकाशन होता था, उसके शंखादि का शब्द तुमुल—महान् था॥ १३॥

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ।
माधवः पांडवश्चैव दिव्यौ शंखौ प्रदध्मतुः॥१४॥

एवं युद्धोत्सवज्ञापक शंखध्वनिश्रवणानन्तरं पांडवसैन्येपि युद्धोत्सवोऽभूदित्याह तत इति पंचभिः। ततः कौरवप्रवृत्त्यनन्तरं श्वेतैर्हयैः शुभसूचकैर्युक्ते परमेश्वरस्य सारथित्व प्रतिपादनाय भगवतोऽश्वानां च वर्णनं नायं भगवद्रथ इति ज्ञापनाय च भगवतोऽश्वानां चित्रवर्णत्वादत्र श्वेतैरिति हयविशेषणं; युद्धप्रवृत्तिज्ञापनार्थं हयैर्युक्त इति। महति अग्निदत्ते भगवत्स्थितियोग्ये गरुडसमे स्यंदने नंदिघोषाख्ये रथे स्थितौ। श्रीकृष्णार्जुनौ दिव्यौ शंखौ। प्रदध्मतुः वादितवंतौ। माधवपदेन तेषां शीघ्रमेव लक्ष्मीप्राप्तिर्भविष्यति इति व्यजितम्। पांडवत्वोक्त्या तेषां न्यायत्वमुक्तम्।

भगवतः शंखध्वनिः सर्वेषां यथा दर्पध्नस्तथैवार्जुनस्यापीति चकारेणैवकारेणापि व्यज्यते॥१४॥

युद्धोत्सव को ज्ञापित कराने वाली शंखध्वनि सुनने के पश्चात् पांडवों की सेना में भी युद्धोत्सव मनाया गया। पाँच श्लोकों में इसका वर्णन किया गया है।

कौरव प्रवृत्ति के अनन्तर श्वेत घोड़ों से युक्त रथ में, (यहाँ श्वेत शुभ सूचक है। परमेश्वर का सारथित्व प्रतिपादन करने के लिये है, क्योंकि भगवान् के घोड़ों का वर्ण चित्र है[1]। यहाँ श्वेत घोड़े हैं।) युद्ध-प्रवृत्ति ज्ञापन के लिये अयुक्त कहा है।

अग्नि द्वारा प्रदत्त भगवत् स्थिति योग्य गरुड सम रथ जिसे 'नंदिघोष' कहते हैं, उसमें स्थित कृष्ण-अर्जुन ने दिव्य शंख बजाये।

---

१. ये अश्व चित्ररथ के दिये हुए थे। ये स्वर्ग तथा पृथ्वी में समान चलते थे। संख्या में सौ ही रहते थे, चाहे कितने ही मर जायें।

माधव पद से उनको शीघ्र ही लक्ष्मी प्राप्त होगी यह व्यंजित किया है।

पांडवत्व की उक्ति से उनका न्याय पथ में रहना बतलाया है।

भगवान् की शंखध्वनि जिस प्रकार सबके दर्प का नाश करने वाली है, उसी प्रकार अर्जुन के दर्प का भी शमन करने वाली है। यहां चैव शब्द इसी बात को प्रकट करने के लिये रखा गया है ॥१४॥

पांचजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनंजयः।
पौंड्रं दध्मौ महाशंखं भीमकर्मा वृकोदरः ॥१५॥

श्रीकृष्णादिशंखानां महत्त्वज्ञापनार्थं नामान्याह।

पांचजन्यमित्यादिद्वयेन पांचजन्यं हृषीकेशो वादितवान्। पांचजन्यादीनि तत्तच्छंखानां नामानि शंखमाहात्म्यज्ञापनार्थं उक्तानि। पंचजनदैत्यप्रभवत्त्वात्पांचजन्यः। देवदत्तमग्निदत्तं। पौंड्रादयोपि तत्तद्गुणविशिष्टास्तत्तदुपाख्यानैरवगन्तव्याः। सर्वेषामिन्द्रियप्रवर्त्तकस्य युद्धप्रवृत्तौ सर्वेन्द्रियाणि स्वतएव प्रवर्त्तेरन्निति हृषीकेश इत्युक्तम्।

धनंजयः देवदत्तं वादितवान्। धनंजयोऽस्य जये यस्येति वा। पौंड्रं महाशखं स्वरूपतो गुरुतरं भीमकर्मा भयानककर्मकर्ता वृकोदरो भीमसेनो दध्मौ वादितवान्।

> भक्तिर्ज्ञानं सवैराग्यं प्रज्ञा मेधा धृतिः स्थितिः।
> योगः प्राणो बलं चैव वृकोदर इति स्मृतः॥
> एतद्दशात्मको वायुस्तस्माद्भीमस्तदात्मकः। इति ॥१५॥

श्रीकृष्ण एवं अर्जुनादि के शंखों का महत्त्व बताने के लिये पांचजन्य इत्यादि दो श्लोकों से उनका नाम निर्देश किया है।

पांचजन्य को हृषीकेश ने बजाया।

पंचजन दैत्य से उत्पन्न होने के कारण इस शंख का नाम पांचजन्य था। अग्नि द्वारा प्रदत्त शंख का नाम देवदत्त था। पौण्ड्रादिकों को प्राप्त शंख भी उन-उन उपाख्यानों से जानने चाहिये।

हृषीकेश पद सार्थक है। सब की इन्द्रियों का प्रवर्त्तक युद्ध में प्रवृत्त है अतः सम्पूर्ण इन्द्रियां स्वतः ही प्रवृत होंगी। इसीलिये यहां हृषीकेश पद रखा गया है।

धनंजय=अर्जुन ने देवदत्त नामक शंख को बजाया। इसकी जय में धन की जय है अतः इसे धनंजय कहते हैं। यह भी व्युत्पत्ति है।

पौण्ड्र महाशंख को, जो स्वरूप से भी विशाल था, भयानक कर्मकर्त्ता भीमसेन ने बजाया।

वृकोदर का अर्थ है :—

भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, प्रज्ञा, मेधा, धृति, स्थिति, योग, प्राण, बल की समष्टि है ये 'दश' वायु स्वरूप हैं, भीमसेन तदात्मक है। फलतः उनका नाम वृकोदर है॥ १५॥

अनंत विजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ॥१६॥

अनंतानां विजयो येन तादृशं राजेति प्रवृत्तावावश्यकता वादितवान्। कीदृशो राजा कुन्तीपुत्रः। कुन्तीपुत्रेति तत्प्रेरितत्वं भगवत्कृपाधिकारित्वं च ज्ञापितम्।

युधिष्ठिर इति सार्थकनाम्ना सामर्थ्यं।

नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ वादयामासतुः॥१६॥

जिससे अनन्तों की विजय हो ऐसे राजा की प्रवृत्ति में आवश्यकता बतलाई है। राजा युधिष्ठिर ने 'अनन्त विजय' नामक शंख बजाया। राजा कुन्ती का पुत्र है इस शब्द कथन से भगवत्कृपा का अधिकारित्व सिद्ध किया है। युधिष्ठिर नाम सार्थक है क्योंकि युद्ध में स्थिर रहने वाला युधिष्ठिर होता है। नकुल सहदेव ने सुघोषमणिपुष्पक नाम के शंख बजाये॥ १६॥

काश्यश्च परमेष्वासः शिखंडी च महारथः।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः॥१७॥
द्रुपदो द्रोपदेयाश्च सर्वशः पृथिवी पते।
सौभद्रश्च महाबाहुः शंखान्दध्मुः पृथक् पृथक्॥१८॥

एवं मुख्यानां नामानि तच्छंखानां चोक्त्वा तत्सनिकानां महतां सर्वेषां नामान्याह काश्यश्चेति द्वयेन।

काश्यः काशिराजः परमेष्वासः परमः श्रेष्ठः इष्वासोधनुर्यस्य। शिखंडो च महारथः शस्त्रशास्त्रप्रवीणः चकारेण परमेष्वासोऽपि। धृष्टद्युम्नादयो

गणिताः सर्वे तथा सौभद्रोऽभिमन्युः महाबाहुः परमयुद्धसमर्थः, पृथक् पृथक् भिन्नस्थाने स्थिताः। शंखान्दध्मुः। पृथिवीपत इति संबोधनं, धृतराष्ट्रस्य सर्वेषां स्वरूप ज्ञानार्थम् ॥१७ १८॥

इस प्रकार 'काश्यश्च' आदि दो श्लोकों से मुख्य योद्धाओं के नाम तथा उनके शंखों के नाम गिनाकर उसके सैनिकों के नाम गिनाये गये हैं।

काशिराज का धनुष श्रेष्ठ था, शिखंडी महारथ था अर्थात् शस्त्र-शास्त्र में प्रवीण था, तथा च पद से परम धनुर्धर भी। धृष्टद्युम्नादि के नाम तथा विराट्, सात्यकि, द्रुपद, द्रुपदपुत्र, सुभद्रा के पुत्र मूल में गिनाये गये हैं। सौभद्र=अभिमन्यु। महाबाहुः का अर्थ-परम युद्ध में समर्थ। ये सब पृथक् पृथक् स्थानों में स्थित हुए और शंख बजाने लगे। यहाँ धृतराष्ट्र को पृथिवीपति संबोधन सबके स्वरूप का ज्ञान कराने के लिये किया है॥ १७,१८॥

स घोषोधार्त्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत्।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ॥१९॥

स शंखध्वनिस्तावकानां भयमुत्पादयामासेत्याह स इति। स पूर्वोक्तः पांचजन्यादिजन्मा घोषः शब्दः धार्तराष्ट्राणां हृदयानि विशेषेण दारितवान्। नभः आकाशं पृथिवीं च विशेषेण अनुनादयन् प्रतिध्वनयन् तथा कृतवान्। चकार द्वयेन नभः पृथिवीं व्यदारयदिति ज्ञापितम्। नभोविदारणं लोकोक्तिः। पृथिवीविदारणन्तु स्पष्टम्। विद्युन्महाशब्देन कूपादिविदारणस्य दर्शनात्। कीदृशः सः तुमुलो महान्। नभश्च पृथिवीं च अनुनादयन्। तुमुलो भूत्वा स घोषः धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयदिति वा। उत्साहभंगेन हृदये भयं जनयामासेत्यर्थः। एवं पांडवानां धर्मिष्ठत्वभक्तत्वयोर्बोधनार्थमष्टादशभिः संगतिरुक्ता ॥१९॥

उस शंखध्वनि ने तुम्हारे पुत्रों को भयभीत किया। स=पूर्वोक्त पांचजन्यादि से उत्पन्न घोष=शब्द, धृतराष्ट्र के पुत्रों के हृदयों को विशेषतः चीरने लगा और आकाश-पृथिवी को विशेषतः प्रतिध्वनि युक्त करने लगा। चकार द्वय से नभ और पृथिवी को चीरना ज्ञापित है। 'नभो विदारण' यह लोकोक्ति है। पृथिवी का विदारण तो स्पष्ट है। विद्युत् के महाशब्द से कूपादि का फटना देखा भी जाता है। वह शब्द तुमुल=महान् था। नभ और पृथिवी को नादित किया था। तुमुल होकर वह शब्द धृतराष्ट्र पुत्रों के हृदय को विदीर्ण करने लगा। उत्साह भंग होने से भय उत्पन्न किया।

इस प्रकार पांडवों की धर्मिष्ठता और भक्तिरूपता १८ श्लोकों में कही गई है ॥ १६ ॥

अथ व्यवस्थितान् दृष्ट्वा धार्त्तराष्ट्रान्कपिध्वजः ।
प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पांडवः ॥२०॥
हृषीकेशं तदावाक्यमिदमाह महीपते ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥२१॥

एवं कृष्णार्जुनसमागमनार्थं सेनाद्वयेपि युद्धोत्सवमुक्त्वा प्रेरित कृष्णार्जुन मंत्रणेन युद्धमध्ये प्रवृत्तस्य बन्धुनाशदर्शनेन वैराग्य वक्तुं अर्जुनस्य सहेतुकं कृष्णप्रेरणमाह । अथेति चतुर्भिः । तत्र प्रेरणे प्रथमं हेतुदर्शनमाह । अथ भिन्नक्रमेण भयाभावेन धार्तराष्ट्रान् व्यवस्थितान् विशेषेण अवगता स्थितिर्येषां तादृशान् दृष्ट्वा कपिध्वजोऽर्जुनः कपिध्वज इति शस्त्रलाघवं सूचितम् । शस्त्रसंपाते प्रवृत्ते सति धनुरुद्यम्य पांडवः पांडोः पुत्रः स्वराज्याप्तिकाम्यया हृषीकेशं तथैवेन्द्रियप्रेरकं तदा तत्समये इदं वाक्यं वक्ष्यमाणमाह । महीपत इति संबोधनम् । राज्ञां तथैव धर्मं इति ज्ञापनार्थं । तद्वाक्यान्येवाह । सेनयोरित्यादिना हे अच्युत उभयोः सेनयोर्मध्ये रथं स्थापय ॥२०-२१॥

इस प्रकार कृष्ण अर्जुन के समागमन से दोनों सेनाओं में हुए युद्धोत्सव को बतलाया गया । इस प्रकार कृष्णार्जुन मंत्रण से युद्ध में प्रवृत्त बन्धुओं के नाश दर्शन से अर्जुन के वैराग्य को सहेतुक कृष्ण प्रेरित कहा है । यह 'अथ' इत्यादि चार श्लोकों में कहा गया है । इस प्रेरणा में प्रथम हेतु दर्शन है ।

अथ भिन्न क्रम से भयाभाव पूर्वक धृतराष्ट्र के पुत्रों को विशेष रूप से अवस्थित देखकर कपिध्वज[1] अर्जुन (कपिध्वज पद से शस्त्रलाघव सूचित है।) शस्त्रसंपात में प्रवृत्त होने पर धनुष उठाकर स्वराज्य प्राप्ति की कामना से हृषीकेश= इन्द्रिय प्रेरक से उस समय यह वाक्य बोला । महीपति, यह सम्बोधन राजाओं के धर्म को बतलाता है । 'सेनयोः' पद से उनके ही वाक्य कहे हैं ।

अच्युत, दोनों सेनाओं के मध्य मेरे रथ को स्थित करो ॥२०-२१॥

---

१. हनुमानजी ने भीमसेन को वचन दिया था इसलिये वे अर्जुन के रथ की विशाल ध्वजा पर विराजमान रहते थे और युद्ध में बड़े जोर-जोर की गर्जना भी करते थे। अतः अर्जुन का नाम कपिध्वज पड़ गया था । महाभारत वनपर्व । १५७१-१७,१८

यावदेतान्निरीक्ष्येऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।
कैर्मयासह योद्धव्यमस्मिन् रण समुद्यमे ॥२२॥
योत्स्यमानानवेक्ष्येऽहं य एतेऽत्र समागताः ।
धार्त्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रिय चिकीर्षवः ॥२३॥

यावदेतान् योद्धुकामान् अवस्थितान् आत्रङ्मुखस्थित्या स्थितान्पलायनपरानहं निरीक्ष्ये । ननु निरीक्षणेन किं स्यादित्यत आह । कैर्मयेति । अस्मिन् रणसमुद्यमे यत्र रणप्रवृत्ति विनैव शंखध्वनिनैव विदारितहृदयाः शुष्कवदनाः प्रतिभटास्तत्र कैः सह मया योद्धव्यमित्याह ।

अवेक्ष्य इति किं च दुर्बुद्धेः धार्तराष्ट्रस्येति भगवत्प्रतिपक्षत्वेन स्वपराजय मननुसंधानस्यांधस्य पुत्रस्तस्य प्रियं चिकीर्षवस्तेप्यंधा एव तथा भूतायेऽत्र समागताः सम्यक् प्रकारेणयुद्धार्थमागतास्तान् योत्स्यमानान् युध्वमानानहं अपेक्ष्ये तावन्मे रथं सेनयोर्मध्ये स्थापयेति पूर्वेणैव संबधस्तत्र मध्ये रथस्यापने मम भयं तु नास्त्येव यतस्त्वमच्युतोसि ।

एवं चतुर्भिर्युद्धोद्यमोप्युक्तः ॥२३-२४॥

जब तक मैं युद्ध की कामना से अवस्थित्=नीचामुख किये स्थित, पलायन पर योद्धाओं को देखूं । निरीक्षण से क्या लाभ, यह इसका उत्तर है । 'कैर्मया' इति । इस रण में जहाँ रण प्रवृति के बिना ही शंखध्वनि से हृदय विदीर्ण हो गये है, मुख सूख गये है, ऐसे योद्धाओं में किनके साथ युद्ध करूं ?

धार्तराष्ट्र पद इस हेतु रखा है कि यह भगवान् का प्रतिपक्षी है । अपनी पराजय नहीं जानता तथा अन्ध के पुत्र भी उसका प्रिय चाहते हैं, अतः वे भी अन्ध है । ऐसे जो यहाँ आये हैं, उन्हें मैं देखूँ । तब तक मेरे रथ को सेनाओं के मध्य में रखो । वहाँ रथ स्थापना में मुझे कोई भय नहीं है, क्योंकि आप अच्युत साथ में हैं ।

इस प्रकार चार श्लोकों में युद्धोद्यम भी कहा है ॥ २२, २३ ॥

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥२४॥

एवमर्जुनवाक्यं श्रुत्वोभयोः सेनयोर्मध्ये रथमास्थाप्यार्जुनं प्रत्युवाच भगवान् इत्याह संजयो द्वाभ्यां एवमुक्त इति द्वयेन ।

एव गुडाकेशेन[1] जितनिद्रेणार्जुनेन उक्तो हृषीकेशः उभयोः सेनयोर्मध्ये रथोत्तमं स्थापयित्वा अर्जुनं प्रत्युवाच । हृषीकेशत्वात्तत्प्रेरकः स्वयमेवेति न न विमनस्कत्वम् ॥२४॥

इस प्रकार अर्जुन के वाक्य सुनकर दोनों सेनाओं के मध्य में रथ स्थापित कर भगवान् अर्जुन से बोले, इस बात को संजय दो श्लोकों में कहता है ।

इस प्रकार गुडाकेश जितनिद्र अर्जुन से कहे गये हृषीकेश ने 'रथोत्तम को दोनों सेनाओं के मध्य में स्थापित किया ।

हृषीकेश का भाव है कि वे अर्जुन के भी प्रेरक हैं अतः विमनस्कता है ॥ २४ ॥

भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।
उवाच पार्थ पश्यैतान् समवेतान् कुरूनिति ॥२५॥

भीष्मद्रोणौ च परमयुद्धविशारदाविति तत्प्रमुखतः रथं स्थापयित्वा सर्वेषां महीक्षितां राज्ञां च ।

हे पार्थ, समवेतान् मिलितान् कुरूनेतान् पश्येत्युवाच ॥ २५ ॥

भीष्म द्रोण परम युद्धविशारद हैं । उनके तथा सम्पूर्ण राजाओं के समक्ष रथ स्थापित कर हृषीकेश ने अर्जुन से कहा—

हे पार्थ, एकत्रित हुए कुरुओं (कौरवों) को देखो ॥ २५ ॥

तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितृनथपितामहान् ।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातृन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ॥२६॥

एवं भगवदुक्तोऽर्जुनस्तान्दृष्टवानित्याह सार्धेन तत्रेति । तत्र संग्रामाजिरे उभयोः सेनयोरपि मध्ये स्थितानेतानपश्यत् ।[1]

पितृन्[1] पितृव्यान् इत्यर्थः । सखीन् बाल्ये क्रीडायां संमतान् ।

---

१. पितृ तुल्य=भूरिश्रवा आदि । पितामह=भीष्म, सोमदत्त, बाह्लीक । गुरु=द्रोण, कृप । मामा=पुरुजित, कुन्तिभोज. शल्य । पुत्र=प्रतिविन्ध्य घटोत्कचादि । पौत्र=लक्ष्मण के पुत्र । श्वसुर=द्रुपद, शैव्य आदि ।

भगवान् के द्वारा ज्ञापित अर्जुन ने उन्हें देखा, यह सार्धश्लोक से स्पष्ट है। संग्राम भूमि में दोनों सेनाओं के मध्य में स्थित योद्धाओं को अर्जुन ने देखा। उस सेना के मध्य पितृव्य आदि थे। सखीन्=बाल्यावस्था के सखा ॥ २६ ॥

श्वसुरान् सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि।
तान् समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान् बन्धूनवस्थितान्॥२७॥
कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत्।
दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥२८॥
सीदंति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥२९॥

सुहृदो मित्राणि तत्पार्श्वेपि स्थित्वा स्वश्रेयो विचारकांस्तान्दृष्ट्वा किं कृतवान् इत्यत आह।

तानिति। तान् समीक्ष्य कौन्तेयः विषीदन् इदमग्रे वक्ष्यमाणमब्रवीत्। ननु क्षत्रियाणां युद्धोत्सवं दृष्ट्वोत्साह एवोचितोऽर्जुनस्य कथं विषादो जायते इत्यत आह।

कृपया परयाविष्ट इति। परया भक्तिरूपया आविष्टः सर्वभूतेषु यः पश्येदित्यादिरूपया। ननु तथा सति राज्यापगमे लोकरक्षा न भविष्यतीति। तत्रापि सा मे कथमाविर्भूतेत्यत आह।

बंधून् इति। तेपि स्वबांधवा राज्यरक्षणसमर्थाः स्वयं तु भगवच्चरणैकतत्पर इति तथाभूतोऽर्जुनो वाक्यान्याह दृष्ट्वेममिति।

हे कृष्ण! इमं युयुत्सुं योद्धकामं समुपस्थितं सम्यक्प्रकारेणोपस्थितमनिवर्तिनं स्वजनं दृष्ट्वा मम गात्राणि सर्वांगानि सीदन्ति विशीर्यन्ते। मुखं च परितः बाह्याभ्यंतरभेदेनेत्यर्थः वेपथुश्चेति एतत्सर्वं भवति। न शक्नोमि इति अवस्थातुं न च समर्थोऽस्मीति भावः ॥ २७-२८-२९ ॥

सुहृद्=मित्र, उनके पार्श्व में स्थित अपने श्रेय विचारकों को देखकर क्या किया, इसलिये कहा है—तान्...।

उन्हें देखकर अर्जुन दुःखित होकर बोला।

शंका—क्षत्रियों को तो युद्धोत्सव देखकर उत्साह ही करना चाहिये फिर अर्जुन को विषाद क्यों ?

उत्तर—कृपया परयाविष्टः अर्जुन परया=भक्तिरूप कृपा से आविष्ट था। सर्व भूतों में समान दृष्टि रखना ही कृपा है।

शंका—समदृष्टि से या कृपा से राज्य चला जायगा, लोक रक्षा न होगी। कृपा मुझ में आविर्भूत ही क्यों हुई।

अतः कहा है—बधून् इति। वे बांधव भी राज्य रक्षण में समर्थ हैं और अर्जुन स्वयं भगवच्चरण परायण है, अतः वह कहता है—'दृष्ट्वेमम्'

हे कृष्ण, युद्ध कामना से उपस्थित (लौटकर न जाने वाले) स्वजनों को देखकर मेरे अंग (शीर्ण) शिथिल[1] हो रहे हैं। मुँह बाहर-भीतर दोनों ओर से सूख रहा है। कम्प भी हो रहा है। स्थित रहने को समर्थ नहीं हूँ ॥ २७, २८, २९ ॥

गांडीवं स्रंसते हस्तात् त्वक्चैव परिदह्यते ।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥३०॥
निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ।
न च श्रेयोनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥३१॥

किंच। हे केशव दुष्टगुणव्याप्तयोरपि मोक्षदायक विपरीतानि निमित्तानि पश्यामि असमर्थः युद्धं कृत्वा राज्याधिकरणरूपाणि तानि तथा भूतानि सर्वाणि पश्यामि, भगवदीयस्य तथात्वमनुचितमिति भावः। तदेवाह न चेति

१. गांडीव भी छूट रहा है।
यह धनुष पहले ब्रह्माजी के पास १००० वर्ष तक था।
पुनः प्रजापति के पास ४०३ वर्ष "
" इन्द्र के पास ८५ वर्ष "
" चन्द्रमा के पास ५०० वर्ष "
" वरुण के पास १०० वर्ष तक रहा।
पुनः अग्नि ने अर्जुन को खांडवदाह के समय दिलवाया था।
—महाभारत

स्वजनमाहवे संग्रामे हत्वा अनुपश्चात् श्रेयो न पश्यामि, श्रेयो भगवत्कृपात्मिका भक्तिमित्यर्थः । अतएव भगवतोक्तम् ।

तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः ।
न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह ॥ इति ॥ ३०, ३१ ॥

हे केशव, 'दुष्ट गुण व्याप्तों को भी मोक्षदायक' मैं विपरीत निमित्तों को देख रहा हूँ, असमर्थ हूँ। साधकों - भगवदीयों को यह सब अनुचित है।

स्वजनों को संग्राम में मारकर अपना श्रेय नहीं देखता। (श्रेय का अर्थ है भगवत्कृपात्मिका भक्ति।)

भगवान् ने कहा है—मेरी भक्ति से युक्त योगी को, जो मुझ में तन्मय है उसे, ज्ञान और वैराग्य से क्या प्रयोजन ॥ ३०-३१ ॥

न कांक्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ॥३२॥

तद्विनाहं विजयं राज्यं च न कांक्षे । तज्जनितानि सुखान्यपि चकारेण भक्तावपि सुखानि न कांक्षे यतो भगवत्तोषहेतुस्तापएवेतिभावः । पुनर्विस्तरेण तदाकांक्षित्वाभावं प्रपंचयति ।

किंनो राज्येनेति । नः राज्येनं किं भोगैर्वा किं जीवितेन वा किं । हे गोविन्द ! त्वां विना एतैर्न किंचित्प्रयोजनमस्माकमिति भावः ।
गोविदेति संबोधनेन यथा व्रजवासिनां त्वमिन्द्रो भूत्वा सुखभोगं कारितवांस्तथैव भक्तानामुचितमिति भावोज्ञाप्यते ॥ ३२ ॥

उसके बिना मैं विजय और राज्य की आकांक्षा भी नहीं करता और न तज्जनित सुख चाहता हूँ। चकार पद से भक्ति में भी सुख की आकाक्षा नहीं है जिससे भगवत्तोष हेतु ताप ही हो, यह भाव है।

विस्तार से कांक्षा के अभाव का विस्तार है।

'किं नो राज्येन' पद से मुझे राज्य से क्या और भोगों से तथा जीवन से भी क्या प्रयोजन ! हे गोविद, तुम्हारे बिना इनसे मुझे कोई प्रयोजन नहीं है।

गोविन्द संबोधन से जैसे व्रजवासियों के आप इन्द्र बनकर उन्हें सुखदाई बने उसी प्रकार भक्तों को भी सुख-प्रदानकारी बनें, यह भाव ज्ञापित है ।। ३२ ।।

येषामर्थे कांक्षितन्नो राज्यं भोगाः सुखानि च ।
त इमेवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥३३॥

ननु तवैकस्य नाकांक्षा तथापि स्वकीय संबंधिनां सर्वेषामर्थे शत्रून्मारयित्वा राज्यं स्वकीयं कुर्वित्याशंकायामाह येषामर्थ इति ।

येषामर्थे नः राज्यमवांक्षितं भोगाः सुखानि च कांक्षितानि ते सर्वे इमे प्राणान् धनानि च त्यक्त्वा युद्धे संग्रामे मरणार्थमवस्थिता इत्यर्थः । तस्मादेतन्मारणे न लौकिकसिद्धिरपि नास्माकमिति भावः ॥ ३३ ॥

शंका—यदि तुम्हारी (अर्जुन की) अकेले की आकांक्षा नहीं है फिर भी स्वकीय बांधवों के लिये तो शत्रुओं को मारकर राज्य को अपना बनाओ ।

इसका समाधान है 'येषामर्थे' । जिनके लिये मैंने राज्य की कांक्षा की, भोग और सुखों की आकांक्षा की, वे सब प्राण और धन का परित्याग कर संग्राम में मृत्यु का वरण करने के लिये आये हैं । इसीलिये इनके मारने से भी हमारी लौकिक सिद्धि नहीं होगी ॥ ३३ ॥

आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः संबंधिनस्तथा ॥३४॥

तान् सर्वान्नामभिर्गणयति आचार्या इति एते राज्यभोगेनियुक्तास्ते त्वत्र मरणार्थमुपस्थितास्तन्मारणानंतरं स्वस्यानपेक्षितत्वात् राज्यभोगसुखादिभिर्न किंचित्कार्यमित्यर्थः ॥ ३४ ॥

स्वकीयों का नाम निर्देशपूर्वक उल्लेख किया गया है 'आचार्याः' आदि द्वारा । जिन सब स्वकीयों के लिये राज्य भोग के लिये नियुक्त किया था वे तो यहाँ मरण के लिये उपस्थित है । इसलिये उन्हें मारने के अनन्तर अपनी क्या अपेक्षा है अर्थात् राज्य-सुख भोगादि से फिर कोई प्रयोजन नहीं रहता ॥ ३४ ॥

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोपि मधुसूदन ।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥३५॥

ननु त्वत्संबंधिनोपि ये युद्धार्थमुपस्थितस्तांश्चेत्त्वं न मारयिष्यसि तदा त एव त्वां मारयिष्यंतीति चेत्तत्राह एतानिति ।

हे मधुसूदन मां घ्नतोपि एतानहं हंतुं नेच्छामि । मधुसूदनेति संबोधनेन त्वत्सहायवन्तं । मामेते मारयितुमेव न समर्था इति ज्ञाप्यते ।

त्रैलोक्यराज्यस्यापि हेतोस्तथाकर्तुं नेच्छामि । किं पुनः महीकृते तथा करिष्यामि ॥ ३५ ॥

शंका—यदि तुम इन उपस्थित संबंधियों को न मारोगे तो ये तुमको मार डालेंगे । अतः कहा है 'एतान्' आदि ।

हे मधुसूदन, यदि ये मुझे मार डालेंगे तब भी मैं इन्हें न मारूँगा ।

मधुसूदन कहने का भाव यह है कि आप मेरे सहायक हैं । अतः ये मुझे मार भी नहीं सकते ।

तीनों लोकों के राज्य के लिये भी मैं वैसा नहीं कर सकता, फिर केवल पृथ्वी के राज्य की कामना कैसे ? ॥ ३५ ॥

निहत्य धार्त्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ।
पापमेवाश्रयेदस्मान् हत्वैतानाततायिनः ॥३६॥

हे जनार्दन सर्वाविद्यानाशक धार्तराष्ट्रान् ज्ञानदृष्टिरहितानेतान् निहत्य नः का प्रीतिः स्यात् । न कापीत्यर्थः ।

जनार्दनेति संबोधनेन त्वदीयानामस्माकं तथाकरणमनुचितमिति भावो व्यंजितः । ते तु धृतराष्ट्रात्मजा इति त्वां न पश्यन्ति । तेन तेषां तथाकरणमुचितमिति धार्त्तराष्ट्रेति पदेन व्यंजितम् ।

यद्वा । अस्मदीयान् धार्त्तराष्ट्रान्निहत्य तव का प्रीतिःस्यात् अतःयं भावः ।

लौकिकभावेन ते त्वस्मदीया एव । तन्मारणे नास्माकं तु प्रीतिस्यात्तदा त्वत् प्रीत्यर्थं हन्तव्याः । अस्मांकं यथाकथंचित् त्वं प्रीणनीय इति भावः । ननुते आततायिन इति ।

अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः ।
क्षेत्रदारापहर्त्ता च षडेतेह्याततायिनः ॥
आततायिनमायांतं हन्यादेवाविचारयन् ।
आततायिवधे दोषो हंतुर्भवति कश्चन ॥

इत्यादिवाक्यैः प्रीतिर्भवतु मा वा सर्वथैतेह्युक्त सर्वदोषसहिता इति हंतव्या एव ते तु स्वपापेनैव हंतव्यास्त्वं निमित्तमात्रं भवेति चेत्तत्राह ।

पापमेवाश्रयेदिति । आततायिन एतान् हत्वा पापमस्मानेवाश्रयेत् । किंच । आततायि मारणे दोषाभावस्तु धर्मशास्त्रविचारेणार्थशास्त्रविचारेण वा निरूपितो न तु भक्तिविचारेण । भक्तिमार्गात्तु तयोर्दुर्बलत्वात्तन्मारणे-नास्माकं पापमेव भवेत् । पापाच्च भगवत्संबंधो न स्यादतएव 'नराणां क्षीण-पापानाम्' इति निरूपितम् ।। ३६ ।।

हे जनार्दन=सर्व अविद्या नाशक, धृतराष्ट्र के ज्ञान दृष्टि रहित पुत्रों को मार कर हमें क्या प्रसन्नता होगी अर्थात् कुछ भी नहीं ।

जनार्दन संबोधन का आशय है कि तुम्हारे व्यक्तियों को इस प्रकार करना भी उचित नहीं है । वे धृतराष्ट्र पुत्र है, अर्थात् वे आपको नहीं देखते । अतः उनका व्यवहार तो ठीक है, यह धृतराष्ट्र पद से व्यंजित है । अथवा धृतराष्ट्र पुत्र हमारे ही हैं, इन्हें मारकर तुम्हें क्या प्रीति होगी । लौकिक भाव से तो वे भी हमारे ही हैं । उनके मारने से हमें कोई प्रीति नहीं, हम तो तुम्हारी प्रीति के लिये उन्हें मारना चाहते हैं । हमें तो किसी न किसी प्रकार तुम्हें प्रसन्न करना है ।

यदि यह कहें कि धृतराष्ट्र आततायी है[1] और आततायी को मार डालना चाहिये । आततायी को मारने वाले को कोई पाप नहीं ।

आततायी की परिभाषा—अग्नि लगाने वाले, विष देने वाले, शस्त्रधारी, धनापहरण करने वाले, क्षेत्र (भूमि) व स्त्री का अपहरण करने वाले व्यक्ति आततायी कहलाते हैं ।

कौरव सर्व दोष सहित हैं, अतः इनका वध उचित ही है । वे अपने पाप के कारण ही स्वयं नष्ट होने योग्य हैं । अर्जुन, तुम निमित्त मात्र हो यह आगे कहा है—"पापमेवाश्रयेत्' आदि से

इन आततायियों को मारकर हमें पाप ही लगेगा । आततायियों का वध करने में धर्मशास्त्र तथा अर्थशास्त्र के विचार से दोषाभाव है, किन्तु भक्ति के विचार से नहीं है । धर्मशास्त्र-अर्थशास्त्र भक्ति मार्ग से दुर्बल हैं । अतः इनके मारने से हमें पाप ही लगेगा । पाप से भगवत् संबंध न होगा । तभी तो 'क्षीण पाप होने वाले मनुष्यों का' लिखा है । ।। ३६ ।।

---

१. वशिष्ठ स्मृति में इसकी परिभाषा है ।

मनुस्मृति ८।३५० में आततायी को मारने का आदेश भी है ।

तस्मान्नार्हा वयं हंतुं धार्त्तराष्ट्रान् स्वबांधवान् ।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥३७॥

तस्माद्वयं स्वकीयत्वादेनन्मारणानर्हा इत्याह तस्मादिति । तस्माद्वय स्वबांधवान्धार्त्तराष्ट्रान् हंतुं नार्हा न योग्या इत्यर्थः ।

हे माधव स्वजनं हत्वा कथं सुखिनः स्याम, सुखिनो भविष्याम इत्यर्थः ।

वयमित्युक्त्या भगवतः स्वमध्यपातित्वमुक्तम् । तेनास्माकं त्वत्संग एव सुखरूपस्त्वमेवास्माकं स्वजन इति ज्ञापितम् । तस्मात्स्वजनापराधात् स्वजननाशः स्यादस्माकं च त्वमेव स्वजन इति । त्वत्संबंधाभावे वयं कथं सुखिनो भविष्याम इति व्यंजितम् ।

माधवेति संबोधनेनास्माकं न लक्ष्म्याऽपेक्षितेति ज्ञापितम् ॥३७॥

दोनों ही तुम्हारे हैं तब मारना कैसे उचित है अतः कहा है 'तस्मात्' । स्वकीय बांधवों का वध उचित नहीं है ।

हे माधव, स्वजनों को मारकर हम कैसे सुखी रहेंगे । 'वयम्' की उक्ति में भगवान् का स्वमध्यपातित्व कहा है । स्वजन पद से तुम्हारा संग ही सुखदायी है, यह ज्ञापित है । अतः स्वजन अपराध से स्वजन नाश हो जब कि हमारे आप ही स्वजन हैं । तुम्हारे संबंध के अभाव से हम कैसे सुखी बनें, यह व्यङ्ग्य है । माधव पद से लक्ष्मी की अपेक्षा भी हमें नहीं है ॥३७॥

यद्यप्येते न पश्यंति लोभोपहतचेतसः ।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥३८॥

ननु ये स्वजनत्वादिवधदोषमविचार्यप्रवृत्तास्ते निवृत्तमपि त्वां हनिष्यंत्यतस्त्वमप्यविचार्यैवतान्मारयेत्याशंक्याह यद्यप्येते इति द्वाभ्याम् । लोभेन उपहतं विभ्रंशितं चेतः मनो येषां ते एते धार्त्तराष्ट्राः कुलक्षयकृतं कुलक्षयकरणं दोषं यद्यपि न पश्यंति मित्रद्रोहे च यत्पातकं तन्नपश्यंति तथापि पातकं तु भविष्यत्येवेत्यर्थः ॥३८॥

शंका — जो स्वजनत्वादि दोष का बिना विचार किये ही युद्ध में प्रवृत्त हुए हैं वे तुम्हारे निवृत्त हो जाने पर भी तुम्हें मार डालेंगे, अतः तुम बिना विचार किये ही इन्हें मारो ।

इसका समाधान 'यद्यप्येते' आदि से किया गया है।

लोभ से जिनका चित्त नष्ट हो गया है, ऐसे धृतराष्ट्र के ये पुत्र कुलक्षीण-कर्त्ता दोष को न देखते हुए मित्रद्रोह के पातक को भी नहीं देख रहे, फिर भी पातक तो लगेगा ही ॥३८॥

कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्त्तितुम ।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यदभिर्जनार्दन ॥ ३९ ॥

हे जनार्दन, अविद्यानाशक त्वत्स्वरूपविद्भिः कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिरस्माभिर्लोभानुपहत चितैरस्मात्पापान्निवर्तितुं कथं न ज्ञेयम् । ज्ञेयमेवेत्यर्थः ॥३९॥

हे जनार्दन=अविद्यानाशक, आपके स्वरूप को जानने वाले लोभ से दूर हम लोगों द्वारा कुलक्षयकृत दोष को देखना ही चाहिये ॥३९॥

कुलक्षये प्रणश्यंति कुलधर्माः सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोभिभवत्युत ॥४०॥

एवमुक्त्वा कदाचिल्लौकिकस्नेहवशादेव निवृत्तो न तु पापस्वरूप-ज्ञानादधर्मबुद्धय‍ेत्याशंक्य कुलक्षयकृतं दोषमनुवदति ।

कुलक्षय इति पंचभिः सनातनाः प्राचीनाः परंपराप्राप्ताः कुलक्षय कृते जाते वा प्रणश्यंति प्रकर्षेण नश्यंति पुनरुदयाभावः प्रकर्षः । तस्माद्यं पार्थाः पृथासंबंधेन त्वयांगीकृता इत्यस्माकं परंपरागतो धर्मस्त्वद्भक्तिस्तन्नाश-कपापादस्माकं विनिवृत्तिरेवोचितेति भावः ।

नन्विदानीं धर्मनाशेप्यग्रे प्रह्लादादिवत्कुले कोपि भक्तो भवेच्चेत्तदा धर्मः पुनरुद्भविष्यति तस्माच्छौर्यक्षात्रधर्मनाशकत्वेन युद्धकरणमेवोचित-मित्यत आह ।

धर्मे नष्ट इति । उत कृत्स्नमवशिष्टमपि कुलं धर्मे नष्टे सति अधर्मो-भिभवति व्याप्नोतीत्यर्थः ॥४०॥

कदाचित्—लौकिक स्नेह वश से ही निवृत्त हुए हो, पाप स्वरूप ज्ञान से—अधर्म बुद्धि से नहीं, इस आशंका के लिये आगे कहा है—'कुलक्षयकृतम्' ।

प्राचीन परंपरा का विनाश कुलक्षय हो जाने पर होगा, अतः हमें पृथा के

संबंध से आपने अंगीकार किया है। यही हमारा परंपरागत धर्म—तुम्हारी भक्ति है। भक्ति नाशक पाप से हमारी निवृत्ति ही श्रेष्ठ है।

शंका—यदि इस समय धर्मनाश होने पर भी आगे प्रह्लाद आदि की भाँति कुल में कोई भक्त होगा तब धर्म का पुनः उद्भव हो जायगा। इसलिये शौर्य क्षात्रधर्म के रक्षण से युद्धकरण ही उचित है, इसका उत्तर देते हुए कहा है—'धर्मनष्टे'। धर्म के नष्ट होने पर अवशिष्ट कुल भी अधर्ममय होगा।।४०।।

अधर्माभिभवात् कृष्ण प्रदुष्यंति कुलस्त्रियः।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः ।।४१।।

तेनाग्रेपि कोपि तथा न भवतीत्याह अधर्माभिभवादिति। अधर्माभिभवादधर्मव्याप्ताः कुलस्त्रियः प्रदुष्यति व्यभिचारादिदोषयुक्ता भवंतीत्यर्थः। स्त्रीषु दुष्टासु जातासु वर्णसंकरो जायते। वार्ष्णेयेति संबोधने सत्कुलोत्पन्नानां तथात्वं कुलेनुचितमिति ज्ञापितम् ।।४१।।

और आगे भी कोई धार्मिक न होगा। अधर्म से व्याप्त कुलस्त्रियाँ व्यभिचारादि दोषों से युक्त होती हैं। स्त्रियों के दुष्ट होने पर वर्णसंकर सृष्टि होती है।

'वार्ष्णेय' पद के संबोधन से सत्कुल में उत्पन्नों का उस प्रकार का होना अनुचित है ।।४१।।

संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च।
पतन्ति पितरोह्येषां लुप्तपिंडोदकक्रियाः ।।४२।।

संकराच्च नरक एव स्यादित्याह संकर इति। संकरः कुलस्य नरकायैव भवति। एत्र कारेण पापभोगानंतरं नरकोद्धरणाद्यभावो ज्ञापितः। कुलघ्नानामेषां पितरश्च पतन्ति स्वधर्मोपार्जिताजादिलोकेभ्यः। हीति युक्तश्चायमर्थः। यतो लुप्तपिंडोदकक्रियाः लुप्ताः पिंडोदकाः क्रिया येषाम् ।।४२।।

संकरता कुल को नरक में डालती है।[1]

---

१. शुद्ध सन्तान के द्वारा दिया गया पिण्डदान-जलदान ही पितरों को स्वर्गादि में मिलता है, इससे मृतक के श्राद्धकर्म की भी पुष्टि हुई। अथर्ववेद के ये निखाता ये परोप्ता ये दग्धाः ।१८।२।३४। मंत्र में इसकी पुष्टि है। याज्ञवल्क्य आचाराध्याय २६९-२७० में भी स्पष्ट है।

एव पद का भाव है कि पाप भोग के पश्चात् नरक से भी उद्धार नहीं। कुलघ्नों के पितर भी स्वधर्मोपार्जित लोकों से गिर जाते हैं।

हि=यह युक्त ही है, क्योंकि उनकी पिण्ड-उदक क्रिया भी तो लुप्त हो जाती है ॥४२॥

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकर कारकैः।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥४३॥

किं च कुलघ्नानां तु नरको भवत्येवात्र किं वाच्यम् यतस्तत्संबंधात्सर्वत्रैव भूमौ धर्मनाशो भवतीत्याह। दोषैरेतैरिति। दोषैरेतैर्वर्ण संकरकारकैरेतैः कुलघ्नानां दोषैर्जातिधर्माः शाश्वताः कुलधर्मा उत्साद्यन्ते लुप्यन्त इत्यर्थः चकारेणाश्रमादिधर्माश्च परिगृह्यन्ते ॥४३॥

यदि यह कहा जाय कि कुलघ्नों को तो नरक होगा ही क्योंकि उनके सम्बन्ध से भूमि पर धर्म नाश होगा ही। अतः कहा है 'दोषैरेतैः'।

वर्णसंकर कारक दोषों से कुलघ्नों के दोषों से जाति धर्म लुप्त हो जाते हैं और आश्रम धर्म भी नष्ट हो जाते हैं ॥४३॥

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन।
नरके नियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥४४॥

एवं सर्वधर्मलोपात्सर्वेषां नरकलोको भवतीत्याह उत्सन्नकुलधर्माणामिति।

हे जनार्दन, उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां नियतं नरके वासो भवतीति वयमनुशुश्रुम श्रुतवंत इत्यर्थः।

जनार्दनेति संबोधनेन त्वत्संबंधरहितास्तथा भवंति। अविद्यासंबंधादिति ज्ञापितम् ॥४४॥

इस प्रकार सर्व धर्म लोप से नरक लोक होता है। हे जनार्दन! जिनके कुल धर्म नष्ट हो जाते हैं उनकी नरक स्थिति निश्चित है ऐसा हमने सुना है।

जनार्दन पद का आशय है कि तुम्हारे संबंध से रहितों की ही अविद्या सम्बन्ध से यह दशा है ॥४४॥

अहोबत महत् पापं कर्त्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद्राज्य सुख लोभेन हंतुं स्वजनमुद्यताः ॥४५॥

नन्वेतादृशी बुद्धिश्चेत्तदापूर्वं कथं युद्धव्यवसायः कृत इत्याशंक्य पूर्वमज्ञानात्कृतमितिपश्चात्तापं करोति । अहोबतेति । बत इति खेदे । वयं महत्पापं कर्त्तुं व्यवसिता अध्यवसायं कृतवन्त इत्यर्थः ।

पापस्वरूपमेवाह । यद्राज्येति । यद्यस्मात्कारणद्राज्य सुख लोभेन स्वजनं हन्तुमुद्यता उद्यमं कृतवन्त इत्यर्थः ।

अहो इत्याश्चर्यम् । यतो राज्यसुखं तु स्वजनैः सहैव स्वजनार्थं वा तानेवहन्तुमुद्यता इत्याश्चर्यम् । ननु त्वं चेन्न ॥४५॥

यदि ऐसी बुद्धि है तो अर्जुन तुमने पहले युद्ध क्यों किया था ? इस पर अर्जुन का कथन है कि वह अज्ञान से किया था । अतः वह पश्चात्ताप करता है । 'बत' शब्द खेदवाची है—

हमने पाप करने का निश्चय किया, यह बड़े खेद की बात है जो राज्य सुख के लोभ से स्वजनों को मारने का उद्यम किया ।

अहो=आश्चर्य । क्यों कि राज्य सुख तो स्वजनों के लिये है, उन्हें ही हम मारना चाहते हैं ॥४५॥

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥४६॥

हनिष्यसि तदेते त्वां हनिष्यंत्येवेति चेत्तत्राह यदिमामिति । धार्त्तराष्ट्रा अंधापत्यानि यदि वा अप्रतीकारं अकृतप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्ररहितं मा शस्त्रपाणयः सन्तो हन्युः हनिष्यन्ति तन्मे क्षेमतरं भवेत् । कल्याणरूपं भवेदित्यर्थः ।

पूर्वकृतव्यवसायप्रायश्चित्तरूपं भवेदित्यर्थः । अजिघांसतं मां हनिष्यंति चेत्तदा क्षेमरूपं भवेत् तव सन्निधौ मरणे च क्षेमतरं भवेत् । इति भावः ॥४६॥

यदि तुम उन्हें न मारोगे तो वे ही तुम्हें मारेंगे। इस पर अर्जुन का कथन है—कि धृतराष्ट्र के पुत्र अन्धे, प्रतीकार न करनेवाले शस्त्र रहित को शस्त्र लेकर मारेंगे तो मेरा कल्याण ही होगा।

पूर्वकृत व्यवसाय का यह प्रायश्चित्त रूप होगा। न मारने पर भी मारेंगे तो मेरा कल्याण होगा ही क्योंकि आपकी उपस्थिति में मरण होगा ॥४६॥

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्न मानसः ॥४७॥

ततः किं कृतवानित्यपेक्षायां संजय आह। एवमुक्त्वा अर्जुनः संख्ये संग्रामे रथोपस्थे रथोपरि स्थितः भक्त्यंतरायत्वेन युद्धोपक्रान्ति राज्याना-कांक्षणेपि भगवदनुत्तरे भक्तिज्ञानार्थं शोकसंविग्नमानसोभूत्वा सशरं चापं विसृज्य उप समीपे भगवत आविशत् स्थित इत्यर्थः ॥४७॥

तब क्या किया यह प्रश्न धृतराष्ट्र का था। संजय ने कहा कि—इस प्रकार अर्जुन संग्राम में रथ के ऊपर स्थित होने पर भी भक्ति में विघ्न रूप युद्ध को देखकर राज्य की अनाकांक्षा में भी भगवान् का उत्तर न पाकर भक्ति ज्ञान के लिये शोक सविग्न वाला धनुषबाण छोड़कर भगवान् के समीप स्थित हो गया ॥४७॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे अर्जुनविषादयोगो नाम प्रथमोऽध्यायः ॥१॥

एवमस्मिन्नध्यायेऽर्जुनस्य विषादे लोकशास्त्रातिक्रमो हेतुत्वेनोक्तः। न चार्त्ताधिकारस्याग्रिमाध्यायारंभ एव सिद्धेरस्याध्यायस्य किं प्रयोजनमिति शंक्यं कृपावेशबोधनार्थत्वेन स प्रयोजनत्वात्।

अतएव पाद्मे गीतामाहात्म्ये
'तस्मादध्यायमाद्यं यः पठेच्चः संस्मरेत्तथा।
अभ्यासादस्य न भवेद्भवांभोधि सुदुस्तर ॥' इति

फलमुक्तं तस्मादुपोद्घातः संगतिः ।

इति श्रीमद्भगवद्गीता टीकायां गीतामृततरंगिण्यां
प्रथमोऽध्यायः ॥१॥

इस अध्याय में अर्जुन के विषाद में लोकशास्त्र का अतिक्रमण हेतुपूर्वक कहा गया है।

यह शंका भी उचित नहीं कि आर्त्ताधिकार की अग्रिमाध्याय के आरंभ में ही सिद्धि है अतः इस अध्याय का प्रयोजन ही क्या ? कृपा के संबोधन के लिये यह अध्याय सप्रयोजन है। तभी तो पद्मपुराण के गीतामाहात्म्य में लिखा है कि 'जो व्यक्ति प्रथम अध्याय का पाठ करता है, स्मरण करता है, अभ्यास करता है, उसे संसारसमुद्र पार करना कठिन नहीं है।' यह फल है और इसी से उपोद्घात की संगति है।

इति श्रीमद्भगवद्गीतायां गीतामृततरंगिण्यां श्रीवरी हिन्दीटीकायां प्रथमोऽध्यायः ॥१॥

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

संजय उवाच

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।
विषीदंतमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥१॥

शोकसागरसंमग्नं पार्थं स्वीयत्वभावतः ।
कृष्णः स्वसांख्ययोगाभ्यामुज्जहार दयापरः ॥

पूर्वाध्याये शोकसंविग्नमानसोऽर्जुनः सशरं चापमुत्सृज्योपाविशदित्युक्तम् । ततः किं जातमित्याकांक्षायां संजय आह ।

तं तथेति । तमर्जुनाविष्टं स्वस्मिन् अश्रुभिः पूर्ण आकुले ईक्षणे यस्य तं तथा विषीदंतं पूर्वोक्तप्रकारेण खिद्यंतं मधुसूदनः सर्वमारणसमर्थः कृपया इदं वाक्यं अग्रे उच्यमानमुवाच ॥१॥

मंगलाचरण

शोक सागर में डूबे हुए अर्जुन को स्वीयत्व भाव से सांख्य योग[1] का उपदेश देकर कृष्ण ने दया पूर्वक उसका उद्धार किया ।

पूर्वाध्याय में यह कहा है कि शोक संविग्न मानस अर्जुन धनुषवाण को परित्याग कर बैठ गया ।

फिर संजय कहता है कि अर्जुन को अश्रुपूर्ण नेत्र सहित तथा परम खिन्न देखकर सर्व मारण समर्थ ने कृपा पूर्वक कहा ॥१॥

---

१. इस अध्याय में उपदेश का आरम्भ सांख्य योग से हुआ है । यद्यपि ३० वें श्लोक में आत्मतत्त्व का निरूपण है तदनन्तर स्वधर्म वर्णन और कर्म योग का वर्णन भी है ।

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥२॥

भगवद्वाक्यमेवाह कुतस्त्वामिति ।

विषमे असमये अयं युद्धोत्साहसमयो न तु दयाया इत्यस्मिन्समये हे अर्जुन त्वामिदं कश्मलं कुतः समुपस्थितम् । अयं तव मोहः कुतः प्राप्तः । स्वेच्छाज्ञानादस्य कश्मलत्वमुक्तं भगवता । कश्मलं विशिनष्टि विशेषणत्रयेण । अनार्यजुष्टं न विद्यते आर्यत्वं येषु तैः सेवितं अस्वर्ग्यं न विद्यते स्वर्गो यस्मात्तेन धर्मप्रतिपक्षतोक्ता अकीर्तिकरं कीर्तिनाशकं तेन क्षात्रधर्मनाशकत्वेन कुलधर्मप्रतिपक्षकत्वमुक्तम् ॥२॥

हे अर्जुन ! युद्ध में उत्साह के समय तुम्हें दया का यह भाव कैसे उपस्थित हुआ । अर्थात् असमय में यह मोह क्यों ?

कश्मल को तीन विशेषण दिये हैं—

अनार्यजुष्ट=जिनमें आर्यधर्मता नहीं, उनके द्वारा सेवित है ।

अस्वर्ग्यम्=जिससे स्वर्ग प्राप्ति भी नहीं होती, अतः धर्म प्रतिपक्षी है ।

अकीर्तिकरम्=कीर्ति नाशक है । क्षात्रधर्म नाशक होने से कुल धर्म प्रतिपक्षी है ॥२॥

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ॥३॥

अयं धर्मस्तव नोचित इत्याह । हे पार्थ क्षत्रियकुलोद्भव क्लैब्यं नपुंसकधर्मकातर्यं मा स्म गमः मा प्राप्नुहि । एतत् त्वयि न उपपद्यते । क्षुद्रं तुच्छं अक्षुद्रे न स्यात् ।

हे परंतप शत्रुतापन ! हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वा उत्तिष्ठ, सावधानो भव युद्धायेति शेषः ॥३॥

यह धर्म तुझे उचित नहीं, अतः भगवान् ने कहा, हे पार्थ=क्षत्रिय कुलोत्पन्न, नपुंसक धर्म (कातर भाव) को प्राप्त मत हो।

तुच्छत्व अक्षुद्र में नहीं होता। हे शत्रुतापन! हृदय की दुर्बलता को त्यागकर युद्ध को उठ ॥३॥

अर्जुन उवाच

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥४॥

एवमुत्तोलकभगवद्वाक्यं श्रुत्वा अहं कातर्येण युद्धान्नापक्रान्तः किंतु धर्मबुद्धयेत्यर्जुनो भगवंतं विज्ञापयामास कथमित्यादिषड्भिः। हे मधुसूदन, मधुदैत्यमारणेन मथुरास्थापनेन भक्तपरिपालक अहं संख्ये संग्रामे भीष्मं द्रोणं च इषुभिश्शरैः कथं प्रतियोत्स्यामि प्रतिकूलतया योत्स्यामीत्यर्थः। भीष्मस्य भक्तत्वान्मारणमनुचितं द्रोणस्यापि गुरुत्वात्तथेति द्रोणं चेत्यनेन ज्ञापितम्।

भीष्मद्रोणौ च पूजार्हौ पूर्वोक्तप्रकारेण। हे अरिसूदन, शत्रुमारक अनेन संबोधनेनैतौ भक्तद्विजौ न तु शत्रू ततः कथं मारणार्थं मां प्रवर्त्तयसीति ज्ञापितम् ॥४॥

इस प्रकार उत्तेजक भगवद्वाक्य सुनकर अर्जुन ने कहा—

मैं भय के कारण युद्ध से नहीं हट रहा हूं अपितु धर्मबुद्धि से। अपने इस अभिप्राय को वह इन छह श्लोकों में व्यक्त कर रहा है।

हे मधुसूदन=दैत्य को मारने वाले या मथुरा स्थापन करने वाले, भक्ति के पालक, मैं इस संग्राम में भीष्म पितामह, द्रोणाचार्य को बाणों से किस प्रकार मारूंगा।

भीष्म को मारना तो भक्त होने के कारण अनुचित है और द्रोण वध आचार्य होने के कारण अनुचित है। ये दोनों पूजा योग्य हैं।

हे अरिसूदन=शत्रु मारक, ये दोनों भक्त और द्विज हैं, शत्रु नहीं। तब मुझे इनके वध में क्यों प्रवृत्त कर रहे हो ॥४॥

गुरूनहत्वा हि महानुभावान्
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके ।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव
भुंजीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान्।।५।।

गुरूणां मारणाद्भिक्षाटनं श्रेयो न तु तन्मारणेन राज्यभोग इत्याह ।

गुरूनिति ।। गुरून्भीष्मद्रोणादीन् अहत्वा इहलोके भैक्षं भिक्षान्नमपि भोक्तुं श्रेय: श्रेयोरूपमित्यर्थः यतस्ते महानुभावाः । महतो भगवतोऽनुभावका इत्यर्थः । इहलोके तथा भोगेन परलोके सुखं स्यादितीहलोकपदेन ज्ञापितम् । एतेषां मारणेन तु परलोक एव दुःखं भविष्यतीति न किंत्विह लोक एव नरकादिसमं दुःखं भविष्यतीत्याह । हत्वेति । अर्थकामान् अर्थात्मिकान् गुरून् हत्वा तु इहैव रुधिरप्रदिग्धान् रुधिरावलिप्तान् भुंजीय अश्नीयाम् ।।५।।

गुरुओं के वध की अपेक्षा तो भिक्षा मांगना उचित है। उनको मारकर राज्य का भोग करना उचित नहीं है। तभी कहता है 'गुरून्'।

गुरु भीष्म-द्रोणादि को न मारकर इस लोक में भिक्षा के अन्न से जीवन निर्वाह करना भी श्रेयस्कर है क्योंकि ये महानुभाव हैं। भगवान् के अनुभावक हैं।

इनके मारने से इस लोक में दुःख न होगा, दुःख होगा परलोक में ऐसा नहीं है। इस लोक में भी नरकादि के समान दुःख होगा। अर्थात्मिक गुरु वध द्वारा तो यहाँ ही रुधिर से लिप्त भोग भोगूँगा ।।५।।

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ।
यानेव हत्वा न जिजीविषाम-
स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्त्तराष्ट्राः ।।६।।

किं च। अधर्माङ्गीकारेणापि तथाकर्त्तव्यं यद्यस्मज्जय एवेत्यस्माकं हि तज्ज्ञानं निश्चितं स्यादित्याह।

न चैतदिति। वयमेतच्च न विद्म: यद् द्वयोर्मध्ये कतरत् नोऽस्माकं गरीय: श्रेष्ठमधिकं भवति यद्वयं तान् जयेम यदि वा एते नोऽस्मान् जयेयु: जेष्यंति अस्मद्विचारेण त्वस्माकं जयादपि तेषामेव जयो गरीयस्त्वेन भातीत्याह। यानेवेति यान् हत्वा वयं न जिजीविषामो न तु जीवितुमिच्छामस्त एवैते धार्त्तराष्ट्रा: पितृव्यजा भ्रातर:। प्रमुखे युद्धार्थमवस्थिता: अत एतान् हत्वा किं करिष्याम इत्यर्थ: ॥६॥

अधर्म को अंगीकार करने से भी वैसा करना उचित है यदि हमारी जय हो, किन्तु यह तो निश्चित नहीं है।

हम यह भी नहीं जानते कि दोनों में हम श्रेष्ठ हैं, क्योंकि जिन्हें मारकर हम जीवन की भी इच्छा नहीं करते वे ही धृतराष्ट्र के पुत्र हमारे चचेरे भाई युद्धार्थ उपस्थित हैं। अतः इन्हें मारकर भी हम क्या करेंगे ॥६॥

कार्पण्यदोषोपहतस्वभाव:
पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेता:।
यच्छ्रेय: स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥७॥

एवं स्वविचारमुक्त्वा तस्य दोषरूपतां वदन् भगवदाज्ञां करिष्यमाण आह कार्पण्यदोषोपहतस्वभाव इति। कार्पण्यं बंधुमारणानुचितज्ञानरूपं तद्रूपो यो दोषस्तेन उपहत: स्वभाव: क्षात्र: शौर्यादिरूपो यस्य तादृशस्त्वां पृच्छामि ननु उपहतस्वभावस्य विकलस्य किं प्रश्नेनेत्यत आह धर्मसंमूढचेता इति धर्मे धर्मज्ञानार्थं संमूढं चेतो यस्य स:। एतन्मारणे त्वं प्रसन्न: किं वा अमारणे एतन्मध्येऽन्यद्वा यच्छ्रेय: श्रेयो रूपं त्वत्प्रसादरूपं स्यात्तन्मे निश्चितं ब्रूहि अहं ते शिष्यो न तु मित्रमतस्त्वां प्रपन्नं शरणागतं धर्मजिज्ञासया मां त्वं शाधि शिक्षय ॥७॥

इस प्रकार अर्जुन ने अपने विचार और दोषरूपता का निरूपण करके भी भगवदाज्ञा मानने का संकल्प व्यक्त किया—'कार्पण्य' आदि द्वारा। बंधुमारणानुचित ज्ञान रूप जो दोष है उससे क्षात्र शौर्यादि रूप नष्ट स्वभाव वाला मैं तुमसे पूछता हूँ।

यदि यह शंका करें कि उपहत स्वभाव=विकल का प्रश्न कैसा ? अतः कहता है—धर्मज्ञान के लिये मेरा चित्त मूढ़ है। इनके मारने में आप प्रसन्न हैं या बचाने में—इसमें जो श्रेय हो, तुम्हारा प्रसाद रूप हो, वह मुझे निश्चित रूप से कहिये। मैं तुम्हारा मित्र नहीं, शिष्य हूँ। अतः तुम्हारी शरण में हूँ, धर्म जिज्ञासु हूँ, शिक्षा दीजिये ॥७॥

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्या-
द्यच्छोकमुच्छोषणमिंद्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं
राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥८॥

ननु मित्रत्वाच्छरणागतत्वाच्च यथेच्छा तव भवति तथैव मया कर्त्तव्यमिति चेत्तत्राह न हीति भूमौ असपत्नमद्वितीयं शुद्धं सर्वविभूतिमद्राज्यमवाप्य प्राप्यापरत्र सुराणामाधिपत्यमिन्द्रैश्वर्यमपि प्राप्य इन्द्रियाणामुच्छोषणमतिशोषणकरमभिलाषपूरकं किमपि नास्त्यतो यन्मच्छोकमपनुद्यादपनयेत् तदहं न प्रपश्यामि। अतः किं विज्ञापयामीतिभावः।

हीति युक्तश्चायमर्थो यतो दुरापूराणीन्द्रियाणि ॥८॥

शंका—मित्र होने के नाते, शरणागत होने के नाते, जैसी तुम्हारी इच्छा, मैं वैसा ही करूँगा।

पृथ्वी पर शत्रुरहित सम्पूर्ण वैभव युक्त अद्वितीय राज्य को भी पाकर तथा सुरों का आधिपत्य भी प्राप्त कर इन्द्र का ऐश्वर्य पाकर भी इन्द्रियों की अभिलाषा पूर्ति संभव नहीं है। मैं ऐसी वस्तु नहीं देखता जो मेरे शोक को दूर करे अतः क्या विज्ञापित करूँ कि इन्द्रियों की तृप्ति अति कठिन है ॥८॥

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतपः ।
न योत्स्य इति गोविंदमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥९॥

एवमुक्त्वार्जुनः किं कृतवानित्यत आह एवमुक्त्वेति । गुणाकेशोऽर्जुनः हृषीकेशं तथेंद्रियप्रेरकमेवमुक्त्वा पूर्वोक्तप्रकारमुक्त्वा गोविंदं भक्तपरिपालकं न योत्स्य इत्युक्त्वातूष्णीं बभूव ।

ह इत्याश्चर्ये भगवदुक्तोपि न राज्यस्य स्पृहालुर्जातः । परंतपः उत्कृष्टं तपो यस्येति संबोधनम् । त्वदोयाः श्रीकृष्णसंमुखे जीवितं त्यक्त्वा कृतार्था भविष्यंति इत्यभिप्रायेण ।

अतएव पार्थास्त्रपूताः पदमापुरस्येति वचनं गीयते ।।९।।

गुडाकेश=अर्जुन, हृषीकेश=इन्द्रिय प्रेरक से, गोविन्द=भक्ति-परिपालक से, युद्ध नहीं करूंगा, यह कहकर चुप हो गया ।

'ह' यह पद आश्चर्य प्रकट करता है ।

भगवान् के द्वारा कहने पर भी राज्य की स्पृहा शून्य है परंतप=उत्कृष्ट तप वाला । श्रीकृष्ण के सम्मुख जीवन त्याग कर कृतार्थ होंगे । ऐसा आया भी है 'पार्थ के अस्त्र से पवित्र होकर ऊंचे पद को प्राप्त हुए' ।।९।।

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदंतमिदं वचः ।।१०।।

ततो भगवान् किमुत्तरितवानित्याकांक्षायामाह तमुवाचेति ।

हृषीकेशः विषीदंतमर्जुनं प्रहसन्निव उभयोः सेनयोर्मध्ये इदं वचोऽग्रे वक्ष्यमाणमुवाच ।

स्वोक्तोऽकारिष्वपि स्वीयेषु भगवान् पुनर्वदति विश्वासार्थं संबोधने भारतेति ।।१०।।

हृषीकेश ने खिन्न अर्जुन से हँसकर दोनों सेनाओं के मध्य कहा—

भारत=सम्बोधन । इसमें अपने जन जो स्वोक्त न करें तब भी उन्हें विश्वास देने का अभिप्राय है ।।१०।।

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचंति पंडिताः ।।११।।

पूर्वं शास्त्रार्थज्ञानेन स्थिरां बुद्धि कृत्वा भक्युपदेशः कर्त्तव्य इति पूर्वं सर्वशास्त्रोक्तज्ञानमुक्त्वा भक्तिमुपदिशन्नात्मानात्मज्ञानार्थमात्मानात्मज्ञानमाह भगवान् अशोच्यानिति ।

त्वं अशोच्यान् शोकानर्हान् अन्वशोचः अनुशोचितवानसि यतस्तेऽसुरा॰वेशिनो भूभारहरणार्थं मे मारणीया एव न तु ते भक्ताः किं च तेषां शोकं कृत्वा प्रज्ञावादान् प्रज्ञावतां पंडितानां वादान् भाषसे वदसि । तेषां वादानेव वदसि न तु त्वं प्रज्ञावान् । यतस्ते प्रज्ञावंतः पंडिता मदिच्छयैव सर्वं भवतीति ज्ञानवंतः अतः गतासून् गतप्राणान् परलोके तेषां का गतिर्भविष्यति अगतासून् जीवितः जीवतां तेषां कथं योगक्षेमो भविष्यतीति नानुशोचंति अत एव श्रुतिरप्याह—

एष एव तं साधु कर्म कारयति यमुन्निनीषति एष एव तमसाधुकर्म कारयति यमधोनिनीषति । इति ।

अतोमत्कृतेऽर्थे कथं शोकः कर्त्तव्य इति भावः ।।११।।

शास्त्रार्थज्ञान से स्थिर बुद्धि करके भक्ति का उपदेश करना चाहिये । सर्व शास्त्रोक्त ज्ञान बतलाकर 'अशोच्यान्' कहते हैं ।

अर्जुन, तुमने शोक के अयोग्यों का शोक किया है । वे असुरावेश हैं । भूभार हरण के लिये तो मैं मारूँगा ही । वे भक्त नहीं हैं । उनका शोक कर तू बुद्धिमानों की सी बात कर रहा है । उनके वादों को ही तू उद्धृत कर रहा है, पर प्रज्ञावान् नहीं है । क्योंकि प्रज्ञावान् पंडित जानते हैं कि सब कुछ मेरी इच्छा से ही होता है । अतः वे गत प्राणों की परलोक में क्या दशा होगी और जीवितों की रक्षा कैसे होगी इसकी चिन्ता नहीं करते । श्रुति भी प्रमाण है—'एष एव तं साधुकर्म' वह परमात्मा जिनको ऊँचा उठाना चाहता है, अच्छे काम करवाता है । जिन्हें नीचे ले जाना चाहता है, उनसे असाधु कर्म करवाता है ।

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ।।१२।।

अशोच्यत्वे अभक्तत्वं हेतुमुक्त्वा पुनरशोच्यत्वे हेत्वंतरमाह नत्विति ।
अहमेतादृशो यादृशं त्वं द्रक्ष्यसि तादृशो जातु कदाचिदपि नासमिति न किं त्वेवं भूतः । सर्वदैवाऽऽसम् अस्मीत्यर्थः । एतेन स्वस्य नित्यत्वमुक्तं ननु त्वन्नित्यत्वे कथमेते शोकानर्हा इत्यत आह ।

नत्वमासीः । न च इमे जनाधिपा आसन्निति न किं तु सर्वं मल्लीला-रूपत्वान्नित्यमेवेत्यर्थः । तेनासुराणां मरणमपि नित्यमेवेत्यर्थः । तस्मादेते माया एवेति शोकानर्हा इति भावः । नन्वहं युद्धे मरिष्ये चेत्तदा भगवच्चरण-वियोगो भविष्यत्यधर्माचरणाद्वा तथा भविष्यतीति शोचामीति चेत्तत्राह ।

नचैवेति । अतः परं वर्त्तमानकालानन्तरं सर्वे वयं न भविष्याम इति न किंतु भविष्याम एव । एवं सर्वस्य नित्यत्वात्सर्वेऽशोच्या इति त्वं शोकं कर्त्तुं नार्हसि इति भावः ।।१२।।

अशोच्यत्व में हेत्वन्तर 'नत्वे' जैसा तुम मुझे देख रहे हो वैसा मैं कभी न था ऐसा नहीं है, अपितु सर्वदा ही था । इससे अपना नित्यत्व कहा है ।

यदि यह कहें कि तुम्हारे नित्य होने पर ये शोक योग्य क्यों नहीं, तो कृष्ण की उक्ति है 'नत्वमासीः' न तुम थे, न जनाधिप थे, ऐसा भी नहीं है, अपितु मेरी लीलारूपता के कारण यह सब नित्य ही है । असुरों का मरण भी नित्य है । अतः यह माया ही है, माया का प्रभाव बड़ा बलवान् है अतः शोक नहीं करना चाहिये ।

यदि यह शंका हो कि मैं युद्ध में मर जाऊंगा तो आपके चरणों का वियोग होगा अथवा अधर्माचरण से ऐसा होगा अतः शोक करता हूँ । अतः कहा है 'न चैव' । इसके पश्चात्—वर्त्तमान काल के पश्चात् हम न होंगे—यह बात भी नहीं है, अपितु अवश्य होंगे । सब नित्य हैं अतः किसी का शोक उचित नहीं ।।१२।।

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।
तथा देहांतरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ।।१३।।

मात्रास्पर्शास्तु कौंतेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ।।१४।।

ननु वयमेकत्रैव भविष्याम इति सत्यं परंतु पुनरलौकिको देह एतादृश एव भविष्यति नवेति संदेहात् शोचामीत्याकांक्षायामाह देहिन इति ।

देहिनो जीवस्य यथास्मिन्देहे कौमारं यौवनं जरा अवस्थात्रयं भवति कालेन तथा भगवदिच्छया भगवदीयस्य देहांतरप्राप्तिरलौकिक द्वितीय देह प्राप्तिर्भवतीत्यर्थः । धीरो भक्तस्तत्र देहप्राप्त्यर्थं न मुह्यति मोहं न प्राप्नोतीत्यर्थः नन्वग्रे देहाप्तिरपि भविष्यति परं किंचित्कालं भवति भोगदुःखासहिष्णुत्वाच्छोचामीति चेत्तत्राह 'मात्रास्पर्शा' इति ।

हे कौन्तेय, परमस्निग्ध ! मात्रा स्पर्शा इन्द्रियवृत्तिविषयसंबंधाः शीतोष्णसुखदुःखदा भवंति । अत्रायमर्थः इन्द्रियवृत्तिस्पृष्टा जलातपादयो शीतोष्णदा भवंति । तथा मित्रसंयोगविप्रयोगादयश्च सुखदुःखदाः भवति । संयोगे स्वस्य सुखं भवति । विप्रयोगे च दुःखं तत्रस्थसुखदुःखादिकं न विचारणीयम् । किंतु मित्रसुखविचारेण स्वस्य तत्सहनमेवोत्तममुचितं यतस्ते न स्थिरा इत्याह । आगमापायिन इति । आगमापायिनः आगच्छंत्यपयान्ति च अतएव अनित्याः अतस्तान् तितिक्षस्व सहस्व भारतेति संबोधनात्तवैतदुचितमिति ज्ञापितम् ।।१३-१४।।

शंका—हम एकत्र ही रहेंगे यह सत्य हो, किन्तु अलौकिक देह ऐसा ही होगा या नहीं इस सन्देह से पूछता हूँ।

जीव की इस देह में कौमार, यौवन, जरा तीन अवस्था होती हैं। इसी प्रकार काल से, भगवत् इच्छा से, भगवदीय को अलौकिक द्वितीय देह प्राप्त होती है। धीर= भक्त उस देह प्राप्ति के लिये मोह नहीं करता। यदि आगे देहाप्ति माने तो वह कुछ काल को ही होगी, भोग के दुःख सहन योग्य नहीं इसीलिये शोक करता हूँ। अतः कहते हैं—

हे कौंतेय ! अर्थात् परम स्नेही, इन्द्रिय वृत्ति विषय संबंधी शीत-उष्ण सुख-दुःखदायी होते हैं।

भाव यह है कि इन्द्रियवृत्ति से स्पष्ट जल, आतप आदि शीतोष्ण दायक होते हैं। मित्र संयोगवियोगादि सुख-दुःख देने वाले होते हैं। संयोग में अपनों को सुख होता है। वियोग में दुःख होता है। अतः इसके सुख-दुःखादि का विचार करना उचित नहीं है। मित्र सुख के विचार से उसका सहन ही उचित है, क्योंकि वे स्थिर नहीं हैं। आगमापायि=आने जाने वाले हैं। अतः उन सुख-दुःखों को अनित्य कहा गया है। उन्हें सहन करना चाहिये। भारत संबोधन का आशय है विशेषतः तुम्हें द्वन्द्व सहना उचित है ॥१३-१४॥

यं हि न व्यथयंत्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥१५॥

नन्वेतेषां सहनं किं फलकमित्याकांक्षायामाह यं हि न व्यथयंत्येत इति हे पुरुषर्षभ पुरुषश्रेष्ठ स्वतंत्रमोक्षसाधनकारणसमर्थ यं पुरुषं समदुःखसुखं समे दुःखसुखे वियोगसंयोगौ यस्यैतादृशं धीरं तत्सहनसमर्थमेते मात्रास्पर्शाः न व्यथयति न पराभवति। स पुरुषः अमृतत्वाय मोक्षाय कल्पते यद्वा मोक्षभावाय भवत्यर्थं कल्पते योग्यो भवति। भक्तिप्राप्तियोग्यो भवतीत्यर्थः।

समदुःखसुखत्वेन तदिच्छया सर्वमानंदरूपमेवाभाति इति व्यंजितम् ॥१५॥

इनके सहन का लाभ हे पुरुष श्रेष्ठ=(स्वतन्त्र मोक्ष साधन कारण समर्थ) जिस पुरुष को सुख दुःख सम हैं, वियोगसंयोग भी वैसे ही हैं उस धीर पुरुष को मात्रा स्पर्श पराभूत नहीं करते। वह पुरुष मोक्ष प्राप्त करता है अथवा मोक्षभाव के लिये भक्ति के योग्य बनता है अर्थात् भक्ति प्राप्ति के योग्य होता है।

सुख दुःख समान होने के कारण आनन्द रूप ही रहता है, यहाँ यह व्यंजित है ॥१५॥

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥१६॥

ननु दुःखादिसहनादेतद्देहनाश एव स्याद्देहनाशेन मोक्षस्तु नापेक्षित एव ततः किं दुःखसहनेनेत्याशंक्याह । नासत इति ।

असतो लौकिकस्य भावोऽलौकिको न विद्यते; सतः अलौकिकस्य भगवत्सत्तात्मकस्त नाभावो नाशो न विद्यते इत्यर्थः । अत्र निदर्शनं गोपिका एकास्त्वंतर्गृहगताः । द्वितीयास्तु भगवद्रासलीलागतास्तदाहुः । उभयोरपीति ।

तु शब्दः त्वद्दर्शननिवारणार्थः अनयोरुभयोरपि तत्त्वदर्शिभिः भगवद्दर्शनयोग्यैर्भगवदीयैः । अन्तो दृष्टः तत्फलं दृष्टमित्यर्थः ।

त्वमपि तथाचेदिच्छसि तदा सुखदुःखादि सहस्व । नैतावता भगवद्योग्यदेहादिनाशो भविष्यतीति भावः ॥१६॥

शंका—दुःखादि के सहन से तो देह नाश ही हो जायगा । देहनाश से मोक्ष होती नहीं तो दुःख सहन से ही क्या लाभ ! इसका उत्तर देते हुए कहा है—

असतः=लौकिक का अलौकिक भाव नहीं । अलौकिक=भगवद् सत्तात्मक का नाश नहीं होता । इसमें गोपियाँ ही दृष्टान्त हैं । रासलीला के समय एक गोपी घर में बन्द थी । दूसरी गोपी रासलीला में पहुँची थी । इन दोनों का भगवद्दर्शनयोग्यों ने अन्त=फल देख लिया है । तुम भी वैसा ही चाहते हो तो द्वन्द्व सहन करो । इससे भगवद् योग्य देहादि का नाश न होगा, यह भाव है ॥१६॥

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥१७॥

नन्वलौकिकत्वाद्देहनाशो मास्तु । परं तत्संबंधिसमर्पितसेवाद्युपयुक्तपदार्थानां नाशः स्यात्तदर्थमुत्कटपापभयं भवतीति शोचामि इति चेत्तत्राह अविनाशित्विति ।

येनभावात्मकभगवदीयदेहेनेदं सर्वं ततं व्याप्तं सेवादियोग्यं वस्तु तदलौकिकं शरीरं अविनाशि नाशरहितं विद्धि जानीहि ।

तु शब्दो नाशसंभावनाव्यावृत्ति ज्ञापयति । अस्याव्ययस्य स्वरूपस्य विनाशं कश्चित् पापाद्युपाधिजन्यकालादिः कर्तुं नार्हति न समर्थोस्तीत्यर्थः ।।१७।।

शंका—अलौकिक होने से देह नाश न हो परन्तु तत्संबंधित समर्पित सेवादि उपयुक्त पदार्थों का नाश तो होगा और उत्कट पाप भय भी होगा, अतः सोच करता हूं ।

यह अनुचित है—जिस भगवदीय देह से यह सब सेवादियोग्य वस्तु व्याप्त है वह अलौकिक शरीर नाश रहित है, यह जानो ।

यहां 'तु' शब्द नाश संभावना की व्यावृत्ति का बोधक है ।

इस अव्यय स्वरूप का विनाश पापादि उपाधि जन्य कालादि से संभव नहीं है ।।१७।।

अंतवंत इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युद्धचस्व भारत ।।१८।।

ननु देहादिनाशः प्रत्यक्षमनुभूयमानः किं रूप इत्याशंकायामाह अंतवंत इति ।

नित्यस्य जन्ममरणशून्यस्य शरीरिणो जीवस्य जीवभावनाभिलाष-प्राप्तमायासंबंधिन इमे देहा लौकिकाः परिदृश्यमानाः भीष्मादीनां सर्वेषां चांतवंतः अंतयुक्ता उक्ता इत्यर्थः ।

अनाशिनो विनाशहीनस्याप्रमेयस्योपायसहस्रैरपि प्रमातुमयोग्यस्य भगवतः संबंधिनः शरीरिणो जीवस्य भगवदीयस्य देहस्तु नांतवंत इत्यर्थः ।

सर्वेषामेवांतवत्त्वकथने तु पूर्वोक्तवचनैर्विरोधः स्यात् । अतएव तेषु भिन्नत्वज्ञापनार्थमेव इम इत्युक्तवान्प्रभुः । तस्मादेतेषां मारणेन पापसंभावना नास्तीति युद्धचस्व युद्धं कुर्वित्यर्थः । भारतेति संबोधनमुक्तवचनविश्वासार्थं यतः सत्कुलोत्पन्नस्यैवंभूतभगवद्वाक्ये विश्वासो भवति ।।१८।।

शंका—देहादि नाश का रूप क्या है ? जन्ममरण शून्य जीवात्मा की माया सम्बन्धी देह लौकिक देखी गई है। भीष्मादि की देह भी अन्त युक्त कही गई है। विनाश हीन, अप्रमेय, जानने योग्य भगवान् सम्बन्धी भगवदीय जीवों की देह का नाश नहीं होता। सबका अन्त होता है इस कथन से पूर्वोक्त वचन में विरोध आता है। इनसे भिन्नत्व बतलाने के लिये ही प्रभु ने कहा है—अतः इनके मारने से पाप की संभावना ही नहीं है। युद्ध करो।

भारत संबोधन सार्थक है, क्योंकि जो सत्कुल में उत्पन्न है वही भगवान् के वाक्य में विश्वास करता है ॥१८॥

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हंति न हन्यते ॥१९॥

ननु तथापि जीवस्य भगवदंशत्वे कथं हननमत आह। य एनमिति।

य एनं हन्तारं वेत्ति यश्च एनं हतं मन्यते तावुभावपि न विजानीतः अयं न हंति न वा हन्यते मदिच्छयैव सर्वं भवतीति भावः॥१६॥

शंका—जीव तो भगवान् का अंश है अतः उसका वध तो कदापि उचित नहीं।

समाधान—जो इसे मारक मानता है या जो इसे हत मानता है, वे दोनों ही अज्ञ है। आत्मा न तो मारता है और न मारा जाता है। मेरी इच्छा से ही सब कुछ होता है ॥१६॥

न जायते म्रियते वा कदाचिन्
नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥२०॥

मारणादि संभावना तु जन्मादिभावे सति भवति तदेव नास्तीत्याह न जायत इति। जन्माभावो निरूपितः। न वा कदाचिन्म्रियते। अनेन मरण-

निषेधो निरूपितः । अयं भूत्वा भूयः न भविता । अत्रायमर्थः । मत् क्रीडनार्थं सृष्टौ येन भावेन पूर्वं यथा विभावितः तथा तेनैव भावेन पुनर्न भविष्यति । तस्माद्यदर्थं मयोत्पादितस्तदेव मत्प्रीत्यर्थं कुर्यादन्यथा जन्मवैयर्थ्यं स्यात् । भूत्वेत्युक्तत्वात्जन्मशंकास्यात्तदर्थमाह । अजः न जायत इत्यर्थः मदंशत्वात् । एवंभूत एवायमित्याह नित्य इति । किं च । शाश्वतः मयि स्थित एव निरंतरमेकभावात्मकः । किं च । पुराणः सर्वदैवमेव मत्सेवार्थं दासरूपः पुरापि नव एवेत्यर्थः । यदर्थमेतदुक्तं तदाह न हन्यत इति । हन्यमाने शरीरे गतोयं जीवस्तस्मिन्हते न हन्यते इत्यर्थः । अयमर्थः हन्यमाने अंतयुक्ते लौकिके देहे प्रविष्टं इत्यर्थः । हन्यमान इत्यनेन तदर्थं सृष्टत्वं ज्ञापितं तस्माद्भगवदिच्छानुरूपकरणान्नाति भ्रमजन्योऽपि दोषः स्यादिति भावः ॥२०॥

मारणादि संभावना तो जन्मादि भाव होने पर होती है । वह भी युक्त नहीं । वह न तो कभी जन्म लेता है और न कभी मरता है ।

यह होकर पुनः नहीं होगा इसका आशय है कि मेरी क्रीड़ा के लिये सृष्टि में जिस भाव से पूर्व विभावित किया गया था उसी भाव से पुनः नहीं होगा । अतः मैंने जिस हेतु उत्पन्न किया उसी हेतु—मेरी प्रीति के लिये यत्न करना चाहिये, अन्यथा जन्म व्यर्थ होगा ।

भूत्वा कथन से जन्म शंका उपस्थित होती है । इसका निराकरण करते हुए कहा है कि मेरा अंश होने के कारण जीव जन्म नहीं लेता । वह नित्य है, शाश्वत है, मुझ में ही स्थित है । एक भावात्मक है । सर्वदा मेरी सेवा के लिये दास रूप है । पूर्व का होने पर भी नवीन है । शरीर के नष्ट हो जाने पर भी जीव नष्ट नहीं होता ।

हन्यमाने का भाव है लौकिक देह के प्रवेश हो जाने पर । भगवदिच्छा के कारण भ्रम जन्य दोष भी नहीं है ॥२०॥

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् ।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हंति कम् ॥२१॥

किं च अस्य मरणादिदोषबुद्धावज्ञानमेव कारणमित्याह वेदाविनाशिनमिति।

अविनाशिनं विशेषविकाररहितं नित्यं सदैकरूपमजं जन्मादिरहितं मयैवलीलार्थं तथा कृतं अव्ययं नाशादिशून्यं यः एनं वेद स पुरुषः कथं केन साधनेन कं स्वयं प्रेरको भूत्वाऽन्येन घातयति न कमपीत्यर्थः स्वयं च कं हंति। न कंचिदित्यर्थः ।।२१।।

शंका—मारण आदि दोष का बुद्धि में रहना अज्ञान ही के कारण है। अतः कहा गया है 'वेद'।

जो इस जीव को विशेष विकार रहित, नित्य, एक रूप जन्मादि रहित और मेरे द्वारा ही लीला के हेतु किया गया नाशादि शून्य जानता है वह पुरुष किस प्रकार किस साधन में किसको प्रेरक बनकर अन्य का मारण करता है। अर्थात् किसी का नहीं। स्वयं किसी को नहीं मारत ।।२१।।

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्य-
न्यानि संयाति नवानि देही ।।२२।।

ननु भगवत्क्रीडार्थं सृष्टदेहादीनां मारणमपि दोषरूपमतः शोचामीति चेत्तत्राह वासांसीति। यथा जीर्णानि कार्यानुपयुक्तानि वासांसि विहाय नवानि कार्योपयोगीनि अपराणि पूर्वविलक्षणानि नरो गृह्णाति तथा जीर्णानि मत्क्रीडानुपयुक्तानि शरीराणि विहाय नवानि अन्यानि मत्क्रीडार्थं विलक्षणरसोत्पादकानि देही संयाति मदिच्छया प्राप्नोतीत्यर्थः ।।२२।।

शंका—भगवान् की क्रीडा के हेतु रचे गये देहादि का मारण भी दोष रूप है, अतः शोक होना स्वाभाविक है। इसका उत्तर है 'वासांसि'।

जिस प्रकार कार्य के अनुपयुक्त वस्त्रों को छोड़कर नवीन वस्त्रों को मनुष्य धारण करता है उसी प्रकार मेरी क्रीड़ा के हेतु अनुपयुक्त शरीरों को त्याग कर

मेरी क्रीडा के हेतु विलक्षण रसोत्पादक देह को मेरी इच्छा से देही प्राप्त करता है ॥२२॥

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयंत्यापो न शोषयति मारुतः ॥२३॥

तस्मात्त्याज्यदेहस्य दूरीकरणेप्येनमविनाशादिधर्मयुक्तत्वात् शस्त्रादयो न छिंदंतीत्याह नैनं छिंदंतीति । एनं शस्त्राणि न छिंदंति घनाभावात् । एनं पावकः न दहति । शुष्कधर्माभावात् । आपः एनं न क्लेदयंति । मृदुत्वान्न शिथिलयंति । काठिन्यादिराहित्यात् । मारुतः न शोषयति द्रवाभावादित्यर्थः । तस्मात् शस्त्रादि प्रक्षेपेप्यस्य न किमपि भविष्यति इदमपि मत्क्रीडारूपमतो-मत्संतोषार्थं युद्धादिकं कर्त्तव्यमिति भावः । एतेषां सर्वेषां तथाकरणे मदिच्छैव हेतुरितिभावः । यतो भगवदिच्छैव सर्वेषां स्वधर्मकरणे शक्तिः । अतएव श्रीभागवते (३।२५।४२) उक्तम् ।

मद्भयाद्वाति वातोऽयम् । इत्यादि ॥२३॥

अतः त्याज्य देह के दूर करने के हेतु भी इसे अविनाशित्वादि धर्मयुक्त होने के कारण शस्त्रादि काटने में समर्थ नहीं ।

इस जीव को घनत्व के अभाव के कारण शस्त्र नहीं काट सकते । शुष्क धर्म के अभाव के कारण अग्नि दग्ध नहीं कर सकता । जल इसे गला नहीं सकता । वह तो स्वयं मृदु है । काठिन्य का ही मृदत्व जल द्वारा होता है । द्रवाभाव होने के कारण पवन इसे सुखा नहीं सकता । अतः शस्त्रादि प्रक्षेप से भी कुछ न होगा । इसे भी मेरा क्रीडा रूप मानकर मेरे संतोष के लिये युद्धादि करना उचित है । इन सबके करने में मेरी इच्छा ही हेतु है । भागवत में लिखा भी है—

"मेरे भय से पवन चलता है," आदि भा० ॥३।२५।४२॥

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥२४॥

अव्यक्तो यमचिंत्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ।।२५।।

एते छेदनादिधर्मयुक्ता अपि मदिच्छां विना तन्न कुर्वंति मदिच्छयैव च त्याज्यदेहादिषु तथा कुर्वंत्यतस्त्वमप्येतेष्वच्छेद्यादिधर्मान् ज्ञात्वा प्रवृत्तो भवेत्युक्त्वाऽच्छेद्यत्वादिधर्मानाह अच्छेद्य इति । अच्छेद्यादिधर्मवानयमित्यर्थः । अच्छेद्यादिधर्मवत्त्वे कारणमाह ।

नित्यः अविनाशी, सर्वगतः व्यापकः, स्थाणुः स्थिरभावः । अचलः सर्वदैकरूपः, सनातनः अनादिः । अव्यक्तो लोकिकेंद्रियाग्राह्यः । अचिंत्यो मनसोप्यगम्यः । अविकार्यो विकाररहितः कर्मभिर्वाऽविकार्यः अयं सर्वत्र व्यापकत्वेन प्रत्यक्षतयोक्तः उच्यते वेदैस्तद्रूपश्चेत्यर्थः यदर्थमेतदुक्तं तदाह । तस्मादिति ।

तस्मादेनं पूर्वोक्तधर्मवंतं विदित्वा अनुशोचितुं नार्हसि ।।२४-२५।।

ये छेदनादिधर्म वाले हैं फिर भी मेरी इच्छा के बिना वैसा नहीं करते हैं। अतः तू भी इनमें अछेद्यादि धर्म जानकर प्रवृत्त हो ।

अछेद्यादि धर्म कहते हैं। अछेद्यादि धर्मवान् है यह। कारण वह नित्य है, सर्व व्यापक है, स्थिर स्वभाव है, सर्वदा एक रूप है, अनादि है तथा लौकिक इन्द्रियों द्वारा अग्राह्य है। मन से भी अगम्य है विकार रहित है अथवा कर्मों से अविकार्य है । अतः पूर्वोक्त धर्मयुक्त होने के कारण उसका सोच करना उचित नहीं है ।।२४-२५।।

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम् ।
तथापि त्वं महाबाहो नैनं शोचितुमर्हसि ।।२६।।

एवं विद्वत्सिद्धान्तमुक्त्वाऽविद्वत्सिद्धान्तेनापि शोकं कर्तुं नार्हसीत्याह अथ चेति ।

अथ च पक्षांतरेण । एनं नित्यजातं तत्तद्देहेन सहजातं तस्मिन्मृते च मृतं वा मन्यसे तथापि त्वं एनं शोचितुं नार्हसि । यतस्त्वं महाबाहुः अत्रायमर्थः । नित्यस्यास्य जन्ममरणज्ञानं तु देहाभ्यासेनैव भवति । तथासति स्वबाहुबलादिनाशः क्व ॥२६॥

अविद्वानों के सिद्धान्त से भी शोक करना अनुचित है। यदि आत्मा को देह के साथ जन्म और देह के साथ मरण वाला भी माना जाय तब भी अशोच्य है। क्योंकि तुम महाबाहु हो। आत्मा नित्य है, इसका जन्म मरण ज्ञान भी देह के अभ्यास से ही होता है ऐसा मानने पर स्व बाहुबलादि नाश की संभावना ही कहां ? ॥२६॥

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्ममृतस्य च ।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥२७॥

ननु स्वसमानाभावान्निर्बले तु शोकः कर्तव्य एवेति चेत्तत्राह । जातस्येति ।

जातस्य देहस्य मृत्युर्ध्रुवः । मृतस्य ध्रुवं जन्म भवतीत्यर्थः । अत्रायमर्थः । जातस्य गृहीतजन्मनो येन मृत्युर्निर्मितस्तस्य तेनैव मृत्युर्ध्रुवः निश्चितस्तस्माद्येषां मृत्युस्त्वयैव निर्मितः स च तथैव भविष्यति । तस्माद्यथा ईश्वरनिर्मित तत्तथैव भविष्यतीत्यपरिहार्ये सर्वथाभाव्येर्थे त्वं न शोचितुं योग्योसीत्यर्थः । होति युक्तोयमर्थः । ईश्वरकृतं कोऽन्यथा कर्तुं समर्थः ॥२७॥

शंका—यहि अपने समान न हो, निर्बल हो, तो उसका शोक करना चाहिये ।

उत्तर—जिस देह का जन्म होता है उसकी मृत्यु निश्चित है। जो मरता है उसका जन्म ध्रुव है। भाव यह है कि जन्म गृहीता की मृत्यु जिससे लिखी है उसी से निश्चित होगी। अतः जिनकी मृत्यु तेरे द्वारा है, तो वह होकर ही रहेगी। फलतः जो ईश्वर निर्मित है वह होगी ही।

अपरिहार=जो दूर न की जा सके उसके अर्थ शोक व्यर्थ है। ईश्वर कृत को अन्यथा कोई नहीं कर सकता ॥२७॥

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्त मध्यानि भारत ।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिवेदना ॥२८॥

नन्वीश्वरोत्पादितानां देहानां स्वस्य नाशकरणमनुचितमित्याशंक्य देहानामुत्पत्तिस्थितिप्रलयविचारेणापि शोकाभावमाह । अव्यक्तादीनीति ।

अव्यक्तं अक्षरमादिरुत्पत्तिर्येषां तानि अव्यक्तादीनि भूतानि शरीराणि । व्यक्तं जगत् तदेव मध्यं स्थितिरूपमुत्पत्तिलययोर्मध्यं येषां तानि । अव्यक्ते अक्षर एव निधनं लयो येषां तानि तथा ।

तत्र तेषु का परिवेदना का चिन्तेत्यर्थः । अत्रायमर्थः । यत उत्पत्तिस्तत्रैव नाशे शोकः स्वस्याऽनुचित इत्यर्थः । स्वस्यापि तन्मारणानन्तरं न नरकादि संभावना यत उत्पत्तिस्थल एव स्वस्यापि नाशो भविष्यति ॥२८॥

शंका—ईश्वर द्वारा उत्पादित देहों का नाश करना अनुचित है ।

उत्तर—देहों की उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय की विचारणा से भी शोक करना उचित नहीं है । अव्यक्त=अक्षर जिनके पूर्व में है ऐसे भूत=शरीर, व्यक्त=जगत् ही मध्य है अर्थात् स्थिति रूप है । (उत्पत्ति-प्रलय के मध्य है) और इनका अव्यक्त= अक्षर में लय है । इनकी चिन्ता व्यर्थ है ।

जिससे उत्पत्ति है, उसी में नाश है तो अपने को शोक करना व्यर्थ है । अपनी भी उसे मारने के अनन्तर नरकादि की संभावना नहीं है, क्योंकि उत्पत्ति स्थल में ही अपना भी नाश होगा ॥२८॥

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः ।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥२९॥

नन्वेवं चेत्तदा विद्वांसः पापकर्मणा नरकसंभावनया कथं शोचंतीत्याशंक्याह आश्चर्यवदिति । एनं कश्चिदाश्चर्यवत् पश्यति । शास्त्रार्थज्ञानान्नित्यमव्यक्तादिरूपं जानन् । जन्मादिभावदर्शनादाश्चर्यवन्मायाकृतेन्द्रजालवत्पश्यतीत्यर्थः ।

एतेषां जन्मादिभावास्तु मदिच्छयात मत्क्रीडार्थका इति आश्चर्यवदित्युक्तम् । तथैव च मन्मायया मोहितः कश्चिदाश्चर्यवद्वदति । अन्यान् बोधयतीत्यर्थः । अन्यश्च श्रोता स्वतो ज्ञानरहितः । आश्चर्यवत् शृणोति श्रुत्वाप्येनं यथार्थमिदमित्युक्त्वा न वेद वै निश्चयेनैतत्त्रितयेषु कोपि न वेद न ज्ञानवानतोऽज्ञानात्तेपि शोचंतीतिभावः ॥२९॥

शंका—यदि ऐसा है तो विद्वान् नरक की संभावना से शोक क्यों करते हैं ?

उत्तर—इस आत्मा को कोई आश्चर्यवत् देखता है, शास्त्रार्थ ज्ञान से नित्य अव्यक्तादि रूप जानता हुआ जन्मादि भावदर्शन से मायाकृत इन्द्रजाल की भाँति देखता है । इनके जन्मादि तो मेरे क्रीडन के लिये हैं । अतः इसे आश्चर्यवत् कहा है । इसी प्रकार मेरी माया से मोहित होकर कोई आश्चर्यवत् बोलता है । अर्थात् अन्य जीवों को बोध कराता है । स्वतः ज्ञान रहित श्रोता आश्चर्यवत् सुनता है । सुनकर भी उसे यथार्थ नहीं जानता । इन तीनों में उसे कोई नहीं जानता, अतः शोक करते हैं ॥२९॥

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥३०॥

पूर्वोक्तमुपसंहरन् शोकाभावमुपदिशति देहीति ।

देही सर्वस्य देहे अवध्यस्तस्मात्सर्वाणि भूतानि जातदेहानि न तु देही जायत इति त्वं शोचितुं नार्हसि ।

भारतेति संबोधनात्तथाज्ञानभवत्वं बोध्यते ॥३०॥

उपसंहार में शोकाभाव । देही तो सबकी देह में अवध्य है । अतः समस्त भूत देह धारण करते हैं । देही उत्पन्न नहीं होता अतः तुम शोक मत करो ।

भारत कथन अर्जुन की ज्ञानवत्ता के लिये है ।।३०।।

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकंपितुमर्हसि ।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते ।।३१।।

एवमात्मस्वरूपज्ञानेन शोको न कर्त्तव्य इत्युक्त्वा स्वधर्मादपि मा शुच इत्याह स्वधर्ममपीति ।

स्वधर्म क्षात्रमवेक्ष्य विकम्पितुं नार्हसि यतः क्षत्रियाणामयमेवोत्तमो धर्म इत्याह । धर्म्यादिति ।

धर्म्याद्युद्धादन्यत् क्षत्रियस्य श्रेयो न विद्यते, क्षत्रियाणां परलोकादिकं त्वनेनैव भवति ।।३१।।

आत्मस्वरूप ज्ञान से शोक करना अनुचित है इसे बतलाकर अब अपने धर्म के कारण भी शोक का अनौचित्य बतलाते हैं ।

क्षात्रधर्म को देखकर कम्पित होना ठीक नहीं, क्योंकि क्षत्रियों का यही उत्तम धर्म है । धर्मयुद्ध से बढ़कर क्षत्रिय का और कुछ श्रेय नहीं है । क्षत्रियों को परलोकादि इससे ही होता है ।।३१।।

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् ।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ।।३२।।

तस्मादेतादृशं भाग्यवन्त एव लभन्त इत्याह यदृच्छयेति । यदृच्छया भगवदिच्छया उपपन्नम् अपावृतमुद्घाटितकपाटस्वर्गद्वारं ईदृशं युद्धं क्षत्रियाः सुखिनो भाग्यवन्तो लभन्ते आप्नुवंति । एतादृशयुद्धासौ भाग्यवत्वं भगवदिच्छयानुरूपत्वाद्भगवत्सन्निधित्वाच्चेति भावः ।।३२।।

इसे भाग्यवान् ही प्राप्त करते हैं । भगवान् की इच्छा से प्राप्त स्वर्गद्वार वाले युद्ध को भाग्यवान् क्षत्रिय ही प्राप्त करते हैं । ऐसे युद्ध में भगवान् की इच्छा के अनुरूप भगवान् की सन्निधि होने के कारण भाग्यवान् कहा जाता है ।।३२।।

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि ।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥३३॥

एवं स्वधर्मविक्षणेन मदुक्तसंग्रामाऽकरणे तव बाधकं स्यादित्याह अथचेदिति ।

अथ स्वधर्मविक्षणानन्तरमपि इमं मदग्रे धर्म्यं मदाज्ञारूपं संग्रामं चेन्न करिष्यसि तदा स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसीत्यर्थः ॥३३॥

इस प्रकार अपने धर्म को देखकर मदुक्तसंग्राम के न करने से तुझे बाधकता होगी। मेरे कहे अनुसार न चलने से स्वधर्म और कीर्ति को छोड़कर पाप प्राप्त करोगे ॥३३॥

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम् ।
संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥३४॥

किं च। पापात्परलोकनाश एव भविष्यतीति न किंत्विहलोकेऽप्यपकीर्तिर्भविष्यतीत्याह अकीर्तिश्चापीति । भूतानि अपि ते अकीर्तिमव्ययां सदानुवर्त्तमानां कथयिष्यंति । भूतानीति नपुंसकलिंग कथनेन तथा कथनायोग्या अपि कथयिष्यंतीति व्यंजितम् । नन्वकीर्तिकथनेन किं स्यादित्यत आह । संभावितस्येति । संभावितस्य युद्धादौ अकीर्तिः मरणात् अतिरिच्यते अधिका भवतीत्यर्थः ॥३४॥

पाप से परलोक नाश ही होगा, इतना ही नहीं, किन्तु इस लोक से भी अपकीर्ति होगी। प्राणी भी तेरी सदा अनुवर्तमान अकीर्ति को कहेंगे। भूतानि में नपुंसक लिंग है इसका भाव है कि कथन अयोग्य भी कहेंगे। अकीर्ति कथन से क्या होगा—संभावित की युद्ध में अकीर्ति मरण से भी अधिक होती है ॥३४॥

भयाद्रणादुपरतं मंस्यंते त्वां महारथाः ।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥३५॥

ननु पूर्वं ये दृष्टमत्पौरुषास्ते तु न तथा कथयिष्यंति किंत्वज्ञा एव तेषां कथनेपि किं स्यादित्यत आह भयादिति । ये महारथास्ते त्वां रणाद्भयादुपरतं निवृत्तं मंस्यंते । ननु मम भयाभावात्तेषां माननेपि किं भविष्यतीत्यत आह । येषां च त्वमिति सार्द्धेन । त्वं येषां बहुमतः संभावितगुण आसीत्तादृशो भूत्वां लाघवं यास्यसि ।।३५।।

शंका—पुरुषार्थ द्रष्टा ऐसा नहीं कहेंगे, अज्ञ ही कहेंगे और उनके कथन से भी क्या लाभ ?

उत्तर—महारथी तुझे रणभूमि से निवृत्त मानेंगे । मेरे भयाभाव से उनके मानने से भी क्या होगा ? इनके उत्तर में कहते हैं कि तुमको जो अनेक गुणयुक्त मानते हैं उनकी दृष्टि में तुम लघु हो जाओगे ।।३५।।

अवाच्यवादांश्च बहून् वदिष्यन्ति तवाहिताः ।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुखःतरं नु किम् ।।३६।।

किं च । तव सामर्थ्यं निंदन्तस्तवाऽहिताः शत्रवः बहून् अवाच्यवादान् कथनायायोग्यानि वाक्यानि वदिष्यंति । नु इति निश्चयेन ततो दुःखतरं किं । न किमपीत्यर्थः ।।३६।।

तेरी सामर्थ्य की निन्दा करते हुए तेरे शत्रु अनेक न कहने योग्य वाक्यों को कहेंगे ।

नु=यह निश्चय है । इससे भी बड़े दुःख की क्या बात होगी ।।३६।।

हतो वा प्राप्यसि स्वर्गंजित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।
तस्मादुत्तिष्ठ कौंतेय युद्धाय कृतनिश्चयः ।।३७।।

ननु युद्धे मरणसंभावनायां दुःखसंभावनायां च किमपकीर्त्यादिनेति चेत्तत्राह हतो वेति । वा विकल्पेन हननसंभावनाभावात् । कदाचिद्धतश्चेत्तदा स्वर्गं प्राप्स्यसि जित्वा वा दुःखादिसंभवेपि महीं भोक्ष्यसे तदा दुःखनिवृत्तिर्भविष्यतीति भावः । तस्माद्युद्धाय कृत निश्चयः सन्नुत्तिष्ठ उपस्थितो भवेत्यर्थः ।।३७।।

शंका—युद्ध में मृत्यु की संभावना से, दुःख संभावना से अपकीर्ति का क्या महत्त्व ?

उत्तर—न मार सके और स्वयं मर गये तो स्वर्ग प्राप्त करोगे। यदि तुम जीत गये तो पृथ्वी को भोगोगे और तब दुःख निवृत्ति भी हो जायगी। अतः युद्ध के लिये निश्चय कर खड़े हो जाओ ॥३७॥

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥३८॥

मया पूर्वं पापसंभावना कृता तत्र का गतिरित्याशंक्याह सुखदुःखे इति।

सुखदुःखे देहस्य लाभालाभौ राजस्य जयाजयौ यशसः। समौ कृत्वा हर्षविषादरहितः सन् ततस्तदनंतरं मदाज्ञाविचारेण युद्धाय युज्यस्व युक्तो भव। एवंकृते पापं नावाप्स्यसीत्यर्थः ॥३८॥

मैंने पहले पाप संभावना की, उसकी क्या गति है यह शंका की है।

उत्तर—सुख-दुःख देह के हैं। लाभालाभ राज्य के, जय अजय यश के, इन्हें समान बनाकर हर्ष-विषाद से रहित होकर मेरी आज्ञा का विचार कर युद्ध के लिये युक्त हो। (ऐसा करने से पाप नहीं होगा।) ॥३८॥

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगेत्विमां शृणु।
बुद्धया युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥३९॥

एवं सांख्यमात्मज्ञानात्मकमुपदिश्योपसंहरति एषेति। एषा पूर्वोक्ता ते तव सांख्ये आत्मानात्मप्रकाशके बुद्धिः करणार्थमभिहिता। सांख्यस्य भगवतो विप्रयोगरसात्मकं कुंडलरूपत्वात्तत्र भगवदात्मकात्मज्ञानेन न स्वास्थ्यं भवति तस्मादात्मज्ञानबुद्धिरभिहिता उक्तेत्यर्थः तज्ज्ञानार्थमेव एतच्छ्रवणेपि चेत्तव न ज्ञानं जातं तदा कर्मयोगेन मोहो निवर्तिष्यत इति कर्मयोगं शृण्वित्याह। योग इति।

योगे तु इमां बुद्धिं शृणु यया बुद्धया युक्तः सन् पार्थ मद्भक्तवर कर्म-

बन्धं कृतकर्मपापं प्रहास्यसि त्यक्ष्यसीत्यर्थः त्यागे प्रकर्षः पुनस्तद्भावानुदयः ॥३६॥

इस प्रकार आत्मज्ञानात्मक सांख्य का उपदेश कर उपसंहार वाक्य कहते हैं।

यह पूर्वोक्त तेरे लिये सांख्य में आत्म-अनात्म प्रकाश बुद्धि करणार्थ कहा है। सांख्य भगवान् का विप्रयोगरसात्मक कुण्डल है, अतः भगवत् स्वरूपी आत्मज्ञान से स्वास्थ्य नहीं होगा। इसलिये आत्मज्ञान बुद्धि कही है। इस आत्मज्ञान श्रवण से भी यदि तेरी ऐसी बुद्धि नहीं तो कर्मयोग से मोह की निवृत्ति हो जायगी अतः कर्मयोग सुन।

योग में तो इस बुद्धि को सुनो, जिस बुद्धि से युक्त पार्थ=मेरे भक्तवर तुम कृतकर्म पाप का परित्याग भी कर दोगे ॥३६॥

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥४०॥

ननु कर्मणां बाहुल्यात्कालादिसाध्यत्वाच्च कृतानां पूर्णत्वाभावाद्वैकल्यं प्रत्युतांगवैगुण्यादिना प्रत्यवायादिसंभावना भवेदिति कथं बन्धो न भविष्यतीति चेदित्याशंक्यार्जुनस्य भगवत्कुंडलात्मक संयोगरूप योगस्वरूपाज्ञानात्तज्ज्ञानार्थं तत्स्वरूपमाह नेहाभिक्रमनाश इति।

भगवन्मार्गे भगवदर्थं भगवदाज्ञारूपेण कर्त्तव्यत्वं कर्मणां न तु फलसाधकत्वेन तस्मान्न पूर्वोक्तदोषसंभावनात्र। तदेवाह।

इह मदाज्ञात्वेन क्रियमाणस्य कर्मणोऽभिक्रमनाशः प्रारब्धः कर्मनाशः नास्ति निष्फलत्वं न भवतीत्यर्थः प्रत्यवायश्च न विद्यते। यतोऽस्य धर्मस्य स्वल्पमपि कृतं महतो भयात् त्रायते। रक्षति। अत्रायं भावः। अन्यत्र कृत कर्मसाफल्यार्थं सांगत्वायं च भगवत्स्मरणं बोध्यते यस्य स्मृत्येत्यादिना तत्र साक्षाद्भगवदर्थं कृतानां कर्मणां कथं वैफल्यं भवेत् ॥४०॥

शंका—कर्म बहुत हैं और वे काल में परिपक्व होते हैं। जो किये गये हैं वे अपूर्ण हैं अतः वैकल्य अंगवैगुण्यादि से प्रत्यवाय की संभावना होगी। फलतः बन्ध क्यों न होगा।

इस आशंका का समाधान भगवत् कुण्डलात्मक संयोग रूप योग स्वरूप के ज्ञानार्थ उसका स्वरूप कहते हैं। 'नेहाभिक्रम'।

भगवन्मार्ग में भगवान् के लिये भगवदाज्ञा रूप कर्त्तव्य कर्म हैं, कर्म फल साधक नहीं। अतः पूर्वोक्त दोष संभावना नहीं है।

क्रियमाण कर्म कभी निष्फल नहीं होता और इसमें प्रत्यवाय भी नहीं है क्यों] इस धर्म को थोड़ा भी किया जाय तो बड़े भारी भय से रक्षा हो जाती है। अन्यत्र किये कर्मों की सफलता के लिये—सांगता के लिये, भगवान् का स्मरण करना चाहिये। 'यस्यस्मृत्या' से यह कहा भी है। साक्षात् भगवान् के लिये कर्मों का वैकल्य कैसे हो ॥४०॥

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनंताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥४१॥

किं च। फलार्थं कर्मकर्तृणामनेकत्र बुद्धिर्भवति। मदाज्ञात्वेन कर्तृणां मन्निष्ठत्वेनैकैव बुद्धिरिति भ्रमान्न वैपरीत्यशंकेत्याह व्यवसायात्मिका इति। हे कुरुनन्दन सत्कुलोत्पन्न इह भक्तिमार्गे व्यवसायात्मिका भगवदाज्ञयैव करिष्यामीति रूपैकैव भवति। अव्यवसायिनां बहिर्मुखानामनिश्चितहृदयानां बुद्धयोऽनंताश्च भवति। फलार्थं बहुशाखाश्च भवंति। तत्र सांगत्वाभावात्प्रत्यवायादि संभावना स्यादेव भक्तानां तु सांगत्वान्नैव नैफल्यप्रत्यवायादि संभावना। अत एव भगवद्वाक्यम्—

मत्कर्मकुर्वतां पुंसां काललोपो भवेद्यदि।
तत्कर्म तस्य कुर्वंति तिस्रः कोटयो महर्षय ॥ इति० ॥४१॥

फल के लिये कर्म करनेवालों की बुद्धि अनेक होती हैं। मेरी आज्ञानुसार करनेवालों की बुद्धि मुझ में ही रहती है इस भ्रम से वैपरीत्य शंका नहीं करनी चाहिये।

हे कुरुनन्दन=सत्कुलोत्पन्न, इह=इस भक्ति मार्ग में व्यवसायात्मिका 'भगवदाज्ञा ही करूंगा' इस रूप में होती है।

अनिश्चित हृदयों की बुद्धि अनन्त होती है। फलार्थ अनेक शाखा होती हैं।

सांगत्व के अभाव से प्रत्यवायादि संभावना होगी। भक्तों की सांगता है अतः वैकल्य प्रत्यवायादि की संभावना नहीं है। भगवद्वाक्य भी है—

मेरे कर्म करनेवाले का यदि काल लोप होता है तो उसका कर्म तीन कोटि महर्षि करते हैं ॥४१॥

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥४२॥

नन्वेनं फलोत्तमतां ज्ञात्वा सर्वं एवमेव व्यवसायात्मिकां बुद्धिं कथं न कुर्वन्तीत्याशक्याह यामिमामिति त्रयेण। ये इमां पुष्पितां यां वाचं फलादि रहितां कुत्सितपुष्पयुक्तलतावददूरदृष्ट रम्यां प्रवदन्ति प्रकर्षेण फलरूपतया वदंति तेषां व्यवसायात्मिका बुद्धिर्न विधीयते नोत्पद्यत इत्यर्थः। ननु तेऽपि शास्त्रोक्तज्ञानवन्तः कथं तथा वदंतीत्याकांक्षायामाह। अविपश्चित इति। मूर्खाः अज्ञाना इत्यर्थः। तेषां मूढ़त्वं विशेषणैः प्रकटयति। वेदवादरता इति वेदोक्तफलक कर्मकरणमेवोचित न तु निष्कामतया ते तथा। अतएव नान्यदस्तीति वादिनः वेदोक्त व्यतिरिक्त कर्मफलं नास्तीति वदनशीलाः ॥४२॥

यदि ऐसी फलोत्तमता है तो सभी जन इस व्यावसायात्मिका बुद्धि को क्यों नहीं करते। इस पुष्पित वाणी को जिसमें फलादि नहीं। (जो कुत्सित पुष्पयुक्त लता की भाँति अदूर से देखने में सुन्दर है।) उसकी प्रकर्ष फलरूपता कहते हैं, उनमें व्यवसायात्मिका बुद्धि उत्पन्न नहीं होती।

शंका—ऐसे व्यक्ति भी जो शास्त्रोक्त ज्ञानवान् हैं, वे ऐसा क्यों कहते हैं ?

उत्तर—वे अज्ञानी हैं, वेदोक्त फल का कर्म करण ही उचित है, निष्काम नहीं। अतः वेदोक्त प्रतिकूल कर्मफल है ही नहीं, ऐसा क्यों कहते है ॥४२॥

कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥४३॥

ननु तेषां तथा कथनं किं प्रयोजनकमित्याकांक्षायामाह। कामात्मान इति।

कामना व्याप्तरूपा:। ननु कथं कामनायां तुच्छफले प्रवर्त्तन्त इत्याशंक्याह। स्वर्गपरा इति।

स्वर्ग एव परो मोक्षरूपं येषां तेषाम्। स्वर्गस्य तथाज्ञानार्थं पूर्ववाचं विशिनष्टि। जन्मकर्मफलप्रदाम्। जन्म उत्तमयोनौ तत्रोत्तमं कर्म तथोत्तमफलं च तानि प्रकर्षेण ददाति तां तथा। भोगैश्वर्यगति भोगैश्वर्यप्राप्ति प्रति क्रियाविशेषा बहुला यस्यां तां तथा फलरूपां वदन्ति ॥४३॥

उनका कथन किस प्रयोजन से है—कामनाओं से व्याप्त हैं।

कामनाओं में तुच्छ फल क्यों? वे स्वर्ग को ही मोक्ष मानते हैं। स्वर्ग के ज्ञान के लिये पूर्व वाक् को व्यक्त किया है।

जन्म—उत्तमयोनि में जन्म उसमें भी उत्तम कर्म तथा उत्तम फल उन्हें वह प्रकर्षता पूर्वक देता है। भोग ऐश्वर्य प्राप्ति के प्रति क्रियाविशेषा बहुला जिसमें उसे फल रूपा भी कहते हैं ॥४३॥

भोगैश्वर्य प्रसक्तानां तयाऽपहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥४४॥

ततो भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तेषां तया वाचा अपहृतचित्तानां समाधौ वैयग्रध भावेन भगवच्चिंतने तथा बुद्धिर्न भवतीत्यर्थः ॥४४॥

जो भोग-ऐश्वर्य में प्रसक्त होते हैं उनको उस वाणी से चित्त में उद्विग्नता होती है, समाधि में व्यग्रता आती है और भगवान् के चिन्तन में वृद्धि नहीं लगती ॥४४॥

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥४५॥

ननु तत्त्वज्ञा: वेदोक्तविषये प्रवर्तते परं स्वर्गादीनां फलाभावे वेद: कथं बोधयतीत्याशंक्याह त्रैगुण्यविषया वेदा इति।

त्रैगुण्याः त्रिगुणसृष्टौ सृष्टा ये जीवास्तद्विषयास्तदर्थं स्वर्गादिफलककर्मबोधका वेदाः। न तु गुणातीतसाक्षाद्भगवत् क्रीडौपयिकभगवदीय सृष्टयन्तर्गतभगवद्भक्तविषया इत्यर्थः। भगवल्लीलासृष्टिस्तु निर्गुणा अतएव अन्यैव काचित्सा सृष्टिर्विधातुर्व्यतिरेकिणी इत्यादि श्रीवराह वचनम्। गुणातीतपुरुषोत्तमस्वरूपं तु वेदाद्य विषयमेव। अतएव श्रुतिराह—'नेति नेति', 'यतो वाचो निवर्त्तन्त' इत्यादि।

यस्माद्वेदास्त्रिगुणविषयास्तस्मात् त्वं निस्त्रैगुण्यो भक्तो भवेत्यर्थः। निस्त्रिगुणस्य भावुको भवेति भावः। यद्वा। वेदास्त्रैगुण्यविषयाः त्रिगुणात्मक स्वरूपफलप्रतिपादका न तु साक्षाद्भगवत्संबंधप्रतिपादकाः। अतस्तथा बोधयन्तीत्यर्थः। ननु वेदास्त्रिगुणविषयाश्चेत्तदाऽस्माकमज्ञानानां का गतिरित्याशंक्याह निस्त्रैगुण्य इति। गुणातीतसद्धर्मैकपरो भवेति भावः। केन साधनेन तथात्वं भवेदित्याशंकायामाह। निर्द्वन्द्व इति।

निर्गतानि द्वन्द्वानि सुखदुःखाहं ममेत्यादीनि तद्रहितो भव। सर्वं त्यक्त्वा भक्ति परो भव। तथात्वमपि कथमित्याकांक्षायामाह। नित्य सत्त्वस्थ इति।

नित्यं सत्वं यस्मात्तस्मिन् गुणातीते स्थितो भव किंच निर्योगक्षेम इति। साधनासाध्यपरमाऽप्तवस्त्वभिलाषो योगः। स्वेच्छाप्राप्त वस्तुन्याऽऽप्तज्ञानेन स्वीकारो क्षेमस्तद्रहित आत्मवान् आत्मज्ञानवान् भवेत्यर्थः ॥४५॥

यदि यह कहा जाय कि वे लोग अज्ञानी हैं। वेदोक्त विषय में प्रवृत्त तो होते हैं किन्तु स्वर्गादि फलाभाव में वेद कैसे बोध कराता है इस आशंका में कहते हैं—त्रिगुणात्मिका सृष्टि में उत्पन्न हुए जीव भी तीनों गुणों के हेतु प्रयास करते हैं। वेद भी उनके लिये स्वर्ग आदि फल बोधक होते हैं।

गुणातीत—साक्षात् भगवत् क्रीडोपयोगी भगवदीय सृष्टि के अन्तर्गत भगवद्भक्त विषय नहीं बनते। भगवान् की लीलासृष्टि निर्गुण है, अतः विधाता की वह सृष्टि कुछ अन्य ही है। वाराह ने भी कहा है। गुणातीत पुरुषोत्तम स्वरूप तो वेदादि का भी विषय नहीं है। श्रुति भी प्रमाण है—नेति, नेति। जहाँ से वाणी भी लौट आती है।

वेद त्रिगुण विषय हैं अतः अर्जुन तुम त्रिगुण रहित बनो।

निस्त्रिगुण का भावुक बन। अथवा वेद त्रैगुण्य विषयक हैं अतः त्रिगुणात्मक स्वरूप फल के प्रतिपादक हैं। साक्षात् भगवत् संबंध प्रतिपादक नहीं हैं, अतः वेद ऐसा बोध कराते हैं।

वेद त्रिगुण विषय हैं तो हमारी अज्ञानियों की क्या गति होगी। भाव यह है कि गुणातीत सद्धर्म परायण बन। इसका साधन बतलाते हैं—'निर्द्वन्द्व' इति। सुख-दुःख अहं मम इनसे रहित बन। सब कुछ त्यागकर भक्ति परायण बन।

भक्ति परायण कैसे बना जाय ?

गुणातीत में स्थित हो साधन साध्य परमाप्त वस्तु की अभिलाषा का नाम योग है। स्वेच्छा प्राप्त वस्तु को आप्त ज्ञान से स्वीकार करने का नाम क्षेम है। तद्रहित आत्मज्ञानवान् बनो ॥४५॥

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके।
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥४६॥

नन्वेवं वेदोक्ताकरणे कथं फलसिद्धिः स्यादित्याशंकायामाह यावानिति। उदपाने उदकं पीयतेस्मिन्नित्युदपानं जलपात्रं तस्मिन् यावानर्थः। सर्वतः संप्लुतोदके तडागे च भवति परं तत्र जलाहरणपात्ररक्षणादिक्लेशोधिक तथा यावानर्थो वेदोक्तकर्मफलं वेदेषु भवति। तावान् विजानतो ब्रह्मस्वरूपविदुषो ब्राह्मणस्य ब्राह्मीकनिष्ठस्य भवतीत्यर्थः। नैवं च श्रुति विरोधः। अतएव श्रुतिराह 'आनंदं ब्रह्मणो विद्वान्'। 'तमेव विदित्वा अतिमृत्युमेति' ॥४६॥

यदि ऐसा है तो वेदोक्त न करने से फल सिद्धि कैसे होगी इस आशंका का उत्तर है—उदपान=जलपात्र में जितना जल आता है उतना ही आयेगा चाहे वह परिपूर्ण तालाब में ही क्यों न डुबाया जाय। उसी प्रकार जितना अर्थ वेदोक्त कर्मफल वेद में होता है उतना ही ब्रह्म स्वरूपवेत्ता ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मण को उपलब्ध होता है। इसमें श्रुति विरोध नहीं है। श्रुति में कहा है 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्' और 'तमेव विदित्वा' ॥४६॥

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि ।।४७।।

नन्वेवं चेर्त्तार्ह किमिति कर्मकरणोपदेश इत्याशंक्याह कर्मण्येवाधिकारस्त इति । ते तव स्व पराहं मम ज्ञानयुक्तस्य कर्मण्येव अधिकारः । अस्तीति शेषः । अत्रायं भावः ।

यावत् पर्यन्तं स्वपरेति ज्ञानं तावन्न कर्मत्यागः । अतएव तावत्कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावतेत्याद्युक्तं श्रीभागवते । ननु तर्हि पूर्वोक्तबाध इति चेत्तत्राह । मा फलेषु इति । फलेषु तदुक्तेषु अधिकारो मनसि कामो मास्तु । कदाचनेति साधनदशायामपि । ननु कृतं कर्म कामाभावे स्वफलं करिष्यत्येवाज्ञानादपि भक्षणे विषवत् मृत्युमित्यत आह । मा कर्मफलहेतुरिति । त्वं कर्मफलहेतुः कर्मफलभोगभोग्यदेहयुक्तो मा भूः । न भविष्यसीत्यर्थः । मदाज्ञयेति भावः । किं च । ते अकर्मणि सकामकर्त्तरि संगः संबंधो मास्तु । एवं वरमेव ददामीति भावः ।।४७।।

यदि ऐसा है तो कर्म करने के उपदेश से क्या लाभ ? अतः कहा है 'कर्मण्येवाधिकारः ।'

तुझे अपने-पराये, मैं-मेरे ज्ञान से युक्त को कर्म में ही अधिकार है। भाव यह है कि जब तक अपना पराया ज्ञान है तब तक कर्म का त्याग नहीं है । भागवत में कहा है—कर्म तब तक किया जाय जब तक निर्वेद न हो जाय । पूर्वोक्त से यह विरुद्ध नहीं है—'मा फलेषु' । तदुक्त फलों में कामना न हो । साधना दशा में भी ऐसा न हो । यदि यह विचार करें कि किया हुआ कर्म कामना के अभाव में भी अपना फल तो करेगा ही जैसे अज्ञानपूर्वक विष पीने वाला मृत्यु को प्राप्त करता ही है । अतः कहा है 'मा कर्मफल' । तू कर्म फल हेतु कर्मफल भोग भोग्य देह युक्त मत बन । न बनेगा ही। मेरी आज्ञा से । और सकाम कर्त्ता के संबंध भी मत स्थापित कर । अतः तुझे वरदान ही देता हूं ।।४७।।

योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनंजय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ।।४८।।

नन्वेवमेव चेत्तर्हि किं कर्मकरणेनेत्याशंक्याह योगस्थ इति। योगस्थः। भगवदेकपरचित्तो भूत्वा संगं त्यक्त्वा पूर्वोक्तानां कर्माणि कुरु। मदाज्ञारूपाणि कुर्वित्यर्थः।

सिद्धयसिद्धयोः समो भूत्वा सिद्धिस्तत्फलाप्तिरसिद्धिर्फल विपरीतफलं तत्र समो भूत्वा। ननु समत्वे सति। किं स्यादत आह। समत्वं योग उच्यत इति। तत्र समत्वमेव योगः। भगवदाज्ञया कर्त्तव्यत्वेन तत्फलाफले समता स्यात् सा च भगवत्परत्व ज्ञापिकेति योग रूपत्वम्। यद्वा योगस्थः भगवत्संयोगे स्थितः कर्माणि तत्रोपयुक्तानि कुरु संगं त्यक्त्वा सर्वत्यागं कृत्वेतिभावः।

धनंजयेति संबोधनेन स्वविभूतिरूपत्वात्स्वसंयोगयोग्यता बोधिता किं च। सिद्धयसिद्धयोः। सिद्धिः। सर्वदा योगः। असिद्धिर्विप्रयोगस्तत्र समो भूत्वा संयोगानन्तरभाविप्रयोगानंतरभावि परमसुखज्ञानेच्छाजनितानंदभर-भगवद्दत्तविप्रयोगे वैमनस्यमविचार्य तथा कुरु। तत्र समत्वे योग उच्यते। तद्रसज्ञैरिति शेषः। मया वा भगवद्दत्तविप्रयोगस्यापि परमानन्द रूपत्वात्त-द्दत्तत्वेन योगरूपतेति भावः। संयोगानन्तरजत्वात्तन्मध्यपातित्वादपि तथा तत्साधकत्वेनापि तथा ॥४८॥

यदि ऐसा है तो कर्म करने से ही क्या प्रयोजन ?

समाधान है योगस्थ। भगवत एक परिचित्त होकर संग त्यागकर पूर्वोक्त कर्म करो। मेरी आज्ञा रूप कर्म।

धनंजय पद से स्वसंयोग योग्यता व्यक्त की है। सिद्धि का अर्थ सर्वदा योग है। असिद्धि का विप्रयोग। इन दोनों में सम होकर संयोग के अनन्तर तथा विप्रयोग के अनन्तर होनेवाले परमसुख ज्ञान इच्छा जनित आनन्द को प्राप्त कर, भगवान् के दिये विप्रयोग में वैमनस्य का विना विचार किये यत्न कर।

समत्व में योग की स्थिति रसज्ञों ने सिद्ध की है। मेरे द्वारा दिया विप्रयोग भी परम आनन्दरूप है, अतः वह योग रूप है। संयोग के अनन्तर उत्पन्न होने के कारण, मध्य में आने से और साधकत्व से भी यह निर्णीत है ॥४८॥

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय ।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥४९॥

नन्वेवं चेत्तदा कथं न तत्र सर्वप्रवृत्तिरित्याशंक्याह दूरेणेति ।

धनंजय मद्विभूतिरूप तथा कर्मायोग्यबुद्धियोगात् दूरेण कृतं कर्म फलाद्यर्थंकृतं ननु मदाज्ञारूपत्वेन तदवरमपकृष्टमित्यर्थः ।

हीति युक्तोयमर्थः ।

भगवदाज्ञा व्यतिरिक्तत्वेन फलेच्छया कृतकर्मणो नीचत्वमेव । तस्मात्तदपकृष्टानां प्राकृतानामेव योग्यं नोत्कृष्टानां मदंशानामिति धनंजय संबोधनेन ज्ञापितं तेनात्राधिकाराभावाम्न सर्वेषां प्रवृत्तिरितिभावः । यस्मात्ते नीचाः सात्त्विकाधिकाररहितानां चाप्रवृत्तिस्त्वं च मदंशत्वात् बुद्धियोगयोग्य इति बुद्धियोगाय यतस्वेत्याह । बुद्धाविति । बुद्धौ बुद्धियोगनिमित्तमीश्वरं शरणमन्विच्छ अनुतिष्ठ । ननु सकामकर्त्तारोपीश्वरशरणमिच्छन्तीत्यत्र को विशेष इत्याशंक्याह कृपणा इति । फल हेतवः । सकामाः । कृपणा लुब्धादीना इत्यर्थः । नहि लुब्धैरहं प्राप्तः । अतएव श्रुतौ ब्रह्मभूतस्यैव ब्रह्मप्राप्तिर्निरूपिता ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्नोति ॥४९॥

यदि ऐसा है तो उसमें सबकी प्रवृत्ति क्यों नहीं, इस आशंका में कहा है—'दूरेण' ।

हे धनंजय ! मेरी विभूति रूप तथा कर्म अयोग्य बुद्धि के योग से, दूर से किया कर्म फलादि अर्थ के लिये है । मेरी आज्ञारूपता से अपकृष्ट नहीं ।

भगवान् की आज्ञा से अतिरिक्त फलेच्छा से किया कर्म, नीच है । अतः उनसे अपकृष्ट प्राकृतों के ही योग्य है । उत्कृष्ट मेरे अंशों का अपकृष्ट नहीं । इसमें सबका अधिकार नहीं है, क्योंकि वे सात्त्विकाधिकार रहित हैं । नीच हैं । मेरे अंश होने के नाते बुद्धि योग्य हैं अतः बुद्धियोग का पालन कर । बुद्धियोग के निमित्त ईश्वर की शरण जा । यदि यह कहें कि सकामकर्ता भी ईश्वर की शरण चाहते हैं, तो इसमें विशेषता क्या है ?

कृपणा का अर्थ है दीन-लुब्ध। मैं लुब्धों को प्राप्त नहीं होता हूं। अतः श्रुति में ब्रह्मभूति को ही ब्रह्मप्राप्ति निश्चित की है। ब्रह्म होकर ही ब्रह्म को प्राप्त करता है ॥४९॥

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥५०॥

नन्वेवं बुद्धौ किंस्यादित्याशंक्याह बुद्धियुक्त इति। बुद्धयायुक्त इहैव उभे सुकृतदुष्कृते जहाति। अयमर्थः। मयि बुद्धया युक्त इह अस्मिन्नेव जन्मनि सुकृतफलं स्वर्गादि दुष्कृतफलं नरकं तत्साधने सुकृतदुष्कृते त्यजति। सुकृतमुत्तमफलार्थं करोमि। दुष्कृतं भ्रमाज्जातं तत्फलभोगो मम भविष्यतीति न विचारयति। किंतु। यथा ईश्वरः प्रेरयति तथा करोमीति करोति तेन भक्तसाधनत्वं भवतीत्यर्थः। यस्माद् बुद्धयाहं प्रसन्नः सन् भक्तिं ददामि तस्मात्त्वं योगाय म इति शेषः। युज्यस्व यत्नं कुरु। ननु योगोपि। कृतिसाध्यात्वात्कर्म एवेति। पूर्वोक्तमध्यपातित्वात् किं योगेनेत्यत आह। योग इति। कर्मसु कौशलम्। चातुर्यं योग इत्यर्थः।

मन्निष्ठात्वान्मद्दर्शनार्थं मनः स्थिरीकरण साधकत्वाच्चातुर्यम्। साक्षाद्भक्त्यधिकार फलानि वा। मदाज्ञया कर्मकरणं योगः। एतदेव कर्मसु चातुर्यं यत्कृत्वापि भक्ति साधने प्रवेशनीयं तादृशो योग उत्तम इतीदानीं तदधिकाराभावात्तथोपदिशति। अन्यथा कर्मस्विति पदं व्यर्थं स्यात् ॥५०॥

इस प्रकार बुद्धि से क्या होगा। 'बुद्धियुक्तो' बुद्धि से युक्त होकर यहीं सुकृत-दुष्कृतों का परित्याग कर देता है। भाव यह है कि यहीं—इस जन्म में ही सुकृत से होने वाले स्वर्गादि फल, दुष्कृत फल नरकादि और इन दोनों के साधनों का परित्याग कर देता है। सुकृत को उत्तम फल की कामना से करता हूं। दुष्कृत जो भ्रम से होगया उसका फल भोग मुझे होगा इसका वह विचार नहीं करता। जैसे ईश्वर प्रेरणा देता है, वैसे ही करता हूँ, यह विचारकर वह कर्म करता है। इससे ही भक्त साधनता होती है। जिस बुद्धि से मैं प्रसन्न होकर भक्ति देता हूँ उस बुद्धि को पाने का यत्न कर।

यदि यह कहें कि योग भी कृति साध्य होने से कर्म है अतः योग से ही क्या ? तो कहा गया है कि कर्म में चातुर्य का नाम योग है।

मुझ में निष्ठाकर, मेरे दर्शनार्थ मन को स्थिर करने का साधन होने के कारण योग को चातुर्य कहा है। अथवा मेरी आज्ञा से कर्म करने का नाम योग है। जिसे करके भक्ति साधन में प्रवेश मिले वह कर्म योग है और वही उत्तम है। इस समय उसके अधिकार के अभाव में उपदेश दिया गया है अन्यथा 'कर्मसु' पद व्यर्थ हो जायगा ॥५०॥

कर्मजं बुद्धि युक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥५१॥

ननु कर्मणां स्वतंत्रफलत्वं, भक्तेः कथं साधनतेत्याशंक्याह कर्मजमिति।

मनीषिणः शास्त्रार्थज्ञातारः। बुद्धियुक्ता बुद्धिर्युक्ता येषां तादृशत्वं च भक्तिप्रयत्नत्वेन ते हि निश्चयेन कर्मजं फलं त्यक्त्वा जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः सन्तोऽनामयं पदं भक्तिरूपं गच्छन्तीत्यर्थः अन्यत्र रोगादिकं भवति। न तु भक्तौ भगवच्चरणरूपायाम्। अत एव श्रीभागवते मृत्युभयाभावत्वं भगवच्चरणे निरूपितम्। मर्त्य इत्यारभ्य मृत्युरस्मादपैतीत्यन्तेन श्लोकेन देवकीस्तुतौ ॥५१॥

(मर्त्यो मृत्युव्यालभीतः पलायल्लोकान्
सर्वान्निर्भयं नाध्यगच्छत्।
त्वत्पादाब्जं प्राप्य यदृच्छयाऽद्य
स्वस्थः शेते मृत्युरस्मादपैति '।
—भागवत १०।३।२७)

यदि यह कहें कि कर्म स्वतन्त्र फलदायी हैं, भक्ति की साधना कैसे ? अतः कहा है 'कर्मजम्'।

मनीषी=शास्त्रार्थज्ञाता बुद्धियुक्त व्यक्ति कर्म से उत्पन्न होने वाले फल का परित्याग कर जन्मबन्ध से निर्मुक्त होकर भक्तिरूप पद को प्राप्त करते हैं। अन्यत्र रोगादि हो जाते हैं। भगवच्चरणरूपा भक्ति में रोगादि नहीं होते। अतएव श्रीमद्भागवत

में देवकी स्तुति में भगवान् के कार्यों में मृत्यु के भय का अभाव सिद्ध किया है ।।५१।।

(जीव मृत्यु ग्रस्त हो रहा है । इस मृत्यु रूप कराल व्याल से भयभीत होकर सम्पूर्ण लोक लोकान्तरों में भटकता रहा है, परन्तु इसे कभी भी ऐसा स्थान नहीं मिल सका, जहाँ यह निर्भय होकर रहे । आज बड़े भाग्य से आपके चरणारविन्दों की इसे शरण मिल गई इसलिये स्वयं मृत्यु भी इससे भयभीत होकर भाग गई है ।

— भागवत १०।३।२७)

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ।।५२।।

ननु तत्प्राप्तिः कदा स्यादित्यत आह यदा त इति । ते बुद्धिर्यदा मोहकलिलं मोहगहनं लौकिकेषु देहादिषु विशेषणाऽतितरिष्यति तदा निर्वेदं मोक्षं गमिष्यसि । श्रोतव्यस्य अग्रे प्रोच्यमानस्य शास्त्रतो वा श्रुतस्य च निर्वेदं तदैव गन्तासि । यद्वा । च पुनः । श्रुतस्य पूर्वोक्तसांख्यादेः यदा ते बुद्धिर्मोहकलिलं विशेषेण अतितरिष्यति तदा श्रोतव्यस्य भक्तिमार्गस्य निर्वेदं गन्तासि । अत्रायं भावः । यावत्पर्यन्तं कर्मादिमार्गेषु मोहस्तावद्भक्तिमार्गफलं न भवति । तस्यानन्यसाध्यत्वात् । अत एवाग्रे तथैवोपदेष्टव्यः । अश्रुनाऽधिकाराभावान्नोपदिश्यते अधिकारसंपत्त्यर्थं च सूचितः ।।५२।।

यदि यह प्रश्न हो कि तुम्हारी प्राप्ति कैसे हो तो कहते हैं 'यदा ते' ।

तेरी बुद्धि जब मोह गहन लौकिक देहादि में विशेषतः तैरेगी तब तू निर्वेद= मोक्ष को प्राप्त करेगा । आगे जो सुनने योग्य कहूँगा तभी निर्वेद होगा । अथवा जब पूर्वोक्त सांख्यादि से तेरी बुद्धि दुस्तर मोह को पार करलेगी तब श्रोतव्य=भक्तिमार्ग को तू प्राप्त करेगा । जब तक कर्मादि मार्गों में मोह है तब तक भक्तिमार्ग का फल न होगा, क्योंकि वह श्रम साध्य है । अतः उसका उपदेश आगे करूँगा । अधिकार के अभाव में उसका उपदेश तुझे अभी नहीं करूंगा । इससे अधिकार संपत्ति अर्थ का भी सूचक है ।।५२।।

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥५३॥

एतदेव दृढयति श्रुतिविप्रतिपन्नेति । श्रुतिविप्रतिपन्ना नानाविधधर्मश्रवणेच्छारहिता निश्चला श्रुतैरपि तैर्धर्मैश्चालनायोग्या यदा ते बुद्धिर्भविष्यति समाधौ मच्चिन्तनसमये अचला स्वतो दृढा स्थास्यति तदा योगं मत्सान्निध्यरूपमवाप्स्यसि प्राप्स्यसीत्यर्थः ॥५३॥

इसे ही आगे और दृढ़ किया है 'श्रुति विप्रतिपन्ना ते' कहकर ।

हे अर्जुन, जब तेरी बुद्धि नाना प्रकार के धर्म श्रवण की इच्छा से रहित होगी और श्रुत धर्मों से भी वह नहीं हिलाई जा सकेगी उस समय समाधि में मेरे चिन्तन के समय अचल बनेगी । तुम उस समय मेरे योग को प्राप्त करोगे ॥५३॥

अर्जुन उवाच

स्थित प्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥५४॥

एतदुक्त्वा भगवांस्तूर्णीं स्थितस्तदार्जुनस्तादृग्बुद्धिज्ञानार्थं पृच्छति स्थितप्रज्ञस्येति ।

स्थितप्रज्ञस्य निश्चलबुद्धेः का भाषा । का परिभाषेत्यर्थः । कया परिभाषया सज्ञेयः ।

हे केशव, दुष्टगुणव्याप्तयोरपि मोक्षदायक मम मोक्षार्थं याथातथ्येन कथयेति भावः । समाधिस्थस्य च का भाषा तदपि कथय । स्थितधीः किं प्रभाषेत । श्रोतव्यं चेन्न किंचित्तदा किं ब्रूयादित्यर्थः । स्वोच्चरित वाक्यस्यापि श्रवणसंभवात् ।

किमासीत । कथमुपतिष्ठेत् । किं व्रजेत् । कथं गच्छेदित्यर्थः ॥५४॥

यह कहकर जब श्रीकृष्ण मौन होगये तब अर्जुन ने वैसी बुद्धि के ज्ञानार्थ प्रश्न किया ।

निश्चल बुद्धि की परिभाषा क्या है और उसे जानने का साधन क्या है ?

हे केशव, अर्थात् दुष्टगुण व्याप्तों को भी मोक्षदायी । मेरी मोक्ष के लिये यथायथ कहिये ।

समाधि की भाषा क्या है, स्थित बुद्धिवाला क्या कथन करता है, यदि कुछ सुनना न हो तो क्या कहे, समाधि में उच्चरित वाक्य का भी श्रवण संभव है । वसे कैसे वैठना चाहिये और कैसे चलना चाहिये ॥५४॥

श्री भगवानुवाच–

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥५५॥

भगवान् पृष्ठस्य स्थितप्रज्ञस्य परिभाषामाह प्रजहातीति ।

हे पार्थ मद्वाक्य श्रवणयोग्य । पृथायाः स्वभक्तायाः पुत्रत्वात् स्ववाक्य-श्रवणयोग्यत्वे तथा संबोधितवान् । यदा मनोगतान् स्वमनसि स्थितान्न तु भगवदिच्छया कृपया च प्राप्तव्यान् । भक्त्यादिरूपान् सर्वान् कामान् प्रजहाति प्रकर्षेण त्यजति । स्मरणाभावः प्रकर्षः । ननु कामत्यागे किं फलमित्याशंक्याह । आत्मन्येवेति ।

आत्मन्येव स्वात्मस्वरूपभूते भवति । आत्मना स्वस्यैव जीवात्मस्वरूपेण स्वयमेव तदैक्यस्फूर्त्यानुष्ट इत्यर्थः । अयं भावः । कामाः स्वसंतोषदा भवन्तीति तदर्थयत्नेन तत्पूर्त्या तोषः स च लौकिक एवास्तत्त्यागे चात्मस्फूर्त्या लौकिक-संतोषो भवत्यात्मगामोति फलम् । यदैतादृशः स्यात्तदा स्थितप्रज्ञो निश्चलबुद्धिः स उच्यते कथ्यत इति ॥५५॥

कृष्ण ने कहा, हे पार्थ, अर्थात् मेरे वाक्य के श्रवण योग्य ! यह संबोधन इसलिये है कि अर्जुन पृथा के पुत्र हैं । पृथा कृष्ण की भक्त है । अतः यहाँ स्व वाक्य श्रवण योग्य होने के कारण यह संबोधन है ।

जब मन में स्थित भक्त्यादि रूप कामों को त्यागता है, (काम मन में स्थित का तात्पर्य है कि वे भगवदिच्छा या कृपा से प्राप्त न हों ।) तब वह आत्मरूप में ही स्थित होता है ।

अपने ही जीवात्म स्वरूप से स्वयंभू ही परमात्मा से ऐश्य की स्फूर्ति से तुष्ट होता है । भाव यह कि काम संतोषप्रद होते हैं अत: ये लौकिक हैं, इनका त्याग करके ही आत्म स्फूर्ति होती है । जब साधक इस अवस्था में पहुँचता है तब वह निश्चल बुद्धि कहलाता है ॥५५॥

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥५६॥

किं च । दुःखेषु अनुद्विग्नं मनो यस्य सुखेषु च विगता स्पृहा इच्छा यस्य तादृशो मुनिः मननधर्मयुक्त स्थितधीः स्थितप्रज्ञ उच्यते । ननु दुःखानुद्वेगे सुखस्पृहाभावे च किं स्यादत आह वीतरागभयक्रोध इति ।

विगता रागभयक्रोधा यस्मात्तादृशः स्यात् । एतदेव फलम् । इयं परिभाषा स्थितप्रज्ञस्येति भावः ॥५६॥

जिसका मन दुःखों में उद्विग्न न हो और सुखों में स्पृहा रहित हो, ऐसा मनन धर्मयुक्त व्यक्ति स्थितप्रज्ञ कहलाता है ।

दुःख के अनुद्वेग में, सुख-स्पृहा के अभाव में वह राग, क्रोध, भय से रहित हो जाता है । यही इसका फल है । यही स्थितप्रज्ञ की परिभाषा है ॥५६॥

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५७॥

कथं भाषेतेत्यस्योत्तरमाह । यः सर्वत्रेति ।

यः सर्वत्र संसारे अनभिस्नेहः स्नेहरहितस्तत्तच्छुभमशुभं च प्राप्य

नाभिनन्दति न द्वेष्टि शुभं लौकिकानुकूलं प्राप्य न प्रशंसति। अशुभं तत्प्रतिकूलमवाप्य न द्वेष्टि न विपरीतं वदति तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता सर्वोत्तमेत्यर्थः। अयमर्थः।

यः सुहृदामनुकूलतयाऽभिनन्दनं करोति। तस्य सर्वत्र भगवदीयत्वे वैषम्यं स्यात्। प्रतिकूलकर्तृषु तद्धर्मस्फूर्त्या तं निन्दति भगवत्कृतिविस्मृता स्यात्। अतः सर्वत्र भगवन्मयत्वं ज्ञात्वा शुभाशुभवितर्करहितः शुभमेव भाषते स उत्तम इत्यर्थः ॥५७॥

स्थितप्रज्ञ की भाषण विधि बतलाते हैं।

जो सर्वत्र संसार में स्नेह रहित है, शुभ-अशुभों को प्राप्त करके भी उनकी प्रशंसा नहीं करता और न द्वेष करता है। न कुछ विपरीत कहता है। उसकी प्रज्ञा सर्वोत्तमा है।

भाव यह है कि जो अपने सुहृदों की अनुकूल होने के कारण प्रशंसा करता है उसको सर्वत्र भगवदीय मानने में विषमता आयेगी। और यदि प्रतिकूल करने वालों की निन्दा करता है तो भगवत् कृति विस्मृत होगी। अतः सब कुछ भगवान् का है इसे जानकर शुभ और अशुभ से परे रहकर जो शुभ भाषण ही करे वह उत्तम है ॥५७॥

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५८॥

कथं तिष्ठेदित्यत्रोत्तरमाह। यदा संहरत इति।

यदा अयं सर्वशः सर्वत्र इन्द्रियार्थेभ्यः इन्द्रियभोगेभ्यः। इन्द्रियाणि संहरते तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता भवतीत्यर्थः।

अत्र दृष्टान्तमाह। कूर्मोऽङ्गानीव।

यथा कूर्मः करचरणाद्यङ्गानि स्वभावादपकर्षति। कूर्म दृष्टान्तेन भोग्यदर्शनात् स्वत एवेन्द्रियनिवृत्तिः स्वभावतः स्यात्। तथा संहरणं कर्तव्यं नित्यमिन्द्रियनियमं कुर्वंस्तिष्ठेदित्यर्थः ॥५८॥

'कथं तिष्ठेत्' का उत्तर देते हैं।

जब यह इन्द्रियार्थ—इन्द्रिय भोग्यों से इन्द्रियों को परावर्तित करता है उसकी प्रज्ञा ही प्रतिष्ठित है।

दृष्टान्त से स्पष्ट करते हैं।

जैसे कच्छप अपने कर-चरणादि अंगों को अपने स्वभाव से ही भीतर कर लेता है। कूर्म के दृष्टान्त से भोग्य दर्शन से स्वतः ही इन्द्रिय निवृत्ति हो जायगी। इन्द्रिय संयम करके स्थितप्रज्ञ को रहना चाहिये, यह आशय है ॥५८॥

विषया विनिवर्त्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्त्तते ॥५६॥

ननु इन्द्रियाणामन्नाद्यभावेनेन्द्रियविषयेषु प्रवृत्तिः कथं। कथं न तेषामपि स्थितप्रज्ञतेत्याशंक्याह विषया इति।

निराहारस्य देहिनो विषया विनिवर्तन्ते तत्सत्यमित्यर्थः। परंतु, रसवर्जं रसोनाम तदनुभवार्थाभिलापस्तद्वर्जं तद् गृहीतमित्यर्थः। देहिन इति पदेन तेषां देहाध्यासोऽपि न निवर्त्तत इति ज्ञापितम्। अस्य स्थितप्रज्ञस्य रसोऽपि तदभिलाषोऽपि परमुत्कृष्टं भगवदीयरसं दृष्ट्वा निवर्त्तते। एतावद्वैलक्षण्यमिति भावः ॥५६॥

इन्द्रियों की अन्नादि के अभाव में इन्द्रियविषयों में प्रवृत्ति कैसे होगी और उनकी भी स्थितप्रज्ञता क्यों नहीं होती?

उत्तर में कहा है—कि निराहार देही के विषय स्वतः निवृत्त हो जाते हैं, यह सत्य है, किन्तु वे रसवर्ज हैं (उसके अनुभव-अर्थ की अभिलाषा का नाम रसवर्ज है)।

देहिनः पद से देहाध्यास की निवृत्ति नहीं है।

इस स्थितप्रज्ञ की अभिलाषा तो 'परं रस' भगवदीय रस को देखकर निवृत्त हो जाती है। यही विलक्षणता है ॥५६॥

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥६०॥

ननु इन्द्रियसंयमनं सर्वेषां कर्तुमुचितं स्थितप्रज्ञे को विशेष इति चेत्तत्राह यतत इति द्वाभ्यां ।

हे कौन्तेय, विपश्चितः शास्त्रार्थविदः पुरुषस्य यततोऽपि यत्नं कुर्वाणस्यापि प्रमाथीनि प्रकर्षेण मथनशीलानि इन्द्रियाणि प्रसभं बलात्कारेण मनो हरन्ति ॥६०॥

यदि यह प्रश्न किया जाय कि इन्द्रियसंयम तो सबको ही करना चाहिये, स्थितप्रज्ञ की ही इसमें विशेषता क्यों ?

इसका समाधान दो श्लोकों से किया गया है ।

हे कौन्तेय, शास्त्रों का मर्म जानने वाले, यत्नशील पुरुष के मन को भी इन्द्रियां हर लेती हैं ॥६०॥

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६१॥

अतस्तानि सर्वाणि संयम्य स्ववशगानि कृत्वा मत्परः अहमेव परो यस्य तादृशः युक्तः मयि युक्तः । आसीत । एवं यो मत्परस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता । यस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता तस्येन्द्रियाणि वशे भवन्ति । नान्यस्येत्यर्थः । प्रमाथित्वादिति भावः । अत एव पूर्वार्द्धे विपश्चितामपि तदसामर्थ्यमुक्तम् ॥६१॥

अतः उन सब इन्द्रियों को अपने वश में करके मुझ में युक्त हो ।

जो मुझ में परायण है उसकी प्रज्ञा ही प्रतिष्ठित है । जिसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित है उसकी इन्द्रियां वश में रहती हैं, अन्य की नहीं । क्योंकि इन्द्रियां तो प्रमथनशील होती हैं । इसीलिये पूर्वार्द्ध में विद्वानों की भी असामर्थ्य कही है ॥६१॥

ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते ।
संगात् संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते ॥६२॥

अथ कथं व्रजेतेत्यत्रोत्तरमाह । ध्यायत इति ।

विषयान् ध्यायतः पुंसस्तेषु संग आसक्तिः स्यात् । आसक्त्या किं स्यादित्यत आह संगादिति ।

संगात्कामः संजायते । कामाच्च क्रोधोऽभिजायते । अभितः सर्वतः तद्योग्येष्वपीत्यर्थः ॥६२॥

'कथं व्रजेत्' का उत्तर,

विषयों का ध्यान करते करते पुरुष की उनमें आसक्ति हो जाती है । उस आसक्ति से काम उत्पन्न होता है । काम से क्रोध की उत्पत्ति होती है ॥६२॥

क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृति विभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥६३॥

क्रोधाच्च संमोहः । सम्यक् प्रकारेण मोहो विवेकराहित्यं समोहा-त्स्मृतेर्भगवत्स्मरणस्य विभ्रमः विशेषेण भ्रमः ।

भगवत्स्मरणानन्तरमनुस्मरणभ्रमे विशेषः । स्मृतिभ्रंशात्पूर्वोक्तबुद्धि-नाशः स्यात् । बुद्धिनाशात् प्रणश्यति । पुनस्तत्साधनप्रवृत्तिराहित्य नाशे प्रकर्षः । विषयध्यानसंगरहितो व्रजेति भावः ॥६३॥

क्रोध से सम्मोह होता है । (मोह में विवेक रहितता होती है) सम्मोह से भगवान् के स्मरण का विभ्रम होता है । (भगवान् के स्मरण के पश्चात् अनुस्मरण भ्रम में विशेष है ।)

स्मृति के भ्रंश होने से पूर्वोक्त बुद्धि का नाश होता है और बुद्धि के नाश से प्रणश्यति–नाश होता है । (तत्साधन प्रवृत्ति के अभाव से नाश में प्रकृष्टता है यह 'प्र'

उपसर्ग का भाव है।) भाव यह है कि विषयों के ध्यान का परित्याग कर। यह 'व्रज' का भाव है ॥६३॥

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥६४॥

समाधिस्थस्योत्तरमाह। रागद्वेषवियुक्तैरिति। तु शब्दः पूर्वनिरूपणं व्यावर्त्तयति। विधेयात्मा विधेयो वशवर्त्ती आत्मा भगवान् यस्य तादृशो रागद्वेषादियुक्तैरात्मवश्यैः। स्ववशैः। भगवद्वश्यैर्वा इन्द्रियैः विषयान् भोगान् भगवदिच्छया प्राप्तान् उपयोगं कुर्वन् प्रसादं भगवत्प्रसादमधिगच्छति। अत्रायं भावः। भगवदिच्छया रसज्ञानार्थं रसस्वरूपरसदानेच्छया प्राप्तान् भोगान् आत्मवश्यैर्भगवद्रसाभिलाषिभिस्तद्रसदानार्थं तद्दत्तान् ज्ञात्वा यावत् कार्यसिद्धिम्। भुञ्जतो भगवान् प्रसादं करोति। अतएव श्रीभागवते बाध्यमानोपीत्यारभ्य विषयैर्नाभिभूयत इत्यन्तेन तथैवोक्तम् ॥६४॥

समाधिस्थ का उत्तर—

विधेयात्मा (विधेय=वशवर्त्ती भगवान् हैं जिसके) आत्मवश्य रागद्वेषादि से युक्त अथवा भगवान् के वश में स्थित इन्द्रियों से विषयों को जो भगवदिच्छा से प्राप्तों का उपयोग करता हुआ भगवत्प्रसाद को प्राप्त करता है। भगवान् की इच्छा से रसज्ञान के लिये स्व स्वरूप रसदानेच्छा से प्राप्त भोगों को भगवद्रसाभिलाषियों को तद्रसदान के लिये उनके द्वारा ही दत्त मानकर (जब तक कार्य सिद्ध न हो) भगवान् प्रसाद करते हैं। श्रीमद्भागवत में भी 'बाध्यमानो' से 'विषयैर्नाभिभूयत' पर्यन्त कहा है ॥६४॥

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥६५॥

प्रसादे किं स्यादित्याशंक्याह प्रसाद इति। प्रसादे जाते सति अस्य तदनुग्रहीतस्य सर्वदुःखानां हानिः नाशः स्यात्। सर्वपदेनालौकिकविप्रयोगादीनामपि नाशो ज्ञापितस्तेन संयुक्त एव नित्यं तिष्ठेदिति भावो व्यंजितः।

सर्वदुःखहानौ सत्यां किं स्यादत आह प्रसन्न चेतस इति। दुःखहानौ प्रसन्नं चेतो यस्य तादृशो भवति। ततस्तस्य अनु शीघ्रमेव बुद्धिः पर्यवतिष्ठते। मयीति शेषः ॥६५॥

प्रसाद से लाभ,

प्रसाद होने पर भगवान् के द्वारा अनुगृहीत व्यक्ति के समस्त दुःख दूर हो जाते हैं।

सर्व पद से अलौकिक विप्रयोगादिकों का भी नाश ज्ञापित होता है। इससे नित्य संयुक्त ही रहे।

सर्व दुःख हानि से क्या होगा ?

दुःख हानि में प्रसन्न चित्त होता है। और उसके बाद बुद्धि शीघ्र ही मुझ में लग जाती है ॥६५॥

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥६६॥

ननु समाधिस्थस्यापि स्थितप्रज्ञतैवोक्ता तदा को विशेष इत्यत आह, नास्ति बुद्धिरिति।

अयुक्तस्य मयि योगरहितस्य बुद्धिरेव नास्ति। अयमर्थः। बुध्यनन्तरं चेन्मयि योगो न जातस्तदा सा स्थितप्रज्ञैव न। तस्मात्समाधिस्थ भगवत्संयोगाभावे स्थितिप्रज्ञाप्यकिंचित्करीत्यर्थः। ननु समाधिस्थयोगेनापि किं फलमित्याशंक्याह। न चेति। अयुक्तस्य भगवत्संबंधरहितस्य भावना भगवद्रसौपयिकदेहाभिलाषो न च भवति। ननु भावनामात्रेणापि किमत आह। न चेति। अभावयतः। भावनामकुर्वतः। शान्तिर्भगवद्रसौपयिकदेहावाप्तिर्न च भवति। तादृग्देहिनः साक्षादानन्दानुभवो न भवतीत्याह।

अशांतस्येति। अशांतस्य तादृग्देहाप्त्या तापरहितस्य सुखं साक्षात्संबंधात्मकभजनानन्दानुभवः कुतः स्यादित्यर्थः ॥६६॥

समाधिस्थ की भी तो स्थितप्रज्ञता कही गई है। तब इसमें क्या वैशिष्ट्य।

मुझ में योग रहित की बुद्धि ही श्रेष्ठ नहीं। बुद्धि के बाद भी यदि मुझ में योग नहीं हुआ तो स्थितप्रज्ञता ही कैसी ? अतः समाधि में ही यदि भगवत् संयोग का अभाव हो तो स्थितप्रज्ञता भी व्यर्थ है।

समाधिस्थ योग से लाभ ?

भगवत्संबंध रहित की भावना भगवद्रस उपयोगी देहाभिलाषी नहीं होती।

यदि यह कहें कि भावना मात्र से ही क्या ?

भावना शून्य को शान्ति नहीं। (शान्ति का भाव यह है कि भगवद्रस उपयोगी देह प्राप्ति नहीं, देही को साक्षात् आनन्द का अनुभव नहीं होता)। अशान्त को भजनानन्दानुभव रूप सुख भी प्राप्त नहीं होता ॥६६॥

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥६७॥

ननु भावनायामास्थितचेतसोऽपीन्द्रियनिग्रहः किमर्थं स तु साधनदशापन्नस्यैव संभवति। भावनायुक्तस्य तु सिद्धत्वादेव न प्रयोजनं ज्ञानिन इवेत्याशंक्याह इन्द्रियाणामिति। चरतां लौकिकेषु स्वेच्छया विहरतामिन्द्रियाणां यस्येन्द्रियस्य संगे मनः अनु विधीयते तत्संगे गच्छति तत् तदेव इन्द्रियस्य पुरुषस्य प्रज्ञां भावनात्मिकां हरति तत्र दृष्टान्तमाह वायुर्नावमिति। अम्भसि जले नावं तारणसाधिकां वायुरिव। यथाः प्रबलो वायुरनवस्थितकर्णधारयुक्तां नावं मज्जयति तथेति भावः ॥६७॥

भावना में स्थित के लिये इन्द्रियनिग्रह क्यों कहा है, क्योंकि वह तो साधन दशा प्राप्त को ही होता है। भावना युक्त तो सिद्ध है। अतः ज्ञानी को इसका प्रयोजन ही क्या ?

इस आशंका का उत्तर है—'इन्द्रियाणाम्'।

लौकिकों में जो स्वेच्छापूर्वक विहार करते हैं उनकी इन्द्रियाँ, जिसकी इन्द्रिय के साथ आसक्ति होती है, पुरुष की भावनात्मिका प्रज्ञा का अपहरण करती है।

दृष्टान्त—जिस प्रकार जल में वायु के द्वारा नौका को इतस्ततः ले जाया जाता है या अनवस्थित कर्णधारवाली नौका को वायु जैसे डुबो देती है ॥६७॥

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६८॥

तस्मात्सर्वथेन्द्रियनिग्रहकर्तुरेव प्रज्ञा प्रतिष्ठिता भवतीत्याह तस्मादिति ।

यस्मादिन्द्रियनिग्रहाभावे प्रज्ञा नश्यति तस्मात् यस्य इन्द्रियार्थेभ्यो विषयेभ्य इन्द्रियाणि निगृहीतानि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता भवतीत्यर्थः ।

महाबाहो इति संबोधनेन तथा करणसामर्थ्यं ज्ञापितम् ॥६८॥

अतः जो सर्वथा इन्द्रियनिग्रह करता है उसकी ही प्रज्ञा प्रतिष्ठित कही जाती है। इन्द्रियों का निग्रह न किया गया तो प्रज्ञा नष्ट हो जाती है।

अतः जिसकी इन्द्रियाँ विषयों से निगृहीत होती हैं उसी की प्रज्ञा प्रतिष्ठित होती है।

महाबाहो संबोधन उसको वैसा करने की सामर्थ्य का ज्ञापक है ॥६८॥

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥६९॥

नन्वेतादृशेन्द्रियनिग्रहकृत् किं लक्षण इत्यपेक्षायामाह या निशेति ।

सर्वभूतानां या निशा रात्रौ निद्रायामिव विषयसुखेषु सर्वेषां या निशा सुखवाप्तिः । नितरां शं सुखं यस्यामिति निशा । तस्यां संयमी इन्द्रियनिग्रहकर्त्ता जागर्ति न सुखमवाप्नोतीत्यर्थः ।

यस्यां निशायां भूतानि जाग्रति न सुखं प्राप्नुवन्ति सा भगवत्सुखं पश्यतो मननशीलस्य निशा सुखाप्तिः। तत्सुखस्य कथनायोग्यत्वान्मुनेरिति विशेषणमुक्तम् ॥६६॥

ऐसे इन्द्रियनिग्रह कर्त्ता का लक्षण क्या है ?

समस्त प्राणियों को रात्रि निद्रा में विषय सुख मिलते हैं इसीलिये इसका नाम निशा है।

निरन्तर है सुख जिसमें उसका नाम है निशा। उसमें इन्द्रिय संयम कर्त्ता जागर्ति=सुख प्राप्त नहीं करता।

जिसमें भूत जागते हैं, सुख प्राप्त नहीं करते, वह निशा मननशील को सुखदायी है। वह सुख कथन योग्य नहीं होता। अतः मुनि=मननशील सम्बोधन दिया गया है ॥६६॥

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामायं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥७०॥

ननु लौकिक विषयाणां दर्शनाद्यभावात्कथं प्राप्तिरित्यत आह आपूर्यमाणमिति।

नानानदीभिः आपूर्यमाणमपि अचलप्रतिष्ठं वर्द्धनादिविकाररहितं समुद्रं यद्वदापः प्रविशन्ति तद्वदनेकस्त्रीभिः कामरसे प्रवर्त्यमानं यं भगवत्कामाः सर्वे स्वमनोरथाः स्वार्थं प्रविशन्तीति यो जानाति स शान्ति कामानां शांति परम सुखमाप्नोति। अतएव श्रीभागवते मनोरथान्तं श्रुतयो यथा ययुरित्युक्तम् न कामकामी यस्तु लौकिककामभोगशीलः स न प्राप्नोतीत्यर्थः। यद्वा। यं सर्वेकामाः पूर्वोक्त प्रकारेण प्रविशन्ति तं। योऽदृष्ट्वापि कामयेत तदर्थं वा स शान्ति परमानंदमाप्नोति न तु स्वार्थं कामाभिलाषीति भावः ॥७०॥

लौकिक विषयों का दर्शन नहीं हो सकता अतः उनकी प्राप्ति कैसे ? इस आशंका का समाधान करने के लिये कहा है 'आपूर्यमाणम्' आदि।

नाना नदियों के जल से परिपूर्ण होकर भी जो अपनी प्रतिष्ठा में अचल है। ऐसे समुद्र में जिस प्रकार और जल प्रवेश करते हैं फिर भी उसमें वर्द्धनादि विकार नहीं उत्पन्न होते उसी प्रकार अनेक स्त्रियों से कामरस में प्रवर्तित जिनमें भगवत् काम अर्थात् सम्पूर्ण मनोरथ अपने अर्थ में ही प्रविष्ठ होते हैं, ऐसा जो जानता है वह परम सुख प्राप्त करता है। अतएव भागवत में कहा है—मनोरथान्त तक श्रुतियाँ जाती हैं। जो लौकिक काम भोग शील है वह उसे प्राप्त नहीं करता। अथवा समस्त कामनाएँ पूर्वोक्त प्रकार से जिसमें प्रविष्ट होती हैं, जो बिना देखे भी कामना करता है, वह परमानन्द प्राप्त करता है। अपने लिये उनकी कामना नहीं होती, यह इसका भाव है ॥७०॥

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥७१॥

यतो लौकिककामाभिलाषी न शान्ति प्राप्नोत्यतस्तां त्यजेदित्याह विहायेति यो दुर्लभः पुमान् भगवद्भावनैकयोग्यः सर्वान् कामान् विहाय निःस्पृहः भगवदेकपरश्चरति सर्वत्र वैकल्येन परिभ्रमति निर्ममो देहादिषु निरहंकारो भवति स शान्तिमधिगच्छति, प्राप्नोति ॥७१॥

लौकिक काम चाहनेवाला शान्ति प्राप्त नहीं करता अतः उस अभिलाषा का त्याग कर देना चाहिये।

जो भगवद्भावना के योग्य व्यक्ति सब को परित्याग कर भगवान् के ही परायण रहता है। विकलता पूर्वक जो भ्रमण करता है, देहादि में जिसका अहंकार नहीं होता, वह शान्ति प्राप्त करता है ॥७१॥

एषा ब्राह्मी स्थितः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वाऽस्यामंतकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥७२॥

उपसंहरति एषेति ।

एषा ब्राह्मी ब्रह्मनिष्ठस्य स्थितिः । एनां प्राप्य न विमुह्यति मोहं न प्राप्नोति ।

अन्तकाले क्षणमप्यस्यां स्थित्वा ब्रह्मनिर्वाणं पुरुषोत्तममुक्तिं प्राप्नोति ।

गीतायाश्चोपनिषद्रूपत्वादत्र ब्रह्मपदं पुरुषोत्तमवाचकमेव आजन्मस्थितौ तु किं वक्तव्यमिति भावः ॥७२॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे सांख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

इति श्रीमद्भगवद्गीताटीकायां गीतामृततरंगिण्यां द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

उपसंहार में कहा है—

यह ब्रह्मनिष्ठ की स्थिति है । इसे प्राप्त करके वह मोह को प्राप्त नहीं होता । अन्त काल में क्षण भर भी इसमें स्थित होकर ब्रह्मनिर्वाण—पुरुषोत्तम मुक्ति को प्राप्त करता है ।

गीता उपनिषद् रूप है अतः यहाँ ब्रह्मपद पुरुषोत्तम वाचक है । आजन्म स्थिति में तो कहना ही क्या है ॥७२॥

इति श्रीमद्भगवतगीता की 'गीतामृत तरंगिणी' की श्रीवरी हिन्दी टीका का द्वितीय अध्याय ॥२॥

—

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

तीसरा अध्याय

अर्जुन उवाच

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥१॥

योगसांख्यब्रह्मभावकर्माद्याः प्रश्नवाक्यतः ।
स संशयोऽब्रवीत्कृष्णं भक्तिप्राप्तीच्छुरर्जुनः ॥

एवं पूर्वाध्याये भगवता बुद्धियोगस्य कर्मण उत्तमत्वमुक्तमिति कर्मोपदेशः किमाशय इति संशयाविष्टोऽर्जुन उवाच ज्यायसी चेदिति ।

हे जनार्दन सर्वाविद्यानाशक ते कर्मणः सकाशाद् बुद्धिश्चेज्ज्यायसी श्रेष्ठमता संमता तदा मां घोरे अकरणप्रत्यवाये किंचिदपि कर्मलोपादि विफले कर्मणि किमिति नियोजयसि प्रवर्त्तयसि । केशवेति संबोधनेन दुष्टगुणव्याप्तयोरपि मोक्ष दातृत्वात्तथा कर्मकारयित्वापि चेन्मोक्षं दातुमिच्छसि तदा कर्त्तव्यमेवेति भावो व्यंजितः ॥१॥

योग सांख्य ब्रह्मभाव आदिक कर्म संबंधी विविध प्रश्नों का उत्तर श्रीकृष्ण ने अर्जुन को दिया । अब अर्जुन भक्ति प्राप्ति की इच्छा से प्रश्न करता है ।

द्वितीय अध्याय में भगवान् श्रीकृष्ण ने बुद्धियोग को कर्मयोग से श्रेष्ठ कहा था । कर्मोपदेश का आशय क्या है, इस संशय में अर्जुन ने पूछा—

हे जनार्दन=सर्व अविद्या नाशक, तुमने कर्म से बुद्धि को श्रेष्ठ कहा है तब मुझे उस काम में, जिसके न करने से प्रायश्चित्त करना पड़े, प्रवृत्त क्यों करा रहे हैं ?

केशव संबोधन का भाव यह है कि तुम दुष्ट गुण व्याप्त को भी मोक्ष दाता हो

और कर्म कराने के पश्चात् यदि मोक्ष देने की इच्छा हो तो भी करने योग्य कर्त्तव्य की प्रेरणा देते हो ।।१।।

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे ।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ।।२।।

किं च । स्पष्टतया बोधाभावान्मे बुद्धिर्मोहमवाप्नोतीति यथाऽहं त्वां प्राप्नोमि तत्तथा स्पष्टमाज्ञापयेत्याह व्यामिश्रेणेति ।

व्यामिश्रेणेव वाक्येन क्वचित्कर्म प्रशंससि क्वचिज्ज्ञानमिति रूपसंदेहोत्पादकेन वाक्येन मे बुद्धिं मोहयसीव । भगवद्वाक्यं तु व्यामिश्रं न भवति परंतु जीवैर्न बुध्यत इति इवेत्यनेन ज्ञापितं । मोहयसीत्यत्रापि इवेति पदेन भगवत्सन्निधौ मोहोऽनुचित इति ज्ञापितं । तस्मात्कारणाद्यथा मम बुद्धिमोहोऽपगच्छति तथा एकं श्रेयो रूपं कल्याणरूपं भक्ति प्रतिपादकं वाक्यं निश्चित्य मयि दानेच्छां कृत्वा वद येनाऽहं त्वामाप्नुयां प्राप्नोमीत्यर्थः । पूर्वोक्तव्यामिश्रवाक्यमध्ये नैकस्यापि श्रेयोरूपत्वं मोहकत्वात् । सर्वथा भगवत्प्रापक श्रेयोरूपत्वं भक्तेरेव । अतएव श्रीभागवते तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्येत्यारभ्य श्रेयोभवेदिहेत्यन्तं सर्वेषां न श्रेयोरूपत्वमुक्तम् । अतः पूर्वोक्तमध्ये एकं निश्चित्य वदेति व्याख्यानं न साधु ।।२।।

स्पष्ट बोध मुझे नहीं हुआ अतः मेरी बुद्धि मोह में पड़ी है । मैं तुम्हें जिस प्रकार प्राप्त कर सकूँ उसको स्पष्ट आज्ञा दो ।

आप मिश्रित वाक्यों का प्रयोग कर रहे हैं, अर्थात् कभी तो आपने कर्म की प्रशंसा की है और कभी ज्ञान की । इससे मेरी बुद्धि संदेहयुक्त हो गई है ।

यहाँ 'इव' शब्द का तात्पर्य यह है कि भगवद्वाक्य तो कभी मिश्रित नहीं होता किन्तु जीव इसे समझ नहीं पाते । 'मोहयसीव' में भी 'इव' पद यह बोध करता है कि भगवत्सन्निधि में मोह अनुचित है । अतः मेरा बुद्धिमोह दूर हो ऐसा कल्याणरूप भक्ति प्रतिपादक एक वाक्य निश्चय कर मुझे दान का पात्र समझकर कहिये जिससे मैं तुम्हें प्राप्त करूँ ।

पूर्वोक्त वाक्यों में श्रेयो रूप एक भी वाक्य नहीं। क्योंकि वे मोहक हैं। भगवान् को प्राप्त करनेवाली श्रेयरूपता भक्ति में ही है इसलिये श्रीमद्भागवत में 'तस्मात्मद्भक्ति' से 'श्रेयोभवेत्' के वाक्य तक सब की श्रेयोरूपता नहीं। अतः पूर्वोक्त के मध्य में एक का निश्चय कर कहो, मिश्रित व्याख्यान श्रेष्ठ नहीं ॥२॥

श्रीभगवानुवाच–

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयाऽनघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥३॥

एवमर्जुनस्य मोहापगमार्थं प्रश्नोत्तरमाह कृष्णः। लोकेस्मिन्निति।

हे अनघ=निष्पाप! मद्वाक्यश्रवणयोग्य मया अस्मिल्लोके प्रवृत्तिनिष्ठे द्विविधा निष्ठा पुरा पूर्वं तवाग्रे भक्त्यधिकारसिद्ध्यर्थं प्रोक्ता न तु त्वदर्थमिति भावः।

द्विविधत्वमेव स्पष्टयति। ज्ञानयोगेनेति।

सांख्यानां ज्ञानयोगेन सांख्यानां सर्वत्र भगवदात्मज्ञानवतां ज्ञानयोगेन ब्रह्मनिष्ठोक्ता। योगिनां योगेन भगवदुपासकानां कर्मयोगेन ब्रह्मनिष्ठोक्ता। तयो स्वरूपज्ञानार्थं निष्ठाद्वयमुक्तं न तु त्वदर्थमित्यर्थः ॥३॥

अर्जुन का मोह दूर करने के लिये श्रीकृष्ण ने प्रश्नों का उत्तर दिया।

हे अनघ=निष्पाप! अथवा मेरे वाक्य श्रवण योग्य! मैंने इस लोक में प्रवृत्त दो निष्ठाओं का उल्लेख भक्ति के अधिकार सिद्धि के हेतु किया था, वे तेरे लिये नहीं हैं। जो सर्वत्र भगवान् को देखते हैं, उन्हें ज्ञानयोग से ब्रह्मनिष्ठा बतलाई। योगियों के योग से भगवान् के उपासकों को ब्रह्मनिष्ठा कर्मयोग से बतलाई।

निष्ठा द्वय—ज्ञान निष्ठा और योग निष्ठा तुम्हारे लिये नहीं है। उनका स्वरूप बतलाने के लिये ही उनको कहा गया है ॥३॥

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥४॥

नन्वेवं चेत्तदा मां प्रतिकर्मकरणं किमाशयेनाज्ञप्तमित्यत आह । न कर्मणामिति । कर्मणामनारम्भादकरणान्नैष्कर्म्यं कर्मादिरहितभावं भक्तिरूपं नाश्नुते न प्राप्नोति इत्यर्थः । अत्रायं भावः ।

कर्मस्वरूपज्ञानाभावे त्यागे न कोऽपि पुरुषार्थः सिध्येत् । तस्माद्धेयत्वज्ञानार्थं तत्करणम् । अत एवारंभ एवोक्तो न त्वाद्यं तत्करणमुक्तम् । स्वरूपाज्ञाने केवलं न भवतीत्याह । न चेति ।

संन्यसनादेव स्वरूपाज्ञानात् केवल त्यागेन सिद्धिं त्यागफलं न च समधिगच्छति । न प्राप्नोतीत्यर्थः ॥४॥

यदि अर्जुन विचार करे कि फिर मुझे कर्म करने का आदेश किस आशय से दिया है, अतः कहा है—'न कर्मणाम्'।

कर्म न करने से नैष्कर्म्य—कर्मादि रहित भाव 'भक्तिरूप' प्राप्त नहीं होता। भाव यह है कि जब तक कर्म के स्वरूप का ज्ञान न हो तब तक उसके त्याग में ही पुरुषार्थ क्या है ? अतः ध्येय के ज्ञानार्थ ही उसका करण सिद्ध किया है।

इसलिये आरंभ ही कहा है न कि आरंभ में उसके करण की चर्चा की है। स्वरूप के अज्ञान में केवल (कर्म संन्यास) नहीं होता। इसे ही आगे स्पष्ट किया है।

बिना स्वरूप जाने केवल त्याग (संन्यास) से त्याग का फल भली भाँति प्राप्त नहीं होता ॥४॥

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥५॥

अज्ञात्वा कर्मकरणेतत्त्यागोऽपि न भवति ज्ञात्वाऽज्ञात्वा वा कर्म नु करोत्येवेत्याह । न हीति ।

कश्चित् जातु कदाचित् क्षणमपि अकर्मकृत् कर्माण्यकुर्वन्न तिष्ठति। कुत इत्यत आह।

सर्वः प्रकृतिजैर्गुणः सात्त्विकादिभिः कर्म कार्यते कर्मणि प्रवर्तते। तत्र कारणमाह।

ह्यवश इति हीति निश्चयेन अवशः न मद्वशो भक्त इत्यर्थः। अतस्तदारम्भात् स्वरूपज्ञानानन्तरं प्राकृतकार्यतां तेषु ज्ञात्वा मद्वशो भूत्वा त्यजेदिति भावः ॥५॥

बिना जाने कर्म करने से उसका त्याग भी नहीं होता। जाने या बिना जाने कर्म तो प्राणी करता ही है। अतः कहा है—

कोई भी क्षण भर भी बिना कर्म किये नहीं रहता। प्रकृति से उत्पन्न सात्त्विक आदि गुणों से कर्म में तो प्रवृत्त होता ही है। कर्म में प्रवृत्त होने का कारण है,अवश=मेरा भक्त नहीं है। अतः काम प्रारंभ कर स्वरूप ज्ञान करना चाहिये। और तब उनकी प्राकृत कार्यता जानकर मेरे वश हो उन्हें त्याग देना चाहिये ॥५॥

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥६॥

अज्ञानात्कर्मत्यागी दाम्भिको न त्यागफलमाप्नोतीत्याह। कर्मेन्द्रियाणीति।

कर्मेन्द्रियाणि हस्तपादादीनि संयम्य निरुध्य। मनसा इन्द्रियार्थान् विषयान् स्मरन् य आस्ते तिष्ठति भगवद् ध्यानदशापन्न इव लोकज्ञापनार्थं स विमूढात्मा मिथ्याचारः मिथ्याचरतीति दाम्भिक उच्यत इत्यर्थः ॥६॥

अज्ञान से कर्म का त्याग करनेवाला दाम्भिक त्याग का फल प्राप्त नहीं करता। अतः 'कर्मेन्द्रियाणि' कहा है।

जो हाथ, पैर आदि कर्मेन्द्रियों का नियमन करके रहता है और मन से

इन्द्रियार्थों=उनके विषयों का स्मरण करता हुआ लोकों को 'भगवान् के ध्यान में निष्ठ है' ऐसा प्रतीत कराता हुआ विमूढ़ात्मा दाम्भिक कहलाता है ॥६॥

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्याऽऽरभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥७॥

स्वरूपज्ञानेन त्यागी उत्तमस्तत्त्यागस्वरूपं तस्योत्तमत्वमाह यस्त्विति ।

तु शब्दो लौकिकार्थनिग्रहपक्षं व्यावर्तयति । य इन्द्रियाणि मनसा नियम्य मनसा मदर्थं नियमे स्थापयित्वा कर्मेन्द्रियैर्वाक्चक्षुर्हस्तादिभिः कर्मणां कृतीनां योगं मया सह योगमसक्तः स्वसुखाभिलाषाभावेन मत्सुखार्थमेवारभते स विशिष्यते विशिष्टो भवति उत्तमो भवतीत्यर्थः ॥७॥

स्वरूप ज्ञान से ही वह उत्तम त्यागी है। उसकी उत्तमता बतलाते हैं।

तु शब्द लौकिकार्थ निग्रह पक्ष की व्यावृत्ति कराता है।

जो इन्द्रियों को मन से वश में करके कर्मेन्द्रियों से भी स्वसुख की अभिलाषा का परित्याग करके मेरे सुख के लिये जो आरम्भ करता है वह विशिष्ट होता है ॥७॥

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्राऽपि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥८॥

यस्माल्लौकिक फलोत्पत्त्यर्थं कर्तुं न फलमलौकिकं मदर्थं कर्मकर्तुरुत्तमं फलमतस्त्वं मदर्थं नियतं कर्म कुर्वित्याह नियतमिति ।

त्वं नियतं नित्यं मत्सेवादिरूपं कर्म कुरु। पूर्वोक्तन्यायेन मदर्थं वा। यतोऽकर्मणः कर्मत्यागकर्तुर्ज्ञानवतः सकाशात् कर्म मत्सेवादिरूपं ज्यायः अधिकतरं। किं च। ते मदर्थं मत्क्रीडार्थं गृहीतशरीरकार्यम्। अकर्मणः। सेवादि रहित ज्ञानमार्गे प्रपन्नस्य प्रकर्षेण न सिध्येत् न सेत्स्यतीत्यर्थः। ज्ञान-मार्गेऽपि ज्ञानप्राप्तिपर्यन्तं शरीराऽपेक्षास्ति तदनन्तरं तु नापेक्षा भक्तिमार्गेवद-

क्षण्वतां फलमिदमितिन्यायेन । तस्मात्सर्वात्मना सेन्द्रियशरीरकार्यसिद्धौ प्रकर्ष इति भावः ।

अत एव वियोग क्लेशादिरससिद्ध्यर्थं शरीरपदमुक्तम् ॥८॥

लौकिक फलों की उत्पत्ति के लिये कर्त्ता को फल प्राप्ति नहीं। मेरे लिये जो कर्म करता है उसको उत्तम फल प्राप्त होता है अतः मदर्थ कर्म कर।

तू मेरी सेवा आदि रूप कर्म को नियत=नित्य कर या मेरे लिये कर। क्योंकि दो प्रकार के प्राणी होते हैं—एक तो कर्म त्याग करनेवाले और दूसरे मेरी सेवा करने वाले। इनमें सेवा करने वाला ही श्रेष्ठ है। तूने मेरी सेवा के लिये शरीर ग्रहण किया है अतः सेवादि रहित ज्ञानमार्ग में प्रकृष्टता नहीं मिलेगी। ज्ञानमार्ग में भी ज्ञानप्राप्ति पर्यन्त शरीर की अपेक्षा है, तदनन्तर अपेक्षा नहीं। जैसा कि भक्तिमार्ग में 'अक्षण्वतां फलमिदम्'[1] इस न्याय से कहा गया है। अतः सर्वात्मना इन्द्रिय शरीर कार्य सिद्धि में प्रकृष्ट है। अतएव वियोग क्लेशादि रससिद्धि के लिये शरीर पद कहा है ॥८॥

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर ॥९॥

नन्वेवं चेत्तदा कर्माकरणं पूर्वं कथमुक्तमित्याशंक्याह । यज्ञार्थादिति ।

अन्यत्र मत्सेवातोऽन्यत्र कर्ममार्गे कर्मबन्धनः कर्मनिबन्धनोऽयं लोकः । कर्मणो यज्ञार्थादित्युक्त्वा कर्म कार्यमित्याहुस्ततस्तत्कर्म न मत्फलकमिति मया बन्धकत्वात्तत्त्याग उक्तः । यतस्तत्कर्म बन्धकमतस्तत्त्यक्त्वा कर्म कुर्वित्याह । तदर्थमिति ।

तदर्थं यज्ञार्थं मुक्तसंगः सन् कर्म मत्सेवारूपं समाचर सम्यक्प्रकारेण कुरु ॥९॥

---

१ 'अक्षण्वतां फलमिदम्' यह श्लोक भागवत दशम स्कन्ध गोपी गीत का है। इसमें गोपियों ने आँखों वाले व्यक्ति का परम धर्म नन्द सुत के दर्शन करना बताया है।

यदि ऐसा है तो कर्म न करने का उपदेश क्यों दिया ? इस आशंका का समाधान करते हैं।

मेरी सेवा से अन्यत्र कर्म मार्ग में बन्धन है। यह लोक कर्म-बन्धन में फंसा है। कर्म यज्ञार्थ है। इससे यह सिद्ध है कि कर्म कार्य है किन्तु वह कर्म मुझ से असम्बद्ध है, अतः वह त्याज्य है। क्योंकि वह कर्म तो बन्धक है। उस बन्धक का परित्याग ही उचित है।

तदर्थं=यज्ञार्थं मुक्तसंग होकर मेरी सेवा रूप कार्य को कर।।६।।

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्।।१०।।

ननु तादृशं कर्म त्याज्यमेव चेत्त्वन्मतं तदा केनोक्तं कथमाचरति लोक इत्याशंक्यैतत्कर्मप्रवृत्तिपरं मदाज्ञया प्रवृत्तिप्रवर्त्तकब्रह्मणोक्तं लोकः समाचरतीत्याह। सहयज्ञा इति।

प्रजापतिः ब्रह्मा सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा प्रवृत्तिधर्मसहिताः प्रजाः सृष्ट्वा पुरा मदवतारात् पूर्वमुवाच। मत्प्रादुर्भावानन्तरं तु मया भक्तिरेवोक्तेति ज्ञापनाय पुरेत्युक्तं। तद्वाक्यमेवाह। अनेनेति।

अनेन यज्ञेन प्रसविष्यध्वं प्रकर्षेण वृद्धिं प्राप्स्यथ। किं च। एष यज्ञः। वो युष्माकम् इष्टकामधुक् अभीष्टफलदोऽस्तु भगवदाज्ञया ब्रह्मवाक्यं न मृषा भवतीति वरमेव दत्तवान्।।१०।।

यदि कर्म त्याज्य ही है तो किसके द्वारा प्रवृत्त हुआ जीव क्यों कर्म करेगा ?

कृष्ण ने कहा कि मेरी आज्ञा से ब्रह्मा के द्वारा निर्दिष्ट लोक इसका आचरण करता है। ब्रह्मा ने प्रवृत्ति धर्म सहित प्रजा उत्पन्न कर मेरे अवतार से पूर्व कर्म—यज्ञार्थ कर्म—का उपदेश दिया था।

पुरा शब्द इस बात का द्योतन कराता है कि मैंने तो अवतार लेकर भक्ति का ही उपदेश दिया है। इस यज्ञ से वृद्धि प्राप्त करोगे। क्योंकि यह यज्ञ तुम्हें इष्ट

फलदायी होगा। भगवान्‌ की आज्ञा से निःसृत ब्रह्मवाक्य मिथ्या नहीं होगा, यह वरदान दिया ॥१०॥

देवान् भावयताऽनेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥११॥

ननु कर्मणा जगतः कथमभीष्टमित्याशंक्याह देवानिति ।

अनेन यज्ञेन देवान् तत्तत्कर्माधिष्ठातॄन् भावयत संवर्द्धयत। ते देवा वो युष्मान् भावयन्तु संवर्द्धयन्तु। अत्रायमर्थः।

हविर्भागैस्तेषु यूयं देवत्वं वर्द्धयन्तु ते च भवत्सु कर्मसाधनानि वर्द्धयन्तु। एवं परस्परं भावयन्तः सवर्द्धयन्तो यूयं देवाश्च श्रेयः स्वाभीष्टं अवाप्स्यथ ॥११॥

कर्म से जगत्‌ की अभीष्ट सिद्धि कैसे ? इसका उत्तर देते हैं—

ब्रह्मा ने कहा, इस यज्ञ से तत्तत्‌ कर्म के अधिष्ठाताओं को बढ़ाओ और वे देव तुम्हारा संवर्द्धन करेंगे।

भाव यह है कि हविष्यान्न से तुम लोग देवत्व को बढ़ाओ और तुम में वे कर्म साधन बढ़ायें। इस प्रकार भावना पूर्वक तुम और देवगण दोनों ही अभीष्ट प्राप्त करेंगे ॥११॥

इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुंक्ते स्तेन एव सः ॥१२॥

ननु श्रेयसोऽनेकरूपत्वात्किंलक्षणाःश्रेयः प्राप्तिर्भविष्यतीत्याह। इष्टानिति।

वो युष्मभ्यं यज्ञभाविता देवा इष्टान् भोगान् वृष्टचादिकरणेनान्नादीन् दास्यन्ते। यद्वा। वो युष्मभ्यं इष्टान् यदेवेष्टं भवताम्। भगवत्सेवौपयिक-

बलाद्यर्थमन्नादिसंपत्त्यर्थं वृष्ट्यादिकं करिष्यन्तीत्यर्थः । ननु तैरेवान्नं देयं चेत्तदा तेभ्यः किमस्य यागकरणेनेत्यत आह तैरिति ।

तैर्दत्तान् अन्नादीन् । एभ्यस्तद्दातृभ्योऽप्रदाय अदत्वा यो भुंक्ते भोगं करोति स स्तेन एव चोर एवेत्यर्थः ॥१२॥

श्रेय के अनेक रूप हैं, तब कैसा श्रेय मिलेगा ?

यज्ञ से संतुष्ट देवगण वृष्टि आदि के द्वारा अन्नादि देंगे अथवा जो तुम्हें इष्ट होगा, वह देंगे । भगवत् सेवा में उपयोगी बलदायक अन्नादि संपत्ति के लिये वृष्टि आदि करेंगे । यदि देवता ही अन्न देंगे तो उनके लिये यज्ञ करना ही व्यर्थ है । उनके द्वारा प्रदत्त अन्न को दाताओं को न देकर जो भोग करता है, वह चोर है ॥१२॥

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।
भुंजते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥१३॥

ननु पूर्वं यजनव्यतिरेकेण यथा दत्तं तथैवाग्रेऽपि दास्यन्त एवातः किं यजनेनेत्यत आह यज्ञशिष्टाशिन इति ।

सन्तः पूर्वंदत्तस्वरूपाभिज्ञाः । यज्ञशिष्टाशिनो भूत्वा सर्वकिल्बिषैर्मुच्यन्ते । अत्रायं भावः ।

वृष्ट्यादिना पूर्वमन्नादिरसोत्पत्तिस्तु भगवद्भोगार्थं तेन स्वभोगकरणं पापरूपमतो ये सन्तो भक्तास्तदुत्पत्तिप्रयोजनज्ञातारो भगवदर्थं पाकादिकं कृत्वा भगवते तत्सर्वं समर्प्य तदुपभुक्तावशिष्टभोजिनस्ते सर्वपापैः सेवाप्रतिबन्धरूपैः मुंच्यन्ते । ये तु पापाः पापरूपा आत्मकारणात् पचन्ति पाकादिक्रियां कुर्वन्ति ते तु अघं पापमेव भुंजते ॥१३॥

यदि यह विचार करें कि यज्ञ के बिना जैसे देवगण देते रहे हैं वैसे ही आगे भी देते रहेंगे अतः यज्ञ करने से ही लाभ क्या ? अतः कहा है 'यज्ञशिष्टाशनः' ।

पूर्वदत्त स्वरूप ज्ञानी यज्ञ का अवशिष्ट भक्षण कर सम्पूर्ण पापों से छूट जाते हैं ।

भाव यह है कि अन्नादि रस को उत्पत्ति तो भगवान् के भोग के लिये है, उसका अपने लिये उपयोग करना पाप रूप है। अतः जो भक्त हैं, अन्नोत्पत्ति प्रयोजन के ज्ञाता हैं वे भगवान् के लिये ही पाकादि व्यंजन निर्माण कर, भगवान् को ही सब कुछ समर्पण कर उनके अवशिष्ट का भोजन कर समस्त पापों (सेवा के प्रतिबन्धकों) से मुक्त हो जाते हैं।

जो अपने ही लिये पाकादि क्रिया करते हैं वे पाप का ही भक्षण करते हैं ॥१३॥

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः ।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥१४॥

ननु रस रूपस्य भगवतोऽन्नादेव केवलात् कथं भोगः सेत्स्यतीत्यत आह। अन्नादिति।

अन्नाद्भूतानि सजीवशरीराणि भवन्ति तैर्भगवद्भोगः सम्यक् सिद्ध्यति। नन्वन्नादेव भूतोत्पत्तिश्चेत्तदा वृष्ट्यादेः किं प्रयोजनमित्यत आह। पर्जन्यादिति।

पर्जन्यादन्नस्य संभव उत्पत्तिर्भवतीत्यर्थः। ननु पर्जन्यश्चेदन्नोत्पादकस्तदा किं यज्ञेनेत्यत आह। यज्ञादिति।

यज्ञाद् भगवदर्थात् पर्जन्यो भवति। ननु भगवदात्मकत्वमेव यज्ञस्य चेत्तदाऽन्यदेवाद्यर्थं कर्मकरणोपदेशः। कथमित्यत आह।

यज्ञ इति यज्ञात्मक भगवद्रूप कर्मणा सम्यगुत्पद्यते। अयमर्थः। भगवदंशत्वेन भगवद्विभूतित्वेन कर्मकरणाद्यज्ञात्मक भगवत्प्राकट्यमित्यर्थः ॥१४॥

यदि यह प्रश्न हो कि भगवान् तो रस रूप हैं, केवल अन्न से ही भोग कैसे होगा ? अतः कहा है--

अन्न से ही सजीव शरीर उत्पन्न होते हैं। और उनसे ही भगवद् भोग अच्छी प्रकार सिद्ध होता है। यदि अन्न से ही भूतों की उत्पत्ति होती है तो वृष्टि से क्या ?

कहा है पर्जन्य से ही अन्न उत्पन्न होता है। यदि पर्जन्य से ही अन्न उत्पन्न होता है तो यज्ञ से क्या लाभ ? अतः कहा है, भगवदर्थ यज्ञ से ही पर्जन्य होता है। यदि यज्ञ भगवदात्मक है तो अन्य देवों के हेतु कर्म करने का उपदेश क्यों ? अतः कहा है कि यज्ञात्मक भगवद्रूप कर्म से ही यज्ञ उत्पन्न होता है।

भाव यह है कि भगवदंश भगवद् विभूति के कारण कर्मकरण रूप यज्ञात्मक भगवान् का ही प्राकट्य है ॥१४॥

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥१५॥

ननु देवानां विभूतिरूपत्वेऽपि साक्षात्पुरुषोत्तम भजनाभावादनुचित-मेवेत्याशंक्याह । कर्मेति ।

कर्म ब्रह्मोद्भवं ब्रह्मणः सकाशादुद्भवं प्रकटं जानीहि । अत्रायं भावः ।

वेदात्कर्मोत्पत्तिः स च ब्रह्मनिःश्वासस्तेन तथा । ब्रह्मणः पुरुषोत्तमत्व-ज्ञापनार्थं विशिनष्टि अक्षरसमुद्भवमिति तद् ब्रह्म अक्षरसमुद्भवम् । अक्षरस्य समुद्भवो यस्मात्तादृशम् । अक्षरस्य पुरुषोत्तमचरणात्मकत्वात्तथा तस्मात्कारणा-त्सर्वगतं सर्वव्यापकं सर्वरूपं नित्यं यद् ब्रह्म तदेव यज्ञे प्रतिष्ठितं तेन न पूर्वोक्तदोष संभावनेतिभावः ॥१५॥

यदि यह विचार करें कि देवता भले ही भगवान् की विभूति हों किन्तु साक्षात् पुरुषोत्तम के भजनाभाव में उनका यजन अनुचित है। अतः कहा है—

कर्म की उत्पत्ति ब्रह्म से ही है। भाव यह है कि वेद से कर्म उत्पन्न है। वेद ब्रह्म का निःश्वास है। वह ब्रह्म अक्षर से उत्पन्न है। अक्षर पुरुषोत्तम भगवान् का चरण है। इस कारण सर्वव्यापक सर्वरूप नित्य ब्रह्म ही यज्ञ में प्रतिष्ठित है। अतः पूर्वोक्त दोष की संभावना नहीं है ॥१५॥

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥१६॥

एवं भगवदात्मकं कर्म यो न करोति तस्य व्यर्थं जीवनमित्याह एवमिति। एवं प्रकारेण प्रवर्तितं चक्रं स्वतः प्रवृत्तं मदिच्छया मत्क्रीडार्थं प्रवृत्तं यो नानुवर्तयति नानुतिष्ठति सः अघायुः पापायुः पापमेवायुर्यस्य तादृशः। इन्द्रियारामः। इन्द्रियेष्वेव इन्द्रियार्थं वा आरमति न तु मदर्थं मयि वा अतो मोघं व्यर्थं स जीवति। पार्थेति संबोधनात् स स्वभक्तत्वात्तव तथा ज्ञानमनुचितमिति ज्ञापितम् ॥१६॥

इस प्रकार भगवदात्मक कर्म जो नहीं करता उसका जीवन व्यर्थ है।

इस प्रकार प्रवर्तित चक्र का, जो मेरी कीडा के लिये प्रवृत्त है, अनुष्ठान नहीं करता वह पाप रूप आयुवाला, इन्द्रियों में ही रमण करनेवाला या इन्द्रियों के लिये रमण करनेवाला है, मेरे लिये नहीं। अतः वह व्यर्थ ही जीवित है।

पार्थ संबोधन इसलिये है कि तेरा वैसा ज्ञान अनुचित है।

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥१७॥

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थ व्यपाश्रयः ॥१८॥

नन्वेवं चेत्तदा सर्व एव त्वद्भक्ताः कथं न कुर्वन्तीत्यत आह द्वयेन। यस्त्वात्मरतिरेवेति।

यस्तु आत्मरतिरेव आत्मनि मय्येव रतिर्यस्य तादृशः स्यात्। यश्च आत्मतृप्तश्च भगवदानन्देन तृप्तः सुखितः आत्मन्येव भगवत्येव संतुष्टः। स्वभोगापेक्षारहितः। तस्य कार्यं कर्त्तव्यं न विद्यते नास्तीत्यर्थः। तस्य तादृशस्य भक्तस्य कृतेनापि कर्मणा अर्थः प्रयोजनं पुण्यादिरूपं नास्तीत्यर्थः। अकृतेन च कश्चन प्रत्यवाय पापादिकं च नास्तीत्यर्थः। अस्य भक्तस्य सर्वभूतेषु देवादिषु अर्थार्थं मोक्षभक्त्याद्यर्थं च व्यपाश्रय आश्रयो नास्तीत्यर्थः ॥१७-१८॥

यदि ऐसा ही है तो तुम्हारे समस्त भक्त गण ही ऐसा क्यों नहीं करते, इसे दो श्लोकों से कहा है।

जो मुझ में रति करता है और जो भगवदानन्द से तृप्त है, जो आत्मनि= भगवान् में ही सतुष्ट है, अपने लिये भोग की अपेक्षा नहीं रखता, उसे कुछ भी करना शेष नहीं है।

वह यदि कर्म करता है तब भी पुण्यादि रूप प्रयोजन शून्य होता है। यदि वह कर्म नहीं करता तो उसे प्रत्यवाय भी नहीं लगता। ऐसा भक्त समस्त भूतों में देवादिकों में मोक्ष, भक्ति के अर्थ आश्रय की कामना शून्य होता है ॥१७-१८॥

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥१६॥

यतो भक्तानां कर्मादिकरणे अकरणे वा न कोपि पुरुषार्थो हानिर्वाऽस्त्यतस्त्वमपि मदाज्ञारूपत्वेनावश्यकर्त्तव्यत्वात्कर्म कुर्वित्याह तस्मादिति।

यस्माद्भगवद्भक्तानां कर्मकरणे न फलं अकरणे च न प्रत्यवायस्तस्मात्त्वमसक्तोऽनासक्तः सन् सततं कार्यं नित्यकर्म समाचर कुरु। नन्वनासक्ते नापि कृतं कर्म बाधकं भवत्येवेति चेदत आह। असक्त इति।

पुरुषः पुरुषांशो भोक्ताधिकारी होति निश्चयेन असक्तो न तु कापट्येन कर्म आचरन् परं मोक्षं प्राप्नोतीत्यर्थः ॥१६॥

भक्त कर्म करे या न करे, कर्म करने से उन्हें न तो कोई पुरुषार्थ सिद्धि है और न न करने से हानि। अतः अर्जुन तू भी मेरी आज्ञा रूप होने के कारण कर्म कर।

भगवद्भक्तों को कर्म करने में फल नहीं और न करने में प्रत्यवाय नहीं, इसलिये अनासक्त होकर नित्यकर्म करना चाहिये।

यदि यह विचार करें कि अनासक्ति पूर्वक किया कर्म भी बाधक होगा तो कहा है—

पुरुषांश भोक्ताधिकारी ही=निश्चय असक्त है, कपट पूर्वक आचरण कर्त्ता मोक्ष प्राप्त नहीं करता ॥१६॥

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसि ॥२०॥

एवमनासक्ताः कर्मकर्तारो मोक्षं प्राप्ता इत्याह कर्मणैवेति । हीति निश्चयेन । कर्मणा अनासक्तकर्मणा जनकादयः संसिद्धिं मुक्तिं आस्थिताः प्राप्तवन्तः । जनकादयस्तु न साक्षात्त्वां प्रपन्ना इत्यनासक्त्यापि तेषां करणं युक्तम् । न तु मम त्वां प्रपन्नस्योचितमित्याशंक्याह । लोकसंग्रहमिति ।

लोकसंग्रहमपि संपश्यन् कर्तुमेवार्हसि । अत्राय भावः ।

यद्यपि मद्भक्तस्य नावश्यकं तथापि मदाज्ञया लोकसंग्रहार्थं कर्तुमेवार्हसि न तु तज्जनितसिद्ध्याद्यर्थम् । अयमेवार्थ एवकारेण विविच्यते ॥२०॥

अनासक्त कर्म से ही जनकादि मुक्ति को प्राप्त कर चुके हैं । जनकादि तो तुम्हें साक्षात् प्राप्त नहीं कर सके अतः अनासक्तिपूर्वक उनका कर्म करना तो युक्त है किन्तु मेरी शरण में आये हुए तुमको ऐसा करना उचित है । अतः कहा है लोकसंग्रह देखते हुए करना योग्य है । यद्यपि मेरे भक्त को कर्म आवश्यक नहीं तथापि मेरी आज्ञा से लोकसंग्रह के निमित्त ही इसे करना चाहिये ।

तज्जनित सिद्धि के लिये कर्म नहीं करना चाहिये यह 'एव' पद से स्पष्ट है ॥२०॥

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्त्तते ॥२१॥

ननु लोकसंग्रहोपि भक्तानामनुचित एवेत्यत आह । यद्यदा इति ।

श्रेष्ठो मद्भक्तो यद्यदाचरति तदेवेतरो जन आचरति । स मद्भक्तो यदेव प्रमाणं कुरुते लोकस्तदेवानुवर्तते प्रमाणत्वेनांगी कुरुते । अयं भावः ।

भक्तानां लोकसंग्रहो मदाज्ञया कर्त्तव्यः। यतस्तदाचरणं दृष्ट्वा लोकोऽपि तथैव कुर्यात्। तत्स्वरूपाज्ञानेऽपि तदाऽनधिकारित्वात्फलं तु न स्यादेव फलदाने च मदिच्छा न। यतो भक्तिः परमकृपया कस्मैचिदेव दीयते न सर्वेभ्यः। सर्वेभ्यो दाने सृष्टिरेवोच्छिद्येत। अतस्तद्गोपनेन सृष्टिप्रवृत्त्यर्थं बाह्यतः कापट्येन कर्म कर्त्तव्यमिति भावः ॥२१॥

यदि यह शंका उठे कि लोकसंग्रह भी भक्तों को अनुचित है। तो समाधान करते हुए कहा है कि मेरा श्रेष्ठ='भक्त' जैसा आचरण करता है वैसा ही अन्य जन भी करते है। मेरा भक्त जिस प्रमाण मानता है, लोक भी उसे प्रमाण मानता है।

भाव यह है कि भक्तों को लोकसंग्रह मेरी आज्ञा से करना चाहिये जिससे उनके आचरण को देखकर लोक भी वैसा करे। यदि वह स्वरूप नहीं जानता तब भी उसका अनधिकारी होने से फलभागी तो होगा ही नहीं और फलदान में मेरी इच्छा भी नहीं है, क्योंकि भक्ति तो परमकृपा से किसी को ही दी जाती है—सबको नहीं। यदि भक्ति सबको ही दी जाय तो सृष्टि का उच्छेद हो जाय। अतः उसे छिपाकर सृष्टि की प्रवृत्ति के लिये बाह्य रूप से कपट कर्म करना चाहिये ॥२१॥

न मे पार्थास्ति कर्त्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त्त एव च कर्मणि ॥२२॥

मयापि तथैव क्रियत इत्याह। न मे पार्थेति। हे पार्थ, परमानुगृहीत मे त्रिषु लोकेषु किंचन कर्त्तव्यं नास्ति। न वा अनवाप्तं अवाप्तव्यं प्राप्तव्यं तथापि लोकसंग्रहार्थमहं कर्मणि वर्त्ते कर्मकरोमीत्यर्थः ॥२२॥

मैं भी ऐसा करता हूँ। अतः कहा है—'न मे पार्थ'।

हे पार्थ=परमानुगृहीत मुझे तीनों लोकों में कुछ भी करने योग्य शेष नहीं है। और न अप्राप्त को प्राप्त ही करना है तथापि लोकसंग्रह के लिये मैं काम करता हूँ ॥२२॥

यदि ह्यहं न वर्त्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्त्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥२३॥

ननु त्वदकरणे किं स्यादित्यत आह यदीति ।

अहं जातु कदाचिदपि कर्मणि अतन्द्रितो निरालस्यः सन् न वर्त्तेयं न प्रवृत्तो भवामि तदा मनुष्याः सर्वशः मम वर्त्म भक्तिमार्गमनुवर्त्तन्त इत्यर्थः । अतस्तेषां ततो निवृत्त्यर्थं कर्ममार्गप्रवृत्त्यर्थं कर्म करोमीति भावः ॥२३॥

यदि मैं कर्म न करूँ या आलस्य रहित होकर न रहूँ तो सब मनुष्य मेरे भक्ति मार्ग का ही अनुसरण करेंगे। अतः उनकी निवृत्ति के लिये कर्म करता हूँ ॥२३॥

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।
संकरस्य च कर्त्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥२४॥

ननु तथा तत्करणं किं प्रयोजनकमित्यत आह । उत्सीदेयुरिति ।

अहं चेत्कर्म न कुर्यां तदा इमे लोका उत्सीदेयुः । अत्रायं भाव । सर्वेषां भक्तिप्रवृत्तौ सत्यां भगवत्साक्षात्कारो मुक्तिर्वा स्यात्तदा इमे मन्वादयो लोकाः सृष्ट्यभावादुच्छिन्ना भवेयुः ।

अतएव भगवता वृषभध्वजे आज्ञप्तं पाद्मे—'त्वं च रुद्र महाबाहो' इत्यारभ्य 'सृष्टिरेषोत्तरोत्तरे'त्यन्तम् । च पुनरिमाः प्रजा उपहन्यां तदाऽहमेव सकरस्य नरकसाधनस्य कर्त्ता स्यां भवानि । अयमर्थः । मदाज्ञया ब्रह्मादयः । प्रजा सृजन्ति ताश्चेदहमुपहन्यां तदननुकूलो भवामि । तदा संकरस्य क्लिष्टस्य कर्त्ता स्यां प्रजानां च मदिच्छाव्यतिरेकेण भक्तिस्वरूपाज्ञाने सति प्रवृत्तौ संकरत्वं स्यात् फलाभावे भक्तिफलव्यभिचारोऽपि स्यात् तदापि तत्कर्त्ताऽहमेव स्याम ॥२४॥

यदि मैं कर्म न करूँ तो लोक ही उच्छिन्न हो जाय ।

भाव यह है कि भक्ति में प्रवृत्त होने पर सब को भगवत्साक्षात्कार या मुक्ति न होगी तो ये लोक भी नष्ट हो जायेंगे ।

अतएव भगवान् ने वृषभध्वज को आज्ञा दी। पद्मपुराण में 'त्वं च रुद्र महाबाहो' से 'सृष्टिरेषोत्तरोत्तरा' तक यदि मैं ही इस प्रजा को नष्ट करूँ तो मैं ही संकर=नरक साधन का कर्त्ता बन जाऊँगा। मेरी आज्ञा से ब्रह्मादि प्रजा रचते हैं। यदि मैं उनके प्रतिकूल वर्तूं तो संकट का कर्त्ता बनूंगा। भक्ति स्वरूप के बिना जाने प्रवृत्ति होने पर संकर होगा, फलाभाव में भक्तिफल व्यभिचार भी होगा। तब भी उसका कर्त्ता मैं बनूंगा।।२४।।

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ।।२५।।

अतस्तत्स्वरूपज्ञानेन लोकसंग्रहार्थं कर्मस्वनासक्तं कर्म कुर्यादित्याह। सक्ता इति।

यथा अविद्वांसो मूर्खाः कर्मणि सक्तास्तत्फलाभिलाषिणो विषयादीन् न त्यक्तुं समर्थाः कर्म कुर्वन्ति तथा विद्वान् पण्डितो मत्स्वरूपज्ञो लोकसंग्रहं चिकीर्षुः कर्तुमिच्छुरसक्तस्तत्रासक्तिरहितो मदाज्ञया कुर्यादित्यर्थः ।।२५।।

अतः भगवान् के स्वरूप ज्ञान से लोकसंग्रहार्थ कर्मों में अनासक्त होकर कर्म करना चाहिये।

जैसे मूर्ख कर्म में आसक्त होकर उन कर्मों के फल की अभिलाषा वाले विषयादिकों को त्यागने में समर्थ नहीं होते और कर्म करते हैं वैसे ही पण्डित मेरे स्वरूप को जान कर लोकसंग्रह की इच्छा करने वाला उन कर्मों में असक्त रहकर मेरी आज्ञा से कर्म करे ।।२५।।

न बुद्धि भेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम्।
जोषयेत् सर्वकर्माणि विद्वान् युक्तः समाचरन् ।।२६।।

ननु लोकसंग्रहार्थमेव चेत्कर्म कर्त्तव्यं तदा यथा कथंचित्कर्त्तव्यं यथा तेऽज्ञानेन कुर्वन्ति तथा करणं किं प्रयोजनकमित्याकांक्षायामाह। न बुद्धिभेदं जनयेदिति।

कर्मसंगिनां बुद्धिभेदं न जनयेत् । तथा करणे तेषां भ्रमो भवेत् । भ्रमे सति कर्म न कुर्युरेव । ननु कर्मणा चित्तशुद्धौ सत्यां कथं भ्रम इत्यत आह । अज्ञानामिति ।

न हि अज्ञानश्चित्तशुद्धयर्थं कर्म कुर्वन्ति किंतु कर्मैवेश्वरं मन्यमानाः फलरूपेणान्यं पण्डितं कर्म कुर्वाणं वीक्ष्य कुर्वन्ति अत एव कर्मसंगिनामित्युक्तं न तु कर्मिणाम् ।

विद्वान् युक्तो मां हृदि स्थाप्य मद्युक्तः स्वयं समाचरन् सम्यगाचरन् मत्सेवादि कुर्वन् अन्येषां कृत्यर्थं सदा कर्माणि अन्यान् अज्ञान् जोषयेत् कर्म कारयेदित्यर्थः ॥२६॥

यदि लोक संग्रह के लिये ही कर्म करना है तो जो अज्ञान से करते हैं वह क्यों ? अतः कहा है—

कर्म संगियों में बुद्धि भेद उत्पन्न न करे। वैसा करने से उनको भ्रम होगा। और भ्रम होने पर कर्म न करेंगे।

यदि यह कहें कि कर्म से चित्त शुद्धि होने पर भ्रम न होगा अतः कहा है—

अज्ञ लोग चित्त शुद्धि के लिये कर्म नहीं करते, किन्तु कर्म को ही ईश्वर मान कर फल रूप से अन्य पण्डितों को कर्म करता देखकर कर्म करते हैं अतः 'कर्मसंगि' पद रखा है, कर्मि नहीं।

विद्वान् युक्त होकर मुझे हृदय में स्थापित करके, मेरी सेवादि करके अन्यों—अज्ञों को भी कर्म में प्रवृत्त कराये ॥२६॥

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढात्मा कर्त्ताऽहमिति मन्यते ॥२७॥

ननु विद्वानपि चेत्तथा कुर्यात्तदाऽविदुषः सकाशात् को भेदस्तज्ज्ञानस्य च क्वोपयोगः । संपूर्णे काले कर्मव्यावृत्त्या सेवाद्यनवसरादित्यतोऽविदुषो विदुषश्च भेदमाह प्रकृतेरिति ।

अहंकारेण विमूढात्मा अविद्वान् सर्वशः प्रकृतेर्गुणैरिन्द्रियैः क्रियमाणानि

कर्माणि अहमेव कर्तेति मन्यते न तु भगवदिच्छाम्। तानि च भगवाँल्लोकव्यामोहार्थं कारयति ।।२७।।

यदि विद्वान् भी वैसा करें तो अविद्वान् से भेद क्या ? और विद्वान् के ज्ञान का उपयोग कहाँ होगा ? क्योंकि विद्वान् को तो सेवादि का अवसर ही नहीं मिलेगा। अतः भेद बतलाते हैं—

अहंकार से विमूढात्मा अविद्वान् इन्द्रियों द्वारा किये गये कर्मों का कर्त्ता अपने को मानता है, भगवान् की इच्छा को नहीं। उनसे भगवान् लोक व्यामोहार्थ कर्म कराते हैं ।।२७।।

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणागुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ।।२८।।

एवमविदुषः स्वरूपमुक्त्वा विदुषस्स्वरूपमाह। तत्त्वविदिति।

हे महाबाहो, ज्ञानाक्रियाकरणसमर्थ क्रियावान् गुणकर्मविभागयोस्तत्त्ववित् गुणागुणेषु वर्तन्त इति मत्वा कर्मसु न सज्जते। अत्रायं भावः।

गुणास्तु भगवता सात्त्विकादिभावभिन्नविचित्र स्वरसभोगार्थं प्रकटी कृताः। अत एव व्रजविलासिनीषु सात्त्विकादिगुणा निरूपिताः श्रीभागवते। कर्म तु लोकसंग्रहार्थं कार्यते। तथा चैतद्विभागतत्त्ववित् गुणा जीवस्था गुणेषु भगवद्गुणेषु वर्त्तन्ते प्रभुः स्वरसभोगार्थं गुणभावैस्तदुपयोगिकर्माणि कारयति। अन्यानि कर्माणि तु लोकार्थं कारयतीति मत्वा मूढवदेवाहमेव कर्त्ता तत्फलं मम भविष्यतीति न सज्जत इति भावः ।।२८।।

अविद्वान् का स्वरूप बतलाकर विद्वान् का स्वरूप बतलाते हैं।

हे महाबाहो, ज्ञान पूर्वक क्रिया करने में समर्थ गुण कर्म विभाग का तत्त्व जाननेवाला, गुण गुण में ही रहता है, यह मानकर कर्म में आसक्त नहीं होता।

भगवान् ने गुणों को सात्त्विकादि भावभिन्न विचित्र स्वरस को भोगार्थ प्रकट किया है। अतः भागवत में व्रज विलासिनियों में सात्त्विकादिगुण निरूपित किये हैं। कर्म

तो लोकसंग्रहार्थ ही किया गया है । जीवस्थगुण भगवद् गुणों में रहते हैं । इस विभाग तत्त्व को जाननेवाला और प्रभु ही स्वरस भोग के लिये गुणभावों से तदुपयोगी कर्म कराते हैं, अन्य कर्मों को लोकार्थ कराते हैं ऐसा मानकर मैं ही कर्ता हूँ, इस कर्म का फल भी मुझे मिलेगा, इसमें विद्वान् कभी आसक्त नहीं होते ॥२८॥

प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।
तानकृत्स्नविदो मन्दान् कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥२९॥

ननु ते अज्ञात्वा तथा कुर्वन्तीति तान् शिक्षयेन्न तु पुनस्तथैव प्रेरयेदित्यत आह प्रकृतेरिति ।

प्रकृतेर्गुणैः संमूढाः कर्मफलाभिलाषिणो गुणकर्मसु देहधर्मेषु फलार्थी सज्जन्ते आसक्ता भवन्ति । यतोऽकृत्स्नविदः भगवत्प्राप्तिरूपं अशेषफलरूपं न जानन्ति । कर्मफलं लौकिकसुखं फलरूपं जानन्तीत्यर्थः । यतस्ते तत्रासक्तास्तेन ततो न मनो भगवति संविशेदतस्तान् मन्दान् मूर्खान् भूयः फलासक्तचित्तान् । कृत्स्नवित् भगवत्प्राप्तिरूपाशेषानन्दवित् न विचालयेत् । भगवन्मार्गे न प्रेरयेत् । ततोऽपि वा न चालयेत् । दुष्टसंगात् स्वस्यान्यथाभावं नयेदिति भावः ॥२९॥

यदि यह शंका करें कि वे अनजान में वैसा करते हैं तो उन्हें शिक्षा देनी चाहिये, प्रेरणा नहीं । अतः कहा है—

प्रकृत गुणों से संमूढ हुए कर्मफल की अभिलाषा वाले गुणधर्म=देहधर्म में फलार्थ आसक्त नहीं होते । वे अकृत्स्नविद् हैं=भगवत्प्राप्तिरूप अशेषफल रूप को नहीं जानते । कर्म के फल को लौकिक सुख फलरूप जानते हैं । क्योंकि वे वहाँ आसक्त हैं, अतः भगवान् में मन नहीं लगता । इसी से उन फलासक्त मूर्खों को कृत्स्नविद्= "भगवत्प्राप्तिरूप अशेषानन्दवेत्ता" भगवन्मार्ग में प्रेरित न करे । कर्म से भी विचलित न करे । दुष्ट संग से स्वयं दूर रहे ॥२९॥

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युद्धचस्व विगतज्वरः ॥३०॥

ननु तेषां कर्मकारणार्थं स्वस्य कर्मकरणे यावत्कालो गच्छति तावत्काल-व्यर्थीभावाऽपराधः स्वस्य स्यादित्यत आह। मयि सर्वाणीति।

मयि संन्यस्य अधिदैविक भावेन सर्वं त्यक्त्वाऽध्यात्मचेतसा अध्यात्मभावेन मदाज्ञारूपेण सर्वाणि कर्माणि कुर्वित्यर्थः। मदाज्ञयाकरणे कालव्यर्थता न भविष्यतीति भावः।

सर्वपदेन लौकिककार्याण्यपि कुर्वित्यर्थः। लौकिक कर्मकरणमेवाह। निराशीरिति। निराशीः युद्धजस्वर्गादिफलानभीप्सुः। निर्ममः राज्यादिप्राप्तभावरहितः स्वीयेषु परेषु च भ्रातृ गुर्वादिबुद्धिरहितो विगतज्वरो लौकिकतापरहितो मदाज्ञया युद्ध्यस्व युद्धं कुर्वित्यर्थः। त्वामुद्दिश्य तु क्षात्रं कर्म युद्धरूपं मयोच्यते न तु पूर्वोक्त मन्यत्कर्म। अतो युद्धमेव कुर्वित्यर्थः ॥३०॥

यदि यह शंका हो कि कर्म कराने के लिये, अपने कर्म करने के लिये जितना समय व्यतीत होता है उतना व्यर्थ है। इसका अपराध भी अपने को होगा। अतः कहा है—

मुझ में सन्यास लेकर अर्थात् आधिदैविक भाव से सब कुछ त्याग कर अध्यात्म-चित्त से मेरे आज्ञा रूप में सब कर्म करे। मेरी आज्ञा से करने पर काल व्यर्थता न होगी।

सर्व पद से लौकिक कार्य करने की भी आज्ञा है। लौकिक कर्म करने के लिये ही कहा है कि निराशीः=युद्ध में मिलने वाले स्वर्गादि फल न चाहने वाला, निर्ममः=राज्यादि मेरे नहीं ऐसा विचार करनेवाला, अपने परायों में भ्रातृ गुरु आदि वृद्धि से रहित होकर लौकिक ताप से रहित होकर युद्ध कर।

तुझे उद्देश्य करके तो क्षात्रकर्म युद्ध रूप मैं कह रहा हूं, अन्य कर्म नहीं। अतः तू तो युद्ध ही कर ॥३०॥

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥३१॥

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान् विद्धि नष्टानचेतसः ॥३२॥

अर्जुनार्थं चेद्भगवतोक्तं स्यात्तदार्जुनस्य तत्रैवासक्तिः स्यात्तदाऽग्रे पुष्टिरूपसर्वत्यागोपदेशोऽनुपपन्नः स्यात् । अर्जुनस्यान्यत्रानधिकाराद्भगवदुक्तेषु धर्मेष्वपि न प्रवृत्तिः । स्वयोग्योपदेशार्थं पुनः पुनः प्रश्नानेव कृतवान् । ननु तदर्थं नोक्तं चेत्किमर्थम् । तदर्जुनद्वारा सकलसन्मार्गप्रवृत्त्यर्थमुक्तम् । तदेवाह ।

परं योऽन्योऽप्येवं कुर्यात्तस्यापि कर्मजो बन्धो न स्यादित्याहुः ये मे मतमिति । ये मानवाः सद्धर्मोत्पन्ना मे मतमिदं पूर्वोक्तं श्रद्धावन्तो मदुक्तत्वादनसूयन्तोऽसहिष्णुताहीना अनुतिष्ठन्ति तेऽपि कर्मभिस्तज्जन्यफलभोगैर्मुच्यन्ते । मदाज्ञया कृतत्वान्मदुक्तिविश्वासतोऽन्यकर्माण्यपि मोक्षसाधकान्येव भवन्तीत्यर्थः । ये मदाज्ञात्यागं विहाय कर्मैव फलसाधकं फलरूपमिति ज्ञात्वा कुर्वन्ति ते नश्यन्तीत्याहुः ये त्वेतदिति । ये तु एतन्मम मतं अभ्यसूयन्तः कौटिल्येन जानन्तो नानुतिष्ठन्ति । तान् सर्वज्ञानविमूढान् अचेतसः शून्यहृदयान् नष्टान् नाशं प्राप्तान् विद्धि जानीहि । मदाज्ञातिरेकं कर्मकर्त्तारो नश्यन्तीति भावः ॥३१-३२॥

यदि योगादि के उपदेश केवल अर्जुन के लिये हैं तो अर्जुन की उनमें ही आसक्ति होगी और आगे जिसका वर्णन करेंगे उस पुष्टि रूप त्याग का उपदेश अनुपपन्न होगा । अर्जुन का अन्यत्र अधिकार नहीं है अतः उक्त भगवद्धर्मों में भी प्रवृत्ति न होगी । इसलिये अपने योग्य उपदेश के अर्थ उसने पुनः पुनः प्रश्न किये ।

यदि यह मानें कि अर्जुन के लिये नहीं बतलाये तो भी प्रश्न है क्यों ?

अर्जुन के द्वारा सकल सन्मार्ग प्रवृत्ति के लिये ही कहा है—

जो मानव सद्धर्म से उत्पन्न मेरे मत को श्रद्धापूर्वक, सहिष्णुतापूर्वक श्रवण करते हैं, अनुष्ठान करते हैं, उनको कर्म सम्बन्धी बन्धन नहीं होता । मेरी आज्ञा से मेरी उक्ति में विश्वास करने के कारण अन्य कर्म भी मोक्ष के साधक बन जाते हैं । जो मेरी आज्ञा का परित्याग कर कर्म को ही फलसाधक फल मानते हैं वे नष्ट हो जाते हैं । अतः कहा है 'ये मे' ।

जो मेरे मत से ईर्ष्या करते हैं और आचरण नहीं करते उन ज्ञान विमूढ़ों को, शून्य हृदयों को नष्ट हुआ ही समझना चाहिये ।

भाव यह है कि मेरी आज्ञा के अतिरिक्त कर्म करनेवाले नष्ट हो जाते हैं ।।३१-३२।।

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ।।३३।।

ननु त्वन्मतं विहाय नाशसाधने कथमनुवर्त्तन्त इत्याशंक्याहुः सदृशमिति ।

ज्ञानवानपि नरः स्वस्याः प्रकृतेः सदृशं चेष्टते करोति । अत्रायं भावः ।

प्रकृत्यंशो जीवो न भगवदुक्ते प्रवर्तते तदंशत्वात् । अत एव स्मर्यते 'यो यदंशः स त भजेत् ।' माया तु भगवद्दत्तसामर्थ्येन ज्ञानवतोऽपि मोहयति । अत एव मार्कण्डेयपुराणे—

ज्ञानिनामपि चेतांसिदेवी भगवती हि सा ।
बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति ।।

इति उक्तम् ।

ननु मत्संगेन श्रीमद्वाक्येन वा कथं न ते यजन्ति । तत्राहुः । भूतानि प्रकृतिं स्वाधिष्ठानमेव यान्ति । एतदर्थमेव नपुंसकत्वमुक्त । निग्रहः सत्संगादीनां किं करिष्यति । अकिंचित्करेष्वित्यर्थः ।।३३।।

प्रश्न है कि वे तुम्हारे मत का परित्याग कर अन्य कर्म कैसे करते हैं ? अतः कहा है—

ज्ञानवान् मानव भी अपनी प्रकृति के समान चेष्टा करता है ।

भाव यह है कि प्रकृति का अंश जीव भगवदुक्त में भगवान् का अंश होने के कारण प्रवृत्त नहीं होता । अतः कहा भी गया है कि 'जो जिसका अंश है, वह उसे भजे । भगवान् द्वारा दत्त सामर्थ्य से माया ज्ञानवान् को भी मोहित कर लेती है ।

मार्कण्डेय पुराण में लिखा है—

'देवी भगवती ज्ञानियों के चित्त को बलपूर्वक खींचकर महामाया को दे देती है।'

सत्संग से या भगवद् वाक्य से वे यजन क्यों नहीं करते ?

कहा है कि भूत अपने अधिष्ठान को प्राप्त कर लेते हैं, इसलिये ही नपुंसकत्व कहा है। निग्रह सत्संग का कुछ भी बिगाड़ नहीं सकता ॥३३॥

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥३४॥

ननु प्रकृतेर्भगवद्दत्तसामर्थ्यान्निग्रहादीनामसाधकत्वे पुरुषसज्जीवानां कथं फलसिद्धिरित्यत आहुः। इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे इति।

इन्द्रियस्य इन्द्रियाणां जात्यभिप्रायेणैकवचनम्। इन्द्रियस्यार्थे रूपादौ रागद्वेषौ व्यवस्थितौ नियतभावौ। इष्टे रागोऽनिष्टे द्वेषः। अवश्यमेतौ भाविनौ। तयोरिष्टानिष्टयो रागद्वेषयोर्वा वशं नागच्छेत्। यतस्तावस्य परिपन्थिनौ द्वेषिणौ मार्गविच्छेदकौ। अत्रायमर्थः।

मायायाः स्वीयान्तानां तत्सम्बन्धिनां च मोहनसामर्थ्यं भगवता दत्तमतः पुरुषांशो जीव इन्द्रियादिवशं नागच्छेत्तदा मोहो न भवेत्। मायायाः स्वसम्बन्धिमोहकसामर्थ्यज्ञापनायैव पूर्वं भूतानीति नपुंसकलिङ्गमुक्तम्। अत्रोपदेशश्चास्येत्यनेन पुंलिङ्गमुक्तं विषयादिसंगस्य मोहरूपत्वादेव श्री भागवते—

न तथास्य भवेन्मोहो बन्धश्चान्यप्रसंगतः।
योषित्संगाद्यथा पुंसो यथा तत्संगिसंगतः॥ इत्युक्तम् ॥३४॥

यदि यह कहें कि भगवद्दत्त सामर्थ्य से निग्रहादि असाधक है तो पुरुषों को फलसिद्धि कैसे होगी ? अतः कहा है कि इन्द्रिय के लिये राग-द्वेष नियत हैं।

इन्द्रिय में जाति के अभिप्राय से एक वचन है। इष्ट में राग होता है और अनिष्ट में द्वेष। इन दोनों के वश में न रहे, क्योंकि ये राग-द्वेष मार्ग के विच्छेदक हैं।

भगवान् ने माया को सबके मोहन की सामर्थ्य प्रदान की है। अतः पुष्टांश जीव इन्द्रियों के वश में नहीं जा सकता और तब मोह भी नहीं होगा।

भूतानि में नपुंसकलिंग का स्थापन यह सिद्ध करता है कि माया स्व सम्बन्धियों को ही मोहित करती है।

विषयादि संग मोह रूप है अतः 'अस्य' में पुल्लिंग का प्रयोग किया है।

भागवत में भी कहा है कि इसका मोह वैसा नहीं होता जैसा कि स्त्री के संग या स्त्री संगी के संग से होता है ॥३४॥

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥३५॥

ननु सर्वप्रकारेण भगवदुक्तधर्मस्य कठिनत्वेन कथं सिद्धिरित्याशंक्याहुः। श्रेयानिति।

स्वधर्मो भगवद्धर्मः विगुणः अङ्गादिभावरहितः परधर्मात् मोहकधर्मात् स्वनुष्ठितात् सुष्ठुप्रकारेणानुष्ठितात् संपादितात् श्रेयान् उत्तमः। यतः पूर्वं विगुणोऽपि भगवद्धर्मो मरणसमये भगवत्स्मारकत्वेनोपयुक्तो भवति तस्मात् स्वधर्मे सति निधनं मरणं श्रेयः मोक्षप्रापकमित्यर्थः।

परधर्मो मरणसमये पूर्वानुष्ठितः स्वविषयस्मारको भवत्येव, स तत्क्षणे यमदूतादिदर्शकत्वेनाग्रे च नरकादियातनायां तत्साधकत्वेन च भयावहः। भयकर्तेत्यर्थः ॥३५॥

यदि यह कहें कि भगवदुक्तधर्म सर्वतोभावेन कठिन है तो सिद्धि कैसे होगी? अतः कहा है कि—

स्वधर्म=भगवद्धर्म, अङ्गादि भावरहित भगवद्धर्म परमधर्म मोहकधर्म से उत्तम है। क्योंकि विगुण धर्म=भगवद्धर्म मरण समय में भगवान् का स्मरण कराता है। अतः स्वधर्म में मरण श्रेय है, मोक्ष प्रापक है।

परधर्म मरण समय में पहले अनुष्ठित किया हुआ विषय का स्मारक ही होगा। वह धर्म यमदूतादि का दर्शन देने वाला और आगे नरकादि यातनाओं का साधक होने के कारण भयावह है ॥३५॥

अर्जुन उवाच

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥३६॥

अथ पुरुषांशानामधिष्ठाता तु भगवान् स चैवमुपदिशति। माया केषांचन मोहयितुं प्रोक्ता तदा केन चिन्नियुक्तः सन्नयं पापाचरणे प्रवर्तत इत्यर्जुनो जिज्ञासुर्विज्ञापयति।

अर्जुन उवाच। अथकेनेति।

अथ पुरुषः पुरुषसम्बन्धित्वादनिच्छन्नपि हे वार्ष्णेय भक्तिधर्मप्रवृत्त्यर्थं सत्कुलाविर्भूत बलान्नियोजित इव अधिष्ठात्रा प्रेरित इव केन प्रयुक्तः। पापं चरति, पापगतियुक्तो भवति। तत्फलभोगं च करोति ॥३६॥

यदि यह कहें कि पुरुषांशों का अधिष्ठाता तो भगवान् ही है, और वह उपदेश दे रहा है। माया किन्हीं को मोहित करती है तब किन्हीं के द्वारा ही नियुक्त जीव पापाचरण में प्रवृत्त होता है। अतः जिज्ञासु अर्जुन प्रश्न करता है।

हे वार्ष्णेय, यह पुरुष बिना इच्छा भी भक्ति मार्ग की प्रवृत्ति के लिये सत्कुल में आविर्भूत बलपूर्वक नियोजित-सा, अधिष्ठाता द्वारा प्रेरित-सा पाप गति युक्त होता है ॥३६॥

श्री भगवानुवाच–

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥३७॥

एतत्प्रश्नोत्तरमाह भगवान्।

प्रपंचवैचित्र्यार्थप्रकटितत्रिगुणमध्यस्थ विक्षिप्तकरणैकस्वभावरजो-गुणात्मकभगवदंशमोहितस्तत्र प्रवर्त्तते तस्मात्तद्गुणकृतविक्षेपकर्माणि तत्स्व-रूपज्ञानपूर्वकं त्याज्यमित्याह। काम एष इति।

एष इति लौकिकः कामः। रजोगुणसमुद्भवः रजोगुणाद्नुत्पत्तिर्यस्य सः। सर्वेषां द्वेषी शत्रुः। एष एव कामोऽवस्थान्तरापन्नः क्रोधो भवति सोऽपि रजोगुणसमुद्भवः। स महाशनो दुरापूरः। अतएव श्रीभागवते उक्तम्।

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते॥ भा० ९।१९।१४

किं पुनर्महापाप्मा महापापरूपो भगवद्भजनप्रतिबन्धकः।

इह संसारे देहग्रहणानन्तरमेनं वैरिणं विद्धि। इहेति पदादेतद्देहाव-साने सति अलौकिकेऽयमेव कार्याय भविष्यतीति भावः॥३७॥

उत्तर में भगवान् ने कहा कि प्रपंच वैचित्र्य के लिये जिन तीन गुणों को भगवान् ने प्रकट किया है उनके मध्यवाला अर्थात् रजोगुण उस रजोगुणात्मक भगव-दंश से मोहित होकर यह जीव प्रवृत्त होता है। अतः उन उन गुणों द्वारा किये उनके विक्षेप कर्मों को उनके स्वरूप का ज्ञान कर त्यागना ही उचित है। अतः कहा है 'काम एष'।

लौकिक काम रजोगुण से उत्पन्न है। वह सबका द्वेषी है। वही काम अवस्थान्तर में क्रोध होता है। वह महाशन है। उसका पूरा होना कठिन है। अतएव भागवत में कहा है—

कामों की शान्ति काम भोगने से नहीं होती। जैसे कोई हविष्यान्न डालकर सोचे कि अग्नि शान्त हो वैसा ही काम भोग से काम शान्ति समझना है।

यह तो महापाप रूप है। देह ग्रहणानन्तर ही इसे वैरी समझना चाहिये।

इह पद का भाव यह है कि यही देहपात के पश्चात् अलौकिक में कार्य का उपयोगी हो जाता है॥३७॥

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथाऽऽदर्शो मलेन च ।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥३८॥

यतोयं वैरी ततोऽस्य ज्ञानमावर्त्तयति तेन मोहो भवतीत्याह त्रयेण । धूमेनेति ।

यथा धूमेन वह्निराव्रियते । मलेन आदर्श आव्रियते । उल्बेन गर्भावेष्टनेन गर्भ आवृतः । तथा तेन कामेन इदं ज्ञानमावृतम् ।

अत्र दृष्टान्तेषु वन्ह्यादित्रयनिरूपणस्यायं भावः । पूर्वदृष्टान्तेन भगवत्तादात्मकं ज्ञानं व्यज्यते । द्वितीयेन सेवायोग्य स्व स्वरूपप्राप्तिरूपं ज्ञानं व्यज्यते । तृतीयेन बीजभावोत्पत्त्यात्मकज्ञानं व्यज्यते ॥३८॥

काम वैरी है अत: जीवात्मा के ज्ञान को आवृत्त करता है । इससे मोह होता है । इसीलिये कहा है—

जिस प्रकार धूम से वह्नि आवृत रहता है, जिस प्रकार मल से आदर्श= दर्पण आवृत रहता है और गर्भावेष्टन से गर्भ आवृत रहता है उसी प्रकार काम से ज्ञान भी आवृत रहता है ।

यहाँ तीन दृष्टान्त दिये हैं । प्रथम दृष्टान्त से भगवत्तादात्मक ज्ञान, द्वितीय से सेवा योग्य स्व स्वरूप प्राप्ति रूप ज्ञान और तृतीय से बीज भावोत्पत्यात्मक ज्ञान व्यक्त है ॥३८॥

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥३९॥

हे कौन्तेय ! मूलतो भक्त मदुपदेशयोग्य ज्ञानिनो मदंशत्वेन स्वस्वरूपज्ञानवतो । नित्य वैरिणा तेन कामेन ज्ञानमावृतं च पुनरनलेन रसपाचकेनोदरस्थेन तेनापि कामवृद्धिर्भवतीति कामरूपेण ज्ञानमावृतं कीदृशेनानलेन दुरापूरेण दुःखेन पूरणं यस्य सः । अत एव 'जितं सर्वं जिते रसे' इति वचनम् । कामस्यैव वा विशेषम् ॥३९॥

हे कौन्तेय, मेरे उपदेश के अधिकारी ! मेरे अंश के कारण स्व स्वरूप को जानने वाले ज्ञानी को भी यह काम आवृत करता है। उदर में स्थित रस पचाने वाले अनल (अग्नि) के द्वारा भी काम की वृद्धि होती है। इस अग्नि को दुरापूर कहा गया है। इसका आशय है दुःख से ही पूर्ण किया जाता है। इसीलिये कहा गया है कि इस के जीतने पर सब कुछ जीत लिया जाता है। अथवा यह काम का ही विशेष है ॥३६॥

इन्द्रियाणि मनोबुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥४०॥

स कामः कुत्र तिष्ठतीति जिज्ञासार्थमाहुः। इन्द्रियाणीति।

इन्द्रियाणि श्रोत्रादीनि मनोऽन्तःकरणं बुद्धिर्ज्ञानमस्य कामस्याधिष्ठानं स्थानमुच्यते कथ्यते। एतैः करणभूतैर्ज्ञानमावृत्य एष कामः देहिनं विशेषेण मोहयति। स्वयं तु मोहयत्येव पुनरेतैः स्वाश्रयभूतैः सहितोऽधिकं मोहयतीत्युपसर्गेण अज्यते ॥४०॥

स काम की स्थिति बतलाते हैं।

श्रोत्रादि इन्द्रियाँ, मन, अन्तःकरण, बुद्धि इस काम का अधिष्ठान हैं। इन कारणभूतों से ज्ञान का आवरण कर यह काम देही को मोहित करता है। स्वयं तो जीव का व्यामोहन करता ही है। अपने आश्रयभूतों के साथ अधिक मोहनशील बनता है ॥४०॥

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥४१॥

एतैरंगभूतैः स मोहयति शत्रुस्तमेतन्निरोधेन जहीत्याह। तस्मादिति।

यस्मादिन्द्रियैरयं मोहयति तस्मादादौ त्वं इन्द्रियाणि तद्विषयेभ्यो नियम्य स्ववशे स्थापयित्वा हे भरतर्षभ एतन्नियमनसमर्थ ज्ञानविज्ञाननाशनं

शास्त्रीयं भक्तिरूपं ज्ञानं, विज्ञानं, स्वरूपानुभवस्तयोर्नाशकर्त्तारं, पाप्मानं पापरूपमेनमिदानीमपि मत्स्वरूपानुभवे विघ्नकर्त्तारं प्रजहि प्रकर्षेण जहि त्यज ॥४१॥

ऐसे इस प्रचण्ड काम को निरोध से नष्ट करना चाहिये।

सर्व प्रथम यह इन्द्रियों से ही मोह उत्पन्न करता है अतः पहले इन्द्रियों को उसके विषयों से नियमन करना चाहिये।

भरतर्षभ संबोधन नियमन सामर्थ्य को ध्वनन कराता है। यह ज्ञान विज्ञान का नाशक है। शास्त्रीय भक्ति रूप को ज्ञान और स्वरूपानुभव को विज्ञान कहा है। पापरूप काम को नष्ट करना ही उचित है क्योंकि यह मेरे स्वरूप में विघ्नकर्त्ता है ॥४१॥

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥४२॥

नन्विन्द्रियादीनां भगवत्स्वरूपादिविषयानुभावकानां नियमने किं फलमित्यत आह। इन्द्रियाणीति।

इन्द्रियाणि 'अज्ञण्वतां फलमिति न्यायेन' भगवत्स्वरूपदर्शनादिविषयानुभावकत्वेन पराण्युत्कृष्टान्याहुः। भक्ता इति शेषः।

मनसोऽन्यत्र स्थितेन्द्रियैः संयुक्तं भगवत्स्वरूपं न फलरूपं मारणीयदैत्यादिभिरितरेन्द्रियेभ्यः परमुत्कृष्टं मन आहुः। मनोऽपि कामनाद्यणुद्धया बुद्धया हृतं सन्न फलं साधयत्यत आहुः। मनसस्तु सकाशाद् बुद्धिः परा उत्कृष्टेत्यर्थः। अत्रायं भावः।

भगवान् लौकिक देहेन्द्रियादिभिर्नानुभाव्यः किन्त्वविकृतालौकिकभावात्मकात्मस्वरूपेण अतः स आत्मैवोत्तम इति भावः ॥४२॥

इन्द्रियों के नियमन से लाभ ?

इन्द्रियाँ परा हैं अर्थात् श्रेष्ठ हैं क्योंकि 'अश्रण्वताम्' श्लोक में भगवत्स्वरूप दर्शनादि विषयों की अनुभावकता तथा इनकी उत्कृष्टता सिद्ध की है।

मन से अन्यत्र स्थित इन्द्रियों से संयुक्त भगवत्स्वरूप मारने योग्य दैत्यों की तरह से फल रूप नहीं है। अतः इन्द्रियों से उत्कृष्ट मन है, मन भी कामना आदि अशुद्धि युक्त बुद्धि से नष्ट हो जाता है। फल को साधना नहीं करता। अतः कहा है कि मन से उत्कृष्ट बुद्धि है।

भाव यह है कि भगवान् लौकिक इन्द्रियों द्वारा अनुभाव्य नहीं, किन्तु अविकृत अलौकिक भावात्मक स्वरूप से ही आत्मा उत्तम है।।४२।।

एवं बुद्धेः परं बुध्द्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्॥४३॥

यत आत्मा उत्तमस्तस्मात्तमुत्तमं ज्ञात्वा लौकिकं कामं त्यजेत्। तेन फलसिद्धिरित्याहुः। एवमिति।

एवं मदुक्तप्रकारेण बुद्धेः परम् आत्मानं परमुत्कृष्टं बुद्ध्वा आत्मना अविकृतस्वरूपेणात्मानं अविकृतस्वरूपं मनः संस्तभ्य समाधाय स्ववशीकृत्य।

हे महाबाहो, तन्निराकरणसमर्थ, कामरूपं शत्रुं एवं भावनाशकं दुरासदं एवं भूतात्मस्वरूपज्ञानातिरिक्तान्नाश्यं जहि त्यजेत्यर्थः।।४३।।

कृतानां कर्मणां योगो यथा संभवतीश्वरे।
श्रीकृष्णेन तथा चायं कर्मयोगो निरूपितः॥

इति श्रीभगवद्गीता टीकायां गीतामृततरंगिण्यां तृतीयोऽध्यायः।।३।।

आत्मा की उत्तमता जानकर लौकिक काम परित्याग करना ही उचित है, क्योंकि इसी से फलसिद्धि होती है। मेरे कहे प्रकार से आत्मा को बुद्धि से भी उत्कृष्ट मानना चाहिये। अविकृत स्वरूप आत्मा से आत्मा को जानकर और

अविकृत स्वरूप मन का समाधान करके हे महाबाहु, काम रूप शत्रु का वध कर ।।४३।।

कृत कर्मों का योग जैसे ईश्वर में संभावित है उसी प्रकार श्रीकृष्ण ने कर्मयोग का निरूपण किया है ।

इति श्रीभगवद्गीता के गीतामृत तरंगिणी की 'श्रीवरी' हिन्दी टीका का तीसरा अध्याय ।

——

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

चतुर्थ अध्याय

श्रीभगवानुवाच

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥१॥

कर्मसंन्यासयोगस्य स्वस्मिन् योगो यथा भवेत्।
तदर्थं कृपया कृष्णः कौन्तेयं प्रत्युवाच ह ॥१॥

कर्म संन्यासनिरूपणप्रश्नोद्गमार्थं पूर्वानुवाद माह। इममिति त्रयेण।

अहं इमं योगं पूर्वोक्तं अव्ययं सफलं मत्संबंधजनकत्वात्। विवस्वते प्रोक्तवान्। लोकानुग्रहार्थं सोऽपि लोक एतत्प्राकट्यार्थं मनवे प्राह, मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥१॥

कर्म संन्यास योग का अपने में योग का प्रकार जिससे हो उस तत्त्व को श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा।

कर्म संन्यास निरूपण के प्रश्न उत्थान के लिये पूर्वानुवाद का कथन है, 'इमम्' इत्यादि तीन श्लोकों से।

मैंने इस सफल योग को विवस्वान् से कहा। उसने भी लोकोपकार के हेतु प्रकट करने की इच्छा से मनु से कहा और मनु ने इक्ष्वाकु[1] से कहा ॥१॥

एवं परंपराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप ॥२॥

---

१. इक्ष्वाकु मनु का ज्येष्ठ पुत्र था।

एवं परंपराप्राप्तं मत्परंपरयाऽऽप्तमिमं योगं राजर्षयः राज्यादिकं परित्यज्य मदर्थैकप्रयोजनवन्तो विदुः।

ननु परंपरागतं चेदिदानीं केनापि कथं न ज्ञायत इत्याशंक्याहुः। स कालेनेति।

स योगो महता कालेन प्रमाणादिनिरासकेन महता मदिच्छा रूपेण तद्व्यवधानादनवतारदशायां दर्शकाभावान्नष्टः।

परंतपेति संबोधनेन तवोत्कृष्टतापसंक्लेशेनाहं दर्शयामिति ज्ञापितम् ॥२॥

इस प्रकार मेरी परम्परा से प्राप्त इस योग को राजर्षियों ने राज्यादिकों का परित्याग करके मुझमें ही एकतान होकर इसे समझा।

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि यदि यह योग परम्परा द्वारा ही चला आता है तो इस समय उसे कोई क्यों नहीं जानता।

इसके उत्तर में कहा है कि वह योग प्रमाणादि निरासक काल के द्वारा मेरी इच्छा से व्यवधान आ जाने के कारण अवतार दशा में दर्शक के अभाव में नष्ट हो गया था।

परंतप संबोधन से यह व्यक्त किया है कि तेरे उत्कृष्ट ताप संक्लेश से मैं तुझे दिखलाऊँगा ॥२॥

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥३॥

स एवं पुरातनो योगोऽयमिति प्रत्यक्षं मत्संबंधजनकस्ते तुभ्यं प्रोक्तः प्रकर्षेण मत्प्रीत्यात्मकफलयुक्त उक्तः।

ननु योग एव फलसाधकश्चेद्भक्तिरस्मदादिभिः किमर्थं कर्त्तव्येत्याशंक्याह। भक्तोऽसीति।

त्वं भक्तोऽसि सखा चासीति मे मदीयं रहस्यं एतदुत्तमं कर्मयोगादुत्तमं होति निश्चयेन ।।३।।

वह पुरातन योग जो प्रत्यक्ष मेरे सम्बन्ध का जनक है, तुझ से कहा। अथवा प्रकर्ष पूर्वक मेरी प्रीति रूप फल युक्त कहा।

यदि योग ही फल साधक है तो हम जैसे भक्ति क्यों करें ?

अतः कहा है कि अर्जुन तू भक्त है और सखा है। मेरा रहस्य उत्तम है। कर्मयोग से भी उत्तम है, यह निश्चय समझ ।।३।।

अर्जुन उवाच

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः ।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ।।४।।

एवं श्रुत्वाऽर्जुनो भगवतोऽलौकिकस्वरूपत्वाद्विवस्वतो लौकिकत्वात् किमर्थं भक्ति विहाय कर्मयोगं भगवानुक्तवानिति जिज्ञासया पृच्छति। अपरमिति।

भवतो जन्म प्राकट्यमपरं न विद्यते परमुत्कृष्टं पूर्वं वा यस्मात्तादृशं। विवस्वतो जन्म परमुत्कृष्ट पश्चाज्जात वा इतिहेतोस्त्वमादौ तस्मै योगं कथं किमभिप्रायेण प्रोक्तवानेतदहं विजानीयां जानामि तथा वदेति भावः ।।४।।

यह सुनकर अर्जुन ने प्रश्न किया कि आप तो अलौकिक हैं। विवस्वान् लौकिक है। तब भक्ति का परित्याग कर आपने कर्मयोग किस हेतु कहा ?

आपका जन्म प्राकट्य अ+पर है अर्थात् सबसे पहले है और विवस्वान् का जन्म बाद में हुआ है अतः आदि में किस हेतु उससे योग कहा, इसे मैं जिस प्रकार जान सकूं, कहिये ।।४।।

श्रीभगवानुवाच

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ।।५।।

अत्रोत्तरमाह भगवान् । बहूनीति ।

मे जन्मानि बहूनि सन्ति कीदृशानि अव्यतीतानि नित्यानीत्यर्थः। हे अर्जुन, तव च जन्मानि बहूनि व्यतीतानि तानि सर्वाणि तव जन्मान्यहं वेद जानामि यतो यदर्थं यत्रयत्रोत्पादितोऽसि । हे परंतप उत्कृष्ट तपोबलयुक्त तानि मदीयानि त्वं न वेत्थ । न जानासि ।

परंतपेति संबोधनेन तपोबलेन न भगवान् ज्ञायते किन्तु तत्कृपयैवेति भाव: ॥५॥

भगवान् ने उत्तर दिया ।

मेरे जन्म अव्यतीतानि=नित्य हैं । तेरे जन्म बहुत से व्यतीत हैं । उन तेरे सम्पूर्ण जन्मों को मैं जानता हूँ कि तू कहाँ-कहाँ किस लिये उत्पन्न किया गया है । हे उत्कृष्ट तपोबल युक्त, मेरे जन्मों को तू नहीं जानता ।

यहाँ परंतप विशेषण का भाव यह है कि तपोबल से भगवान् को नहीं जाना जा सकता । भगवान् को समझने के लिये उनकी कृपा चाहिये ॥५॥

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥६॥

ज्ञानार्थमेवाह अजोऽपीति ।

अहं भूतानामव्ययात्माऽपि सन् विनाशरहितात्मरूप: सन्नपि ईश्वरोऽपि सन् सर्वकरणसमर्थोऽपि सन् स्वां प्रकृतिं त्रिगुणात्मिकामधिष्ठाय अजजीवरूपेण संभवामि । आत्ममायया अन्तरंगया अजीवरूपेण अव्ययात्मा लीलायोग्यदेहेन संभवामि ।

अत्रायं भाव: । यत्र धर्मरक्षार्थमाविर्भवामि तत्सामयिकजीवेषु कर्मयोगादिजीवेषु लीलार्थं प्रकटीकृतस्वरूपेण रसात्मकभक्तिमेव कथयामि ॥६॥

ज्ञानार्थ ही कहा है । मैं भूतों की विनाशरहित आत्मा रूप होकर, सब कुछ

करने की सामर्थ्य रखते हुए भी अपनी त्रिगुणात्मिका प्रकृति का आश्रय लेकर अजीव रूप से उत्पन्न होता हूँ। अन्तरंग आत्ममाया से निर्जीव रूप से अव्ययात्मा लीला योग्य देह से उत्पन्न होता हूँ।

भाव यह है कि जहाँ धर्म की रक्षा के लिये प्रकट होता हूँ वहाँ कर्मयोगादि जीवों में लीलार्थ प्रकट स्वरूप से रसात्मक भक्ति को कहता हूँ ।।६।।

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम् ।।७।।

एतदेव प्रकटयति यदायदेति।

हे भारत, यदा यदा धर्मस्य मद्भक्त्यादिरूपस्य ग्लानिः संकोचो भवति। अधर्मस्य ज्ञानादिनाशकस्याभ्युत्थानमुत्पत्तिर्भवति। हीति निश्चयेन। तदा आत्मानं लीलोपयोग्यां जीवान् ज्ञानोपयोग्यांश्चाहं सृजामि।

भारतेति संबोधनाद्यथेदानीं धर्मरक्षार्थं त्वं सृष्टोऽसीति ज्ञाप्यते।

आत्मानमित्यत्रैकवचनं मुख्यात्माभिप्रायेण वा ।।७।।

इसे प्रकट कहा है। हे भारत! जब-जब मेरी भक्त्यादिरूप धर्म की ग्लानि = संकोच होता है, अधर्म = ज्ञानादि नाशक की उत्पत्ति होती है, तब लीलापयोगी जीवों को ज्ञानोपयोग्य बनाता हूँ।

भारत संबोधन से यह व्यक्त है कि इस समय भी धर्म रक्षार्थ तू उत्पन्न हुआ है।

'आत्मानम्' में एक वचन मुख्यात्मा के अभिप्राय से है ।।७।।

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ।।८।।

एवं धर्मार्थं जीवान् सृष्ट्वा तेषां रक्षणार्थं चाहं प्रकटो भवामीत्याहुः। परित्राणायेति।

साधूनां भक्तानां परित्राणाय दुष्कृतां धर्मप्रतिपक्षिणां नाशाय धर्मसंस्थापनाय ज्ञानकर्माऽऽश्रमादिरूपस्य सम्यक्प्रकारेण स्थापनाय युगे युगे संभवामीति। सम्यक् प्रकारेण भवामि प्रकटो भवामि न जीववद्भवामि ॥८॥

इस प्रकार धर्मार्थ जीवों को रचकर उसके रक्षणार्थ मैं प्रकट होता हूँ। परित्राणाय आदि से इसे ही बतलाया है।

भक्तों के परित्राण के लिये, धर्म प्रतिपक्षियों के नाश के लिये, धर्म संस्थापन के लिये, ज्ञान-कर्म-आश्रमादि रूप की सम्यक् प्रकार से स्थापना के लिये मैं युग-युग में उत्पन्न होता हूँ सम्यक् प्रकार से प्रकट होता हूं। जीववत् नहीं होता हूँ ॥८॥

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥९॥

तदेव विवृण्वन्ति जन्मकर्मचेति।

मे जन्म प्राकट्यं कर्मक्रियादिव्यं क्रीडात्मकम्। अहं लीलार्थं प्रकटो भवामीत्यर्थः। लीलायां सेवार्थसृष्टदेहेन सेवां कृत्वा तदसामर्थ्ये देहं त्यक्त्वा हे अर्जुन, पुनर्जन्म लौकिकं पूर्ववन्नैति न प्राप्नोति। मामेति मां प्राप्नोति। प्रकर्षेणाप्नोति अलौकिकदेहेन लीलायामिति भावः। अतएव मामित्युक्तं न तु मत्पदं मद्भावं वा एतादृशस्य दुर्लभत्वात्स इत्येकवचनमुक्तम् ॥९॥

मेरा जन्म-कर्म दिव्य क्रीडात्मक है। मैं लीला के लिये प्रकट होता हूँ। लीला में कालिय-दमनादि रूप कर्मों से साधुओं की (भक्तों की) रक्षा होती है। मेरा प्राकट्य क्रीडार्थ है, इसे जो जानता है वह तत्त्व से देह त्यागकर लीला में सेवार्थ रचित देह से सेवा करके उसके असामर्थ्य में देह त्यागकर हे अर्जुन! लौकिक पुनर्जन्म को वह प्राप्त नहीं करता। वह मुझको प्राप्त करता है। अलौकिक देह से लीला में प्राप्त होता है। इसीलिये 'माम्' पद कहा है 'मत्पद' नहीं। इसीलिये 'स' एक वचन कहा है ॥९॥

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥१०॥

एवं भक्तानां स्वप्राप्ति स्वप्राकट्यस्वरूपज्ञानेनोक्त्वा । ज्ञानेन द्वितीयायां स्वप्राप्तिस्वरूपमाहुः वीतरागेति ।

बहवो ज्ञानतपसा ज्ञानयुक्तेन तपसा पूताः सन्तोमामुपाश्रिताः । उप समीपे आगताः । आश्रयणमात्रमेव कृतवन्तो न तु सेवादिकं तादृशा मन्मया मद्रूपं सर्वत्र ज्ञानरूपेण पश्यन्तस्तत्रैव लीना भूत्वा आगताः प्राप्तजन्मानो मद्भावं मोक्षं प्राप्नुवन्ति । कीदृशा वीतराग, भयक्रोधाज्ञानप्रतिपक्ष-रहिताः ॥१०॥

इस प्रकार भक्तों को अपनी प्राप्ति स्वप्राकट्यरूप ज्ञान से कहकर ज्ञान से स्वप्राप्ति स्वरूप कहते है—'वीतराग' ।

ज्ञान तपस्या से पवित्र होकर मेरे समीप आते हैं । आश्रयमात्र द्वारा ही मेरे समीप आये, सेवा करके नहीं । मेरे रूप को सर्वत्र ज्ञानरूप देखकर, उसमें ही लीन होकर जन्म प्राप्त कर मद्भाव=मोक्ष प्राप्त करते हैं । उस समय वे ज्ञान के शत्रु राग-भय-क्रोध से रहित होते हैं ॥१०॥

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥११॥

ननु त्वत्संगता एवैके लीलायां सम्बन्धं प्राप्नुवन्ति एके मुक्ति तत्र किं कारणमित्याशंक्याहुः ये यथा मामिति ।

हे पार्थ, ये मां यथा येन प्रकारेण यदिच्छया वा प्रपद्यन्ते प्रपन्ना भवन्ति अहं तांस्तथैव भजामि । तत्फलरूपेण वशो भवामि । अत्रायमर्थः । यो तु साक्षान्मत्प्राप्त्यर्थं च भक्तिज्ञानमार्गावुक्तौ तत्र यस्योत्तमत्वज्ञानेन यत्र रुचिः स्यात्तस्य तददाने तन्मनोरथो न स्यात् । दुःखं स्यात्तदा ममात्मत्वं भज्येताऽतस्तथा करोमि ।

इत्युक्त्वा मर्यादामार्गीय ज्ञानोपयोग्यजीवानामपि स्नेहभजने पुष्टि-मर्यादायां मत्प्राप्तिरूपं फलं ददामीति व्यज्यते ।

पार्थेति संबोधनेन मूलतो भक्तेऽपि त्वय्येवं प्रश्नयोग्ये त्वत्प्रश्नानु-सारेणोत्तरं प्रयच्छामीति त्वयैवानुभूयत इति व्यज्यते । किं च । ये मनुष्या मम वर्त्म मदुक्तमार्गं पुष्टिमार्गमनुवर्तन्ते मदुक्तप्रकारेण अनु पश्चाद्वर्तन्ते तान् सर्वप्रकारैरहं भजामि व्रजरीत्येति भावः ॥११॥

अर्जुन ने शंका की कि तुम्हारी संगति करके एक व्यक्ति लीला में सम्बन्ध प्राप्त करते हैं, दूसरे मुक्ति, इसमें कारण क्या है ? अतः कहा है 'ये यथा' ।

हे पार्थ, मुझे जो जिस प्रकार से, जिस इच्छा से प्राप्त करना चाहते हैं उन्हें फल रूप से मैं वश में हो जाता हूँ । इसका आशय यह है कि जो दोनों प्रकार के मार्ग (भक्ति मार्ग और ज्ञान मार्ग) बतलाये हैं उनमें उत्तमोत्तम ज्ञान से जिसमें रुचि हो और मैं उसे पूर्ण न करूँ तब उसका मनोरथ पूर्ण नहीं होगा । उसे दुःख मिलने से मेरे आत्मीयत्व में भी बाधा पड़ेगी । अतः मैं वैसा ही करता हूँ ।

श्लोक में प्रारम्भ में 'ये' पद रखा गया है, इसका भाव यह है कि मर्यादा-मार्गीय ज्ञानोपयोग्य जीव भी स्नेह पूर्वक मेरा भजन करते हैं तो उन्हें पुष्टि मर्यादा में मत्प्राप्ति रूप फल मैं दे देता हूँ ।

पार्थ पद भी साभिप्राय है । अर्जुन भक्त है; उसका प्रश्न करना उचित है । अतः तेरे प्रश्नों के अनुसार जो उत्तर देता हूँ उनका अनुभव तुझे ही होगा । जो मनुष्य मेरे उक्त मार्ग अर्थात् पुष्टिमार्ग का अनुवर्तन करते हैं, मेरे कथन का अनुसरण करते हैं, उन्हें मैं सब प्रकार से वैसे ही भजता हूँ जैसे व्रजवासियों को ॥११॥

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः ।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥१२॥

नन्वेवं चेत्तदा कथं न सर्वे त्वामेव सेवन्त इत्याशंक्याहुः काङ्क्षन्त इति ।

इह अस्मिन्नेव जन्मनि सिद्धिं कांक्षन्तो ये वांछन्ति तादृशाः सन्तः कर्मणां देवताः कर्माधिष्ठातार इन्द्रादयस्तान् यजन्ते। यतः क्षिप्रं शीघ्रं मानुषे लोके अस्मिन्नेव जन्मनि कर्मजा सिद्धिर्भवति। न मत्प्राप्तिः।

हीति युक्तत्वाय। तथा चायमर्थः। पुरुषोत्तमसंबंधो न लौकिक देह प्राप्यः किन्त्वलौकिकस्वरूपप्राप्यः। तत्स्वरूपं च लौकिकदेहेन सेवायां क्रियमाणायां प्रेमोत्पत्त्या परीक्षासिद्ध्यनन्तरं तापे जाते तदनुभवार्थत्यागानन्तरमेतद्देहनिवृत्त्यनन्तरं भवति। तत्रापि परीक्षासिद्धौ परमतापे सति तदनुभवः स्यात्। सोऽपि क्लेशानन्दानुभवात्मकः। एतत्सर्वं व्रजे प्रसिद्धं कालीय अन्तर्गत भगवदन्तर्धाने पुनः प्राकट्यरमणवनगमन श्रीमदुद्धवप्रसंगादिभिः। अन्यदेवानां तु जीववदंशरूपत्वादत्रैव लौकिकदेहेन लौकिकफलसिद्धिर्युक्तेति ज्ञापनाय हीति ॥१२॥

यदि ऐसा ही है तो सब लोग आपका ही भजन क्यों नहीं करते? अतः कहते हैं 'कांक्षन्तः'।

इस जन्म में ही सिद्धि की चाहना वाले कर्म के अधिष्ठाता इन्द्रादि देवों की आराधना करते हैं। उन्हें मनुष्यलोक में कर्मजा सिद्धि तो मिल जाती है किन्तु मेरी प्राप्ति नहीं होती।

भाव यह है कि पुरुषोत्तम का सम्बन्ध लौकिक देह द्वारा उपलब्ध नहीं हो सकता। वह तो अलौकिक स्वरूप द्वारा ही प्राप्य है। अलौकिक स्वरूप उपलब्धि का मार्ग यह है, लौकिक देह से सेवा करते हुए प्रेम उत्पन्न है, पुनः परीक्षा सिद्धि के पश्चात् ताप होता है। इसके अनुभवार्थ का त्यागकर इस देह निवृत्ति के अनन्तर अलौकिक स्वरूप उपलब्ध होता है। परीक्षा सिद्धि होने पर परम ताप होता है और फिर उसका अनुभव होता है। वह अनुभव भी क्लेश आनन्द का मिश्रण रूप होता है। यह सब व्रज में देखा गया है। कालियदह में, भगवान् के अन्तर्धान के पुनः प्राकट्य में रमणलीला, वनगमनलीला, उद्धव गोपी संवाद आदि में। अन्य देवों को जीवों की भाँति ही अंश रूप होने के कारण मनुष्यलोक में कृत कर्म की सिद्धि हो जाती है। अतः फलाभिलाषी जन इसमें शीघ्र प्रवृत्त होते हैं। फलाभिलाषी मेरे भजन में प्रवृत्त नहीं होते। इस प्रवृत्ति में उनके लक्ष्य की सिद्धि भी हो जाती है। देवगण मेरे

स्वरूप हैं। लौकिक देह से उन्हें लौकिक फल सिद्धि युक्त ही है, अतः यहाँ इसके ज्ञापन के लिये श्लोक में 'ही' पद रखा गया है ॥१२॥

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।
तस्य कर्त्तारमपि मां विद्ध्यकर्त्तारमव्ययम् ॥१३॥

ननु कर्मसिद्धिरपि त्वां विना कथं भवतीत्याशंक्याह । चातुर्वर्ण्यमिति ।

चातुर्वर्ण्यं वर्णचतुष्टयं गुणकर्मविभागशः । गुणकर्मविभागैः सत्त्वरजस्तमसां यानि कर्माणि तेषां विभागैर्मया सृष्टमतस्तस्य चातुर्वर्ण्यस्य कर्तारमव्ययविनाशिनं ब्रह्मरूपमकर्तारं रसमार्गस्थं रसपरवशं मा तस्य चातुर्वर्ण्यस्य कर्तारमपि विद्धि । इच्छया अंशैः कर्ता न तु साक्षात्स्वयमित्यपि शब्देन बोध्यते । अतो मदंशसंबन्धेन तत्र सिद्धिर्भवतीति भावः ॥१३॥

कर्मसिद्धि भी भगवान् के बिना कैसे होती है, इस आशंका से कहा गया है 'चातुर्वर्ण्यम्' ।

चारों वर्ण गुण कर्म विभागों से मैंने ही बनाये हैं। सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण के जो कर्म हैं उनके विभाग से मैंने सृष्टि की है। मैं अविनाशी हूँ, ब्रह्मरूप हूँ, अकर्त्ता हूँ, रस परवश हूँ, ऐसा भी समझना चाहिये। इच्छा द्वारा अंशों से कर्त्ता हूँ, साक्षात् नहीं, यह ध्वनि 'अपि' शब्द से निःसृत है। अतः मदंश सम्बन्ध से ही सिद्धि होती है, यह भाव है ॥१३॥

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफलेस्पृहा ।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥१४॥

नन्वेवं सिद्धिद्वांसः किमिति कर्म कुर्वन्ति तत्राह । न मामिति ।

मां कर्माणि न लिम्पन्ति वशे न कुर्वन्ति । मे मम कर्मफले यज्ञाद्ये इन्द्रियादिवत् स्पृहा इच्छा न । इति=अनेन प्रकारेण मां योऽभितो जानाति स फलभोगैर्न बध्यते ॥१४॥

प्रश्न यह होता है कि विद्वान् कर्म क्यों करते हैं ? अतः कहा है 'न माम्' ।

मुझे कर्म अपने वश में नहीं करते और न मेरे यज्ञादि फल में ही इन्द्रियों की तरह इच्छा ही होती है । इस प्रकार जो मुझे जानता है वह फल भोगों से बद्ध नहीं होता ।।१४।।

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः ।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ।।१५।।

पूर्वैर्मुमुक्षुभिरपि विद्वद्भिरप्येवं मत्स्वरूपं ज्ञात्वा कर्मकृत मदाज्ञारूपत्वात् कृतमिति भावः । तैर्मदाज्ञया कृतं त्वमपि पूर्वाध्यायोक्तप्रकारेण मदाज्ञयैव कुर्वित्याह एवं ज्ञात्वेति । तस्मादेवं बन्धकाभावादेव पूर्वैर्मुमुक्षुभिः कृत त्वं मदाज्ञारूपत्वेन कर्म कुरु । कीदृशं पूर्वतरं परम्परया मुक्तैरपि मुमुक्षदशायां कृतम् ।।१५।।

मुमुक्षुओं ने भी पहले मेरे स्वरूप को जानकर मेरे आज्ञारूप कर्म को किया था । उन्होंने मेरी आज्ञा का पालन किया । तू भी मेरी आज्ञा का पालन कर । (जैसा कि पूर्वाध्याय में कहा है ।) भगवान् का कथन है कि पूर्व परंपरा से समागत कर्म को करना ही उचित है और उसमें कोई बन्धक भी नहीं है ।।१५।।

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ।।१६।।

ननु लौकिकफलसाधकं कर्मरूपमेवेति चेत्तत्राह । किं कर्मेति ।

किं कर्म कीदृशं कर्म कर्त्तव्यम् । अकर्म किं । अकर्म कीदृशं अकर्त्तव्यम् । इत्यत्र एतज्ज्ञाने कवयोऽपि शब्दार्थज्ञातारोऽपि मोहिता मोहं भ्रमं प्राप्ताः । तत्तस्मात्कारणात्ते कर्म कर्त्तव्यं प्रवक्ष्यामि प्रकर्षेण संदेहाऽभावपूर्वकं कथयामीत्यर्थः । यत्कर्म ज्ञात्वा अशुभादकर्मणो लौकिकफलसाधकात् मोक्ष्यसे मुक्तो भविष्यसि ।।१६।।

लौकिक फल साधक कर्म ही है अतः कहा है 'कि कर्म'।

कैसा कर्म करना चाहिये, अकर्म का त्याग कैसे करना चाहिये, इस विषय में शब्दार्थ ज्ञाता भी भ्रम को प्राप्त हो जाते हैं। अतः तुझे मैं कर्त्तव्य कर्म का निश्चय पूर्वक कथन करूँगा, जिस कर्म को जानकर लौकिक फल साधक अकर्म से मुक्त हो जायगा ॥१६॥

कर्मणोह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥१७॥

तदेवाह। कर्मण इति। हीति निश्चयेन कर्मणः कर्त्तव्यस्य स्वरूपं बोद्धव्यं ज्ञातव्यं ततो ज्ञात्वा कर्त्तव्यमित्यर्थः। मत्स्वरूपज्ञानार्थं विकर्मणः कर्मणः स्वरूपं त्यागार्थं ज्ञातव्यमित्याह। च पुनः विकर्मणो निषिद्धकर्मणः संसार-फलसाधकस्य वा तस्य स्वरूपं तथैव। च पुनः अकर्मणः अकर्त्तव्यस्य आसुरस्य स्वरूपं बोद्धव्यम्। कर्मणो गतिः त्रयाणां कर्त्तव्यस्य पर्यवसानफलाप्तिरूपा गहना दुर्विज्ञेयेत्यर्थः ॥१७॥

कर्त्तव्य कर्म का स्वरूप जानकर करना चाहिये। मेरे स्वरूप के ज्ञान के लिये विकर्म अकर्म का स्वरूप त्यागने के उद्देश्य से जानना चाहिये। च कार से पुनः विकर्म अर्थात् निषिद्ध कर्म का स्वरूप भी त्याग के उद्देश्य से जानना चाहिये और अकर्म अकर्त्तव्य आसुर स्वरूप को भी जानना चाहिये। तीनों कर्त्तव्यों की पर्यवसान फलाप्तिरूपा कर्मगति दुर्विज्ञेया है ॥१७॥

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥१८॥

दुर्विज्ञेयत्वाज्ज्ञानार्थं तत्स्वरूपमाह। कर्मणीति। यः कर्मणि अकर्म पश्येत्। कर्त्तव्ये अकर्त्तव्यं पश्येत्। मत्सम्बन्धं विना मदाज्ञां विना विकर्मणि अकर्त्तव्यं पश्येत्। तथैव मदाज्ञया अकर्मणि अकर्त्तव्ये कर्मणि कर्त्तव्यं पश्येत्। एवं ज्ञात्वा यः कृत्स्नकर्मकर्त्ता मनुष्येषु स बुद्धिमान् भवेत्। स ज्ञानवान् स युक्तः। ममेति शेषः ॥१८॥

दुर्विज्ञेय होने पर भी उसके ज्ञान के लिये उसका स्वरूप बतलाते हैं।

जो कर्म में अकर्म देखे, कर्त्तव्य में अकर्त्तव्य देखे, मेरे सम्बन्ध के बिना, मेरी आज्ञा बिना, विकर्म में अकर्त्तव्य को देखे तथा मेरी आज्ञा से अकर्त्तव्य में कर्म-कर्त्तव्य को देखे। इस प्रकार ज्ञान करने वाला सम्पूर्ण कर्म करता हुआ भी मनुष्यों में बुद्धिमान होता है। वह ज्ञानवान् ही मुझे प्रिय है ॥१८॥

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥१९॥

किंच। यो निष्कामो मदाज्ञात्वेन कर्म करोति स मद्भक्तानां च मे मत इत्याह यस्येति।

यस्य सर्वे समारंभाः सर्व कर्मणां सम्यक् मदाज्ञात्वेन आरंभाः कामसंकल्पवर्जिताः। कामः फलं संकल्पस्तदिच्छा एतदुभयरहिताः। तं ज्ञानाग्निना दग्धकर्माणं ज्ञानाग्निना दग्धानि कर्माणि यस्य तादृश दग्धत्वादग्रे तद्भोगवृक्षोत्पत्ति बीजभावरहितं बुधा भक्ताः पण्डितं शास्त्रोक्तसर्वस्वरूपज्ञमाहुः वदन्ति ॥१९॥

जो निष्काम मेरी आज्ञा के कारण कर्म करते हैं वे मेरे भक्तों को तथा मुझे सम्मत हैं। जिसके समस्त आरम्भ काम-संकल्प से वर्जित होते हैं (काम=फल, संकल्प=इच्छा) उस ज्ञानाग्नि से दग्ध कर्मवाले को पण्डित कहा जाता है। ज्ञानाग्नि से कर्म दग्ध हो जाने पर भोग रूप वृक्ष की उत्पत्ति भी नहीं होगी ॥१९॥

त्यक्त्वा कर्मफलासंगं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः ॥२०॥

ननु फलेच्छारहितस्त्वत्सेवां विहाय किमिति कर्म करोतीत्याशंक्याह। त्यक्त्वेति यो नित्यतृप्तो मन्निष्ठया नित्यं तृप्तः पूर्णः कर्मफलासंगं त्यक्त्वा कर्मफलेच्छासक्तिं त्यक्त्वा निराश्रयः कर्मजनिताऽदृष्टाद्याश्रयरहितः कर्मणि

मदाज्ञात्वेन अभिप्रवृत्तः सोऽपि नैव किंचित्करोति । मदाज्ञारूपत्वात्तस्य तत्कर्म मोक्षे स्वफलभोगादिना बन्धकं न भवतीत्यर्थः ॥२०॥

फलेच्छा रहित तुम्हारी सेवा को छोड़कर कर्म क्यों करे ? इसका समाधान करते हुए कहते हैं--

जो मेरी निष्ठा के कारण नित्य तृप्त है वह कर्मफल-इच्छा-आसक्ति का त्याग कर कर्मजनित अदृष्टाश्रय से रहित होकर मेरी आज्ञा से कर्म में प्रवृत्त होकर भी कुछ नहीं करता । मेरी आज्ञारूपता के कारण उसका वह कर्म मोक्ष में स्वफल भोगादि द्वारा बन्धक नहीं होता ॥२०॥

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥२१॥

नन्वेवमपि कर्मादिमन्त्रेषुत्कृष्टबुद्ध्या कर्मबन्धकं भवेदेवेति चेत्तत्राह । निराशीरिति । निराशीः निस्पृहः । यतचित्तात्मा वशीकृतेन्द्रियदेहः । त्यक्त-सर्वपरिग्रहः । त्यक्तः सर्वपरिग्रहः पशुपुत्रादिर्येन । सर्व शब्देन देहिकोऽपि सुख-रूप उच्यते । एतादृशः सन् केवलशारीरं कर्मकुर्वन् ब्राह्मणादिदेहत्वात् फला-भावेन मलमूत्रादिशारीरकर्मवद्भगवन्नामादिग्रहणं शुद्धयर्थं कुर्वन् किल्विषं बन्धं नाप्नोति ॥२१॥

कर्मादि मंत्रों के उत्कृष्ट बुद्धि से कर्म बन्धक होते हैं, इसका उत्तर देते हैं—

निःस्पृह, यत चित्तात्मा, समस्त पशु पुत्रादि का परित्यागी, केवल शारीरिक कर्म करता हुआ ब्राह्मणादि देह होने के कारण फलाभाव से मलमूत्रादि शारीरिक कर्मो की भाँति भगवान् के नामादि ग्रहण को शुद्धि के लिये करता हुआ बन्धन प्राप्त नहीं करता ॥२१॥

यदृच्छालाभ संतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः ।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबद्धयते ॥२२॥

अथ उत्कृष्ट ज्ञानेऽपि फलेच्छारहितं कर्म न बन्धकमित्याह यदृच्छेति । यदृच्छालाभसंतुष्टः भगवदिच्छालाभसंतुष्टः द्वन्द्वातीतः सुखदुःखसमः विमत्सरः दुष्टवचनजक्षोभादिरहितः सिद्धौ यथोक्तकर्मसिद्धौ फलोन्मुखत्वादानन्दरहितः । च पुनः असिद्धौ फलोन्मुखत्वाद् दुःखरहितः समः कर्मकृत्वापि तेन कर्मणा न निबद्धयते ।।२२।।

उत्कृष्ट ज्ञान में भी फलेच्छा रहित कर्म बन्धक नहीं होता, अतः कहा है—'यदृच्छालाभसंतुष्टः' । भगवदिच्छा लाभ से संतुष्ट होकर सुख दुःख द्वन्द्व में समान रहनेवाला, दुष्टों के वचन से उत्पन्न क्षोभादि से रहित, कर्मसिद्धि में फल उन्मुख होने से आनन्द रहित, असिद्धि में फलोन्मुख होने से दुःख रहित सम कहलाता है । ऐसे कर्म करके भी उसमें निबद्ध न हो ।।२२।।

गतसंगस्य युक्तस्य ज्ञानावस्थित चेतसः ।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ।।२३।।

ननु कृतं कर्म फलभोगाभावे कथं नश्यतीत्याशंकायामाह । गतसंगस्येति । गतसंगस्य त्यक्तलौकिकपरिग्रहादेः मुक्तस्य कर्मफलैर्मुक्तस्य ज्ञानावस्थितः चेतसः ज्ञानेन भगवति सुस्थिरचित्तस्य यज्ञाय विष्णवे भगवदर्पणबुद्ध्या कर्म आचारतः कुर्वतः समग्रं फलसहितं कर्म प्रविलीयते ईश्वरप्राप्तिरूपे लीनं भवतीत्यर्थः । यद्वा यज्ञाय लोकशिक्षणार्थं मदाज्ञयाऽग्रे यज्ञप्रवृत्त्यर्थमाचरतः समग्रं सफलं कर्म प्रविलीयते । यज्ञप्रवृत्तावेव लीनं भवतीत्यर्थः ।।२३।।

यदि यह शंका करें कि किया हुआ कर्म फल भोग के अभाव में कैसे नष्ट होता है, तो समाधान किया है 'गत संगस्य' श्लोक से ।

जो लौकिक परिग्रह का त्याग कर देता है तथा कर्मफल से युक्त हो जाता है, ज्ञान द्वारा भगवान् में सुस्थित चित्त होता है, विष्णु भगवान् को भगवदर्पण बुद्धि से आचार पूर्वक कर्म करते हुए फलसहित कर्म नष्ट हो जाता है । अर्थात् ईश्वर प्राप्ति रूप में लीन हो जाता है अथवा लोक शिक्षण के लिये मेरी आज्ञा से यज्ञ प्रवृत्त्यर्थ आचरण करता हुआ समग्र सफल कर्म का लय कर लेता है । यज्ञ प्रवृत्ति में ही लीन हो जाता है ।।२३।।

ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्म समाधिना ॥२४॥

ननु ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्नोति सर्वं खल्विदं ब्रह्मेति ब्रह्मात्मकत्वं सर्वस्याह। कस्य कर्मणो ब्रह्मात्मकत्वमाह। ब्रह्मार्पणमिति।

अर्पणम्। अर्प्यते हूयतेऽनेन तदर्पणं सामग्री स्रुकस्रुवादिकं ब्रह्महविः घृतादिकं ब्रह्म। ब्रह्माग्नौ ब्रह्मात्मकोऽग्निस्तस्मिन्ब्रह्मणा कर्त्रा हुतम्। एवं प्रकारेण कर्म ब्रह्म अतः समाधिना समाध्यवस्थया तेन ब्रह्मात्मकेन कर्मणा ब्रह्मैव गन्तव्यं प्राप्तव्यं। अतो ब्रह्मात्मकत्वात्तत्र लीयत इत्यर्थः। अतएव श्रुतिरपि सर्वं खल्विदं ब्रह्मेति ब्रह्मात्मकत्व सर्वस्याह ॥२४॥

ब्रह्म ही ब्रह्म को प्राप्त होता है क्योंकि 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इस वाक्य मे सब की ब्रह्मात्मकता कही है। अत: कौनसा कर्म ब्रह्मात्मक है इसे बतलाने के लिये कहा है—ब्रह्मार्पणम्।

जिससे हवन किया जाय वह सामग्री अर्थात् स्रुक स्रुवादि घृतादि ब्रह्म हैं। ब्रह्मात्मक अग्नि में ब्रह्मण = कर्त्ता के द्वारा हवन किया गया कर्म ब्रह्म है। अत: समाधि अवस्था से ब्रह्मात्मक कर्म से ब्रह्म ही प्राप्त करने योग्य है। अतः ब्रह्मात्मकता होने से उसी में लीन हो जाता है। इसीलिये श्रुति मे भी 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' से सब की ब्रह्मात्मकता बतलाई गई है ॥२४॥

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते ।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥२५॥

ननु ब्रह्मात्मकत्वे सति ज्ञानाज्ञानकृतं कर्म कथं न ब्रह्मणि लीयतेऽग्निस्पर्शो दाहवदित्याशङ्क्य सजातीयप्रचयसंवलित एवाग्निर्दाहसमर्थो न तु विस्फुलिंगात्मक इति सर्वत्र ब्रह्मात्मकज्ञानाभावे तज्ज्ञानानुरूपमेवागाधजलानिमग्नस्य ग्रहणसामर्थ्यं पूर्वघटवत् फलं भवतीत्याह दैवमित्यादि षड्भिः। अपरे योगिनः यत्किंचित्स्वरूपज्ञानेन कर्मफलेच्छया कर्मकर्त्तारः। यज्ञं कर्मं

दैवमेव ज्ञात्वा पर्युपासते परितः सर्वभावेन कुर्वन्ति। तेषां लौकिकदेहेन साधनात्मक भगवत्सेवायां सुखरूपं फलं भवतीत्यर्थः। अपरे तत्त्वज्ञानानुसारिणो ब्रह्माग्नौ अग्निं ब्रह्मस्वरूपं ज्ञात्वा तस्मिन् यज्ञं यज्ञात्मकं विष्णुं यज्ञेनैव यज्ञात्मक विष्णुरूपेण हविषा उपजुह्वति। होमं कुर्वन्ति ॥२५॥

सब के ब्रह्मात्मक होने से ज्ञान तथा अज्ञान से किया कर्म ब्रह्म में लीन क्यों नहीं होता, जैसे अग्नि के स्पर्श से दाह होता है। इस आशंका से कहा है कि सजातीय समुदाय से संवलित ही अग्नि दाह समर्थ होता है, विस्फुलिंगात्मक नहीं। अतः सर्वत्र ब्रह्मात्मक ज्ञान के अभाव में उसके ज्ञान के अनुरूप ही अगाध जल में अनिमग्न का ग्रहण सामर्थ्य पूर्व घटवत् (रिक्त घटवत्) फल होता है। अतः कहा गया है 'दैव-मित्यदि' छह श्लोकों में—

अन्य योगी थोड़े से स्वरूपज्ञान से धर्मफल की इच्छा से कर्म में प्रवृत्त होते हैं। यज्ञ कर्म को दैव जानकर उसकी चारों ओर से उपासना करते हैं। उनके लौकिक देह से साधनात्मक भाव सेवा में सुखरूप फल होता है। अन्य तत्त्वज्ञानानुसारी योगी ब्रह्माग्नि में अग्नि को ब्रह्म स्वरूप जानकर उसमें यज्ञात्मक विष्णु को यज्ञात्मक विष्णु-रूप हविष्य से होम करते हैं ॥२५॥

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति ।
शब्दादीन् विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥२६॥

अन्ये योगिनः श्रोत्रादीनीन्द्रियाणि संयमाग्निषु जुह्वति। अयमर्थः योगेन मत्प्राप्तीच्छया प्राप्तिप्रतिबन्धकानीन्द्रियाणि निरोधात्मकक्लेशाग्नौ भस्मीकुर्वन्ति। अन्ये भक्तियुतयोगिनः शब्दादीन् विषयान् मत्कथाश्रवणादि-रूपान् इन्द्रियाग्निषु भगवत्साक्षात्कारसाधकतयाऽऽत्मभावेनेन्द्रियेषु जुह्वति ॥२६॥

अन्य योगी इन्द्रियों की संयम की अग्नि में हवन करते हैं। भावार्थ यह है कि योग द्वारा मेरी प्राप्ति की इच्छा से मेरी प्राप्ति में प्रतिबन्धक इन्द्रियों को निरोधात्मक क्लेश की अग्नि में भस्म करते हैं। अन्य भक्तियुत योगी शब्दादि विषयों को मेरी कथा

श्रवणादि रूपों को इन्द्रिय अग्नि में भगवत्साक्षात्कार साधकता से अर्थात् आत्मभाव से इन्द्रियों में हवन करता है ॥२६॥

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे ।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥२७॥

अपरे योगिनः सर्वाणि इन्द्रियाकर्माणि इन्द्रियकृत्यान् । अकृत्वैव च पुनः प्राणकर्माणि पंचप्राणकृत्यान् क्षुत्पिपासादिना भोजनपानादीनकृत्वैव ज्ञानदीपिते ज्ञानेन मत्स्वरूपाप्तितापोन्मुखीकृते आत्मनो मत्प्राप्त्यर्थं यः संयमो नियमनं स एवाग्निः सर्वस्यापि स्वकरणरूपस्तस्मिन् जुह्वति ॥२७॥

अन्य योगीजन समस्त इन्द्रिय कृत्यों को न करके प्राणकर्मों को भोजन पानादि न कराकर ज्ञान द्वारा मेरे स्वरूप की प्राप्ति-ताप से उन्मुख होकर मेरी प्राप्ति के लिये सयम रूपी अग्नि में स्वकरणरूप में सब का हवन करते हैं ॥२७॥

द्रव्ययज्ञास्तपो यज्ञा योगयज्ञास्तथाऽपरे ।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥२८॥

द्रव्ययज्ञाः यज्ञनिश्क्रयद्रव्यदातारः । तपोयज्ञाः । साधनाद्यभावेन यज्ञजमत्प्रीत्युत्पादनार्थ तप एवं यज्ञबुद्धया कुर्वन्ति, योग यज्ञाः पूर्वोक्तवत् मत्प्रीत्यर्थं यज्ञबुद्धया अष्टांगयोगकर्तारः । अपरे तथा पूर्वोक्तप्रकारेण स्वाध्यायं वेदाध्ययनमेव यज्ञबुद्धया कर्तारः । च पुनः । ज्ञानमेव यज्ञत्वेन ज्ञातारः ते कीदृशाः । यतयः सर्वं परित्यागिनः । पुनः कीदृशाः । संशितव्रताः सूक्ष्मीकृतकर्माणो भगवत्स्मरणमात्रैक पराः ॥२८॥

द्रव्य यज्ञ अर्थात् यज्ञ निष्क्रय द्रव्य दाता, तपोयज्ञ-साधनादि के अभाव में मेरी प्रीति उत्पादनार्थ तप को ही यज्ञबुद्धि से करते हैं । योगयज्ञ पूर्वोक्तवत् मेरी प्रीति हेतु यज्ञबुद्धि से अष्टाङ्ग योग कर्त्ता, अन्य योगी पूर्वोक्त प्रकार से स्वाध्याय वेदाध्ययन को ही यज्ञबुद्धि से करते हैं । ज्ञान को ही यज्ञ रूपी जानने वाले, सबका परित्याग करने वाले मात्र भगवत्स्मरण परायण हो जाते हैं ॥२८॥

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथाऽपरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणः ॥२९॥

अपरे योगिनः अपानेऽधःस्थ प्राणं ऊर्ध्वस्थं पूरकविधिना जुह्वति। तथा अपरे रेचकविधिना अपानं प्राणे। कुंभक विधिना प्राणापानयोर्गति-निरोधं कृत्वा प्राणायामपराः ईश्वरचिन्तननिष्ठा भवन्ति ॥२९॥

अन्य योगी अपान – नीचे स्थित प्राण को पूरक प्राणायाम की विधि से हवन करते हैं अर्थात् प्राण को ऊपर की ओर खींचते हैं। अन्य योगी रेचक विधि से अपान को, प्राण में तथा कुंभक विधि से प्राण और अपान की गति को रोक कर प्राणायाम परायण हो ईश्वर चिन्तन में तत्पर होते हैं ॥२९॥

अपरे नियताहाराः प्राणान् प्राणेषु जुह्वति।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥३०॥

अपरे योगिनो नियताहाराः नियमित भोजनाः। द्वौ भागौ पूरयेदन्नै-स्तोयेनैकं च पूरयेत्। मारुतस्य प्रचारार्थं चतुर्थमवशेषयेदित्युक्तम्। तथाप्यन्तः-करणशुद्ध्यर्थं देहस्थितिमात्ररूपभगवत्प्रसादैकभोक्तारः प्राणान् लौकिकान् प्राणेष्वाधिदैविकेषु भगवदुपयोग्येषु जुह्वति। सर्वेऽप्येते सार्द्धपंचश्लोकोक्ताः यज्ञविदः यज्ञस्वरूपज्ञाः। यज्ञक्षपितकल्मषाः स्वस्वाधिकारकृत स्वयज्ञेन दूरी-कृतं मत्स्मरणप्रतिबन्धकारकं कल्मषं यैस्ते दूरीकृतकल्मषा भवन्तीति शेषः ॥३०॥

अन्य योगी नियमित भोजन करनेवाले हैं। ऐसा लिखा भी है कि अन्न से दो भाग पूर्ण करे, एक जल से तथा चौथा भाग पवन पूरणार्थ छोड़े। तथापि अन्तःकरण शुद्धि के लिये देहस्थिति मात्ररूप भगवत्प्रसाद के भोक्ता लौकिक प्राणों को आधिदैविक प्राणों में, भगवदुपयोग्यों में हवन करते हैं। ये पूर्व साढ़े पाँच श्लोकों द्वारा कथित यज्ञस्वरूप के ज्ञाता अपने अपने अधिकार कृत यज्ञ से मेरे स्मरण के प्रतिबन्धक रूप कल्मष को दूर करने में समर्थ हो जाते हैं ॥३०॥

यज्ञशिष्टाऽमृतभुजो यान्ति ब्रह्मसनातनम् ।
नायं लोकोस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥३१॥

एवं यज्ञे निष्कलमषा भूत्वा मत्स्मरणादिना ब्रह्म प्राप्नुवन्तीत्याह । यज्ञशिष्टेति । यज्ञशिष्टाऽमृतभुजः यज्ञे शिष्टमवशिष्टं यदमृतं मत्स्मरणरूपं तद्भुजस्तद्भोगकर्त्तारः सनातनं ब्रह्म अक्षरात्मकं यान्ति प्राप्नुवन्ति । अत एव यस्य स्मृत्येत्यादिना भगवत्स्मरणेनैव कर्मादीनां पूर्णत्वम् । एवं यज्ञकर्तॄणामक्षरप्राप्तिमुक्ता । तदकर्तॄणां बाधकमाह । नायमिति । हे कुरुसत्तम, सत्कुलोत्पन्न ! अयज्ञस्य मद्विभूतिरूपमदाज्ञादिरूपयज्ञरहितस्यायं लोको नास्ति । अस्मिन्नपि लोके । निंदितः सन् तदा अन्यः । अन्यः क्षरात्मकः कुतः प्राप्य इति शेषः ॥३१॥

इस प्रकार यज्ञों से निष्कलमष होकर मेरे स्मरण आदि से ब्रह्म को प्राप्त करते हैं, अतः कहा है, 'यज्ञशिष्टा०' । यज्ञ अवशिष्ट अमृत है अर्थात् उसे मेरा स्मरणरूप समझनेवाले अक्षरात्मक सनातन ब्रह्म को प्राप्त करते हैं । अतएव 'यस्य स्मृत्या च' इत्यादि श्लोक से भगवत्स्मरण से ही कर्मादि की पूर्णता कही गई है । यज्ञकर्त्ता को अक्षर प्राप्ति कहकर उसे न करने वाले को बाधकता बतलाते हैं 'नायम् इति' । हे कुरुसत्तम, सुन्दर कुल में उत्पन्न ! मद्विभूतिरूप मदाज्ञादि रूप यज्ञ रहित को यह लोक नहीं है । इस लोक में निंदित होकर अन्य क्षरात्मक कहाँ से प्राप्त होगा ॥३१॥

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे ।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥३२॥

नन्वेवं बहुप्रकारकयज्ञस्वरूपोक्त्या मया किं कार्यमित्याशंक्याह एवमिति एवं बहुविधाः । पूर्वोक्तप्रकारेण बहुप्रकारा यज्ञाः मदंशकाः ब्रह्मणो वेदस्य मुखे विततोः निःसृताः तान् सर्वान् कर्मजान् एतत्क्रियोत्पन्नान् विद्धि जानीहि । एवं तान् ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे मत्प्राप्तिप्रतिबन्धैर्मुक्तो भविष्यसीत्यर्थः । मया तव वेदाद्युक्तत्वाद्यज्ञादिकर्मसु आसक्त्यभावार्थमेव बहुप्रकारका यज्ञा उक्ता इति भावः ॥३२॥

बहुत प्रकार के यज्ञस्वरूप उक्ति से मुझे क्या करना चाहिये, इसका समाधान किया है—'एवं बहुविधाः'। पूर्वोक्त प्रकार से अनेक प्रकार के यज्ञ मेरे अंश वेद के मुख से निःसृत हैं। उन्हें पूर्वोक्त कर्म से उत्पन्न जानना चाहिये। इस प्रकार उनको जानकर मेरी प्राप्ति के प्रतिबन्धों से मुक्त हो जाओगे। यह भावार्थ है। मैंने तुमको वेदोक्त यज्ञादि कर्मों में आसक्ति के निराकरणार्थ ही बहुप्रकार के यज्ञ कहे है, यह भाव है ॥३२॥

श्रेयान् द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप ।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥३३॥

ननु ममैतत्फलानभिलाषित्वादाज्ञया लोकसंग्रहार्थं कर्त्तव्यानां तेषां ज्ञानेन किं फलमित्यत आह। श्रेयानिति। हे परंतप, ज्ञानयोग्य ज्ञानाभावे भगवदीयस्य निषिद्धप्रकारेण स्वर्गादिफलकत्वेन क्रियमाणस्यानुचितत्वात् द्रव्यमयाद्यज्ञात् ज्ञानयज्ञः ज्ञानात्मको ज्ञानेन वा यज्ञः श्रेयान् स उत्तम इत्यर्थः। किं च। द्रव्यमयो यज्ञः पूर्णत्वाभावादपि नोत्तमो ज्ञानमयस्तु संपूर्णो भवतीत्याह सर्वमिति। हे पार्थ सर्वं कर्म ज्ञाने अखिलं पूर्णं परिसमाप्यते पूर्णं मत्समीपं भवतीत्यर्थः ॥३३॥

यदि यह शंका हो कि मैं तो फल की अभिलाषा नहीं रखता, अतः तुम्हारी आज्ञा से लोकसंग्रहार्थ कर्त्तव्यों के ज्ञान का प्रयोजन ही क्या? अतः कहा है कि 'श्रेयान्'। हे परंतप, ज्ञान योग्य, ज्ञान के अभाव में भगवदीय निषिद्ध प्रकार से स्वर्गादि फल से क्रियमाण अनुचित है। द्रव्यमय यज्ञ से ज्ञान यज्ञ श्रेष्ठ है। द्रव्यमय यज्ञ पूर्णत्व के अभाव में भी उत्तम नहीं है। ज्ञानमय तो सपूर्ण होता है। अतः कहा है 'सर्वम्'। हे पार्थ सम्पूर्ण कर्म ज्ञान में समाप्त होता है। अर्थात् मेरे समीप होता है ॥३३॥

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥३४॥

तज्ज्ञानं कथं स्यादित्यत आह। तदिति। तज्ज्ञानं ज्ञानिनो मत्स्वरूपविदः प्रणिपातेन नम्रतया परिप्रश्नेन जिज्ञासुतया प्रश्नेन सेवया भगवद्बुद्ध्या ते तव। ज्ञानिनः मत्स्वरूपविदः तत्त्वदर्शिनः योग्यानामुपदेशदातारमहं प्रसन्नो भवामीति पश्यन्त्यतो ज्ञानमुपदेक्ष्यन्ति ॥३४॥

वह ज्ञान कैसे हो, अतः कहा है—'तद्विद्धि'। वह ज्ञान मेरे स्वरूप को जानने वालों से, भगवत् बुद्धि से, नम्रता पूर्वक जिज्ञासु भाव से प्रश्न करने पर वे ज्ञानी, मेरे स्वरूप को जानने वाले, 'तत्त्वदर्शी अधिकारी व्यक्तियों को उपदेश देने से मैं प्रसन्न होता हूँ' यह समझ कर उन्हें ज्ञानोपदेश करते हैं ॥३४॥

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥३५॥

एवमुपदिष्टज्ञानेन मोहो न भवत्येवेत्याह। यदिति। हे पाण्डव यत् उपदिष्टज्ञानात्मकं मत्स्वरूपं ज्ञात्वा पुनरेवं भूयः प्रश्नादिरूपं न यास्यसि न प्राप्स्यसि। अथो एतदनन्तरं मोहाभावानन्तरं येन ज्ञानेन भूतानि कारणरूपाणि जीवात्मकानि च अशेषेण जगद्रूपेण आत्मनि मयि आत्मरूपे मयि द्रक्ष्यसि ॥३५॥

इस प्रकार उपदिष्ट ज्ञान से मोह नहीं होता, अतः कहा है 'यज् ज्ञात्वा'। हे पाण्डव! उपदिष्ट ज्ञानात्मक मेरे स्वरूप को जानकर पुनः इस प्रकार की शंका से मुक्त होंगे। मोहाभाव के पश्चात् जिस ज्ञान से कारण रूप जीवात्माओं को सम्पूर्ण रूपेण आत्मरूप मुझ में देखोगे ॥३५॥

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥३६॥

तथा चायं भावः। भगवताऽग्रे पुष्टिमार्गरीत्योपदेशेन स्वानुभवः कारणीयस्तदुपदेशयोग्यार्थं सर्वत्र भगवद्भावात्मक ज्ञानरूपः संस्कारः कर्त्तव्यः

स च साक्षात् स्वोपदेशेऽग्रे कार्यविलम्बः स्यादिति ज्ञानवाक्यानुसारेण स्वरूप-प्राप्त्यर्थमुद्यतस्तद्भोगं विना किं ज्ञानेन स्यादित्यत आह । अपीति । क्षत्रियाणां त्वयं धर्म एव अपि चेत् यदि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृद्भ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः पापकृन्मुख्योऽसि तथापि ज्ञानप्लवेनैव ज्ञानरूपोडुपेन तरण साधनेन सर्वं वृजिनं पापं सर्वं पापं सर्वपदेनार्णवरूपं संतरिष्यसि सम्यक् प्रकारेणानायासेन तरिष्यसि पापविनिर्मुक्तो भविष्यसीत्यर्थः ॥३६॥

भाव यह है कि भगवान् आगे पुष्टिमार्ग की रीति से उपदेश द्वारा स्वानुभव करायेंगे । उस उपदेश की योग्यता के लिये सर्वत्र भगवद् भावात्मक ज्ञानरूप संस्कार करना चाहिये और वह साक्षात् अपने उपदेश से पहले करने पर कार्य में विलम्ब होगा । वह ज्ञान वाक्य के अनुसार स्वरूप प्राप्ति को उद्यत-सा दिखाई देता है । किन्तु उसके भोग के बिना ज्ञान से क्या हो ? अतः कहा है, 'अपि चेदसि' । क्षत्रियों का तो यह धर्म ही है । यदि सम्पूर्ण पापकर्ताओं में मुख्य होगे तथापि ज्ञानरूपी नौका से सम्पूर्ण पापरूपी समुद्र को अनायास ही तरोगे, पाप रहित हो जाओगे ॥३६॥

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥३७॥

पापस्यार्णवत्वोक्त्या ज्ञानस्य प्लवत्वोक्त्या च तस्यानल्पत्वादगाधत्वा-दस्याल्पत्वात्तन्मध्य पातित्वात् कदाचिन्मज्जनसंभावनापि स्यादित्यल्पस्वरूपस्य महद्वस्तु निराकरणसामर्थ्ये दृष्टान्तमाह यथैधांसीति । हे अर्जुन, यथा अग्निः काष्ठेभ्यः स्वल्पतरोऽपि समिद्धः सन् सम्यक् प्रकारेण संधुक्षितः सन् एधांसि काष्ठानि भस्मसात्कुरुते तथा ज्ञानाग्निः ज्ञानरूपोऽग्निः सर्वकर्माणि भस्म-सात्कुरुते भस्मरूपाण्यग्रेऽस्य फलभोगजननासमर्थानि कुरुते ॥३७॥

पाप को समुद्र और ज्ञान को नौका बतलाया गया है । समुद्र महान् है । अगाध है । नौका लघु है । उसके मध्य में है । अतः कभी उसका डूबना संभव है । अल्प वस्तु महद् वस्तु के निराकरण में समर्थ है, यह 'यथैधांसि' आदि कहकर दृष्टान्त द्वारा समझाया गया है ।

हे अर्जुन, जिस प्रकार अग्नि काष्ठों से स्वल्प हो तब भी प्रज्वलित किया गया समस्त काष्ठों को भस्म करने में समर्थ होता है, उसी प्रकार ज्ञानरूपी अग्नि समस्त कर्मों को भस्म कर देती है अर्थात् कर्मों को फलों के भोग जनन में असमर्थ बना देती है ।।३७।।

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ।।३८।।

एवं ज्ञानस्य प्रतिबन्धनिरासकत्वमुक्त्वा स्वप्रापकत्वमाह । न हीति । हीति निश्चयेन ज्ञानेन सदृशं इह साधनेषु पवित्रं न विद्यते । अतः योग संसिद्धिः कर्मयोगादिभिः सम्यक् प्रकारेण सिद्धो मत्तोषार्थं मदाज्ञया फलानभिलाषेण कृतकर्मयोगः तत् मत्स्वरूपात्मकं ज्ञानं कालेन अलौकिकेन तज्ज्ञानदानार्थमाविर्भूतेन आत्मनि स्वयं स्वात्मस्वरूपेण विन्दति जानातीत्यर्थः ।।३८।।

ज्ञान के प्रतिबन्धक तत्वों को हटाकर 'न हि''''विन्दति' द्वारा अपनी प्राप्ति बतलाते हैं । यह निश्चय है कि अन्य समस्त साधनों में ज्ञान के समान अन्य कोई पवित्र साधन नहीं है । अतः कर्मयोगादि से अच्छी प्रकार सिद्ध होकर मेरी तुष्टि के लिये फल की अभिलाषा को छोड़कर किये गये कर्मयोग से सिद्ध 'मत्स्वरूपात्मकज्ञान' कालान्तर में ज्ञानदानार्थ आविर्भूत आत्मा में आत्मरूप से स्वयं को जानता है ।।३८।।

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ।।३९।।

तत्कालज्ञानं सूक्ष्मत्वान्न भवतीति निरन्तरं तत्परः सन् जितेन्द्रियस्तिष्ठेत्तेन तत्प्राप्तिः स्यादित्याह श्रद्धावानिति ।

श्रद्धावान् श्रद्धायुक्तः पूर्वोक्तप्रकारकगुरुसेवादौ तत्परस्तन्निष्ठः गुरुनिष्ठो वा संयतेन्द्रियः वशीकृतेन्द्रियः निवृत्तविषयो यः स ज्ञानं लभते प्राप्नोति । ततो ज्ञानं लब्ध्वा अचिरेण शीघ्रमेव परां शान्तिं मद्भक्तिं अधिगच्छति प्राप्नोति ।।३९।।

कालज्ञान अत्यन्त सूक्ष्म है। उसे समझना कठिन है। अतः उसमें तत्पर होना चाहिये, तभी उसकी प्राप्ति हो सकती है। यह बात 'श्रद्धावान्' आदि कहकर बतलाई गई है।

श्रद्धावान् व्यक्ति पूर्वोक्त प्रकार से गुरुसेवा आदि में तत्पर हो गुरुनिष्ठ या ज्ञाननिष्ठ होकर इन्द्रियों को वश में कर तथा विषयों को छोड़ ज्ञान प्राप्त करता है। ज्ञान प्राप्ति के अनन्तर ही मेरी भक्ति को प्राप्त कर लेता है ॥३९॥

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयाऽऽत्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥४०॥

अत्र मदुक्तो संशयो न कर्त्तव्य इत्याह। संशयात्मा भविष्यति न वेति संदेहवान् अज्ञः मूर्खः अनात्मज्ञः अश्रद्दधानः गुरौ ज्ञानसाधनेषु च श्रद्धारहितो भूत्वा विनश्यति नष्टो भवति। चकारद्वयेन धर्मरहितः सन्तोषरहितश्च भवेदिति ज्ञाप्यते। किंच संशयात्मनः साधारणरीत्यापीह लोके परलोके च सुखं न स्यादित्याह नायमिति। संशयात्मनः संदेहवतः अयं लोकः पशुपुत्रादिरूपः न सिद्धो भवति। न परः। स्वर्गादिरूपसुखं ऐश्वर्यारोग्यादिरूपं न भवतीत्यर्थः ॥४०॥

इस विषय में मेरी उक्ति में संशय नहीं करना चाहिये। इसीलिये कहा है—'अज्ञश्च'''संशयात्मनः।'

संशयात्मा उत्पन्न होगा या नहीं, ऐसा संदेह करने वाला मूर्ख है। अनात्मज्ञ है। ज्ञानदाता गुरु में श्रद्धारहित होकर वह नष्ट हो जाता है। यहाँ दो चकार से धर्म रहित, सन्तोष रहित होता है यह ज्ञापित है। संशयात्मा को लोक-परलोक में भी सुख नहीं मिलता। इस लोक में पशु-पुत्रादि रूप तथा स्वर्गादि रूप सुख परलोक में प्राप्त नहीं होता। स्वर्गादि से ऐश्वर्य आरोग्यादि सुख का भी बोध समझना चाहिये ॥४०॥

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ।।४१।।

संदेहरहितस्य भोगलोकादिप्रतिबन्धो न भवेदित्याह योगसंन्यस्तेति । हे धनंजय, कर्माणि नियतफलभोगकारणरूपाणि योगसंन्यस्तकर्माणं भगवदात्मकयोगेन त्यक्तकर्मफलं ज्ञानसंछिन्नसंशयं ज्ञानेन वा संछिन्नः संशयो जीवस्वरूपादिरूपोऽस्य तमात्मवंतं स्वसेवार्थमात्मा भगवान् प्रकटीकृत इत्याह, आत्मस्वरूपज्ञं न निबध्नन्ति । न बन्धका भवन्तीत्यर्थः ।।४१।।

संदेह रहित को भोगलोकादि का प्रतिबन्ध न हो अतः अग्रिम श्लोक कहा है । 'योग''''''धनंजय' ।

हे धनंजय ! नियत फल भोग के कारण रूप-कर्म-भगवदात्मक योग से कर्म-फल त्यागनेवाले तथा ज्ञान द्वारा जीवस्वरूप संशय के नष्ट करनेवाले को—आत्मस्वरूप के जाननेवाले को ये कर्म बन्धक नहीं होते ।।४१।।

तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनाऽऽत्मनः ।
छित्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ।।४२।।

यतः संशयात्मा न पश्यति । आत्मज्ञानवन्तं च कर्माणि न निबध्नन्ति तस्मादात्मज्ञानेन संशयं त्यजेदित्याह तस्मादिति । हे भारत । सत्कुलोत्पन्न ! संशयकरणायोग्य यस्मात् संशयेन नश्यति तस्मादात्मनः अज्ञानसंभूतं आत्मस्वरूपाज्ञानोत्पन्नं हृत्स्थं हृदिस्थं एनं प्रत्यक्षमनुभूयमानं मद्वचनेष्वविश्वासात्मकं संशयं ज्ञानासिना ज्ञानात्मकखड्गेन छित्वा योगं मदात्मकं मत्प्राप्त्यर्थं आतिष्ठ कुरु उत्तिष्ठ सावधानो भव ।।४२।।

इति श्रीभगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ब्रह्मयज्ञप्रशंसानाम चतुर्थोऽध्यायः ।

इति श्रीभगवद्गीताटीकायां गीतामृततरंगिण्यां चतुर्थोऽध्यायः ।।४।।

संशयात्मा नहीं देखता है तथा आत्मज्ञानी को कर्म बन्धन में नहीं डालते। अतः आत्मज्ञान से संशय को त्यागना चाहिये। अतः कहा है—'तस्मात्······ भारत'।

हे भारत। सत्कुल में उत्पन्न अथवा संशय करने के अयोग्य, क्योंकि संशय से ही नाश होता है। अतः आत्मा के स्वरूप के अज्ञान से उत्पन्न हृदय के पाप को जिसका प्रत्यक्ष अनुभव हो रहा है, उसे मेरे वचनों में जो अविश्वासात्मक संशय है, उसे ज्ञान रूप तलवार से काटकर मेरी प्राप्ति के लिये योगकर सावधान हो।

श्रीमगवद्गीता की अमृत तरंगिणी टीका की श्रीवरी हिन्दी टीका का चतुर्थ अध्याय समाप्त हुआ।

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

पांचवां अध्याय

अर्जुन उवाच

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि ।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥१॥

संन्यासं कर्मयोगं च श्रीकृष्णोक्तं धनंजयः ।
श्रुत्वा संशयमापन्नः पुनः प्रश्नं चकारह ॥

अर्जुन उवाच । संन्यासमिति । हे कृष्ण सदानन्द । आनन्दैकदानयोग्य ! कर्मणां सन्यासं त्यागं 'न मां कर्माणी'त्यारम्य कृत्वापि न निबध्यत' इत्यन्तं शंससि पुनर्योगमातिष्ठेत्यनेन योगं च शंससि । एतयोरुभयोर्मध्ये एकं सुनिश्चितं निर्धारितं ब्रूहि । च पुनरेतयोरुभयोः सकाशादेकमन्यद् यच्छ्रेयः श्रेयोरूपं भक्तिरूपं भवेत् तन्मे मम त्वदीयस्य सुनिश्चितं संशयरहितं ब्रूहि ॥१॥

श्रीकृष्ण के कहे हुए संन्यास और कर्मयोग को सुनकर भी अर्जुन के मन में संशय उत्पन्न हुआ, अतः उसने पुनः प्रश्न किया ।

अर्जुन ने कहा—संन्यासं कर्मणां कृष्ण……

हे कृष्ण ! सदानन्द स्वरूप, आनन्ददायिन् ! आपने कर्मों का त्याग 'न मां कर्माणि' से 'कृत्वापि न निबध्यते' श्लोक पर्यन्त बतलाया और योग की भी महिमा सुनाई । इन दोनों में से एक को निश्चय पूर्वक बतलाइए । इन दोनों में जो श्रेय रूप, भक्ति रूप हो, उसे संशय रहित बतलाइए ॥१॥

श्रीभगवानुवाच

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते ।।२।।

भगवानेतत्प्रश्नोत्तरमाह कृपया संन्यास इति । संन्यासः कर्मणां त्यागः कर्मयोगः कर्मानुष्ठानमेतावुभौ निःश्रेयसकरौ मोक्षःपादकौ तयोरपि कर्मसंन्यासात् केवलं कर्मत्यागात्, मदाज्ञया फलानभिलाषेण मदर्पणधिया कर्मयोगः कर्मयोगः कर्मानुष्ठानं विशिष्यते उत्तममित्यर्थः ।।२।।

श्रीकृष्ण ने इस प्रश्न के उत्तर में कहा—कर्मों का त्याग और कर्मों का अनुष्ठान दोनों ही मोक्षप्रद हैं। इन दोनों में कर्म संन्यास (केवल कर्म त्याग) से, मेरी आज्ञा से (फल की अभिलाषा छोड़कर) मेरे लिये अर्पण की बुद्धि से किया गया कर्म का अनुष्ठान उत्तम है ।।२।।

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति ।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ।।३।।

अथ श्रेयोरूपप्रश्नोत्तरमाह सर्वत्यागरूपं ज्ञेय इति । यः संन्यासी सर्वत्यागवान् सर्वं त्यक्त्वैतयोर्मध्ये नैकं कमपि द्वेष्टि न चैकं कमप्याकांक्षति स नित्यं ज्ञेयो ज्ञातुं योग्यः । मदीयत्वेनेति शेषः । हे महाबाहो ! सर्वकरणसमर्थ ! हि निश्चयेन निर्द्वन्द्वः कर्मसंन्यासयोगयोर्मदाज्ञातिरेकेण भिन्नज्ञानरहितो बन्धात् तत्फलजात्सुखं प्रमुच्यते । मोक्षे प्रकर्षो मदाज्ञाकरणेऽहं प्रसन्नो भवामीति भावः ।।३।।

श्रेय रूप प्रश्न के उत्तर में श्रीकृष्ण कहते हैं कि जो संन्यासी सब का परित्याग करता है, सबको त्यागकर इन दोनों में किसी एक से द्वेष नहीं करता और

न एक की अभिलाषा करता है, वह नित्य जानने योग्य है, क्योंकि वह मेरा है। हे महाबाहो ! सब कुछ करने योग्य ! निश्चय ही वह निर्द्वन्द्व होकर अर्थात् कर्म संन्यास और योग में, मेरी आज्ञा से, भिन्न ज्ञान रहित होकर बन्ध से अर्थात् फल से उत्पन्न सुख से मुक्त हो जाता है। मोक्ष में उत्तमता यह है कि मेरी आज्ञा होने से मैं प्रसन्न हो जाता हूँ, यह भाव है ॥३॥

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥४॥

उभयोर्हेयोपादेयज्ञानिनो मत्स्वरूपाद्भिन्नज्ञानिनश्च मूर्खा इत्याह। सांख्ययोगाविति सांख्ययोगौ पृथक् भिन्न तयाऽनुष्ठेयमननुष्ठेयत्वेन मताविति बाला मूर्खाः प्रवदन्ति न पण्डिताः। ज्ञानिन इत्यर्थः। अयं भावः सांख्ययोगौ मत्कुण्डलात्मकौ तत्र हेयोपादेयज्ञानं मत्कुण्डलयोर्मदात्मकत्वाद् भिन्नज्ञानं चाज्ञानमेवेति भावः। यतस्तथा ज्ञानमज्ञानमतः सम्यगास्थितो मत्स्वरूपपरो मदाज्ञया कुर्वन्नुभयोरप्येकं फलं मत्प्रसादरूपं विन्दते प्राप्नोतीत्यर्थः ॥४॥

इन दोनों में त्यागबुद्धि तथा उपादेयबुद्धि करने वाले इन्हें मेरे स्वरूप से भिन्न जानने वाले मूर्ख हैं। अतः कहते हैं—सांख्ययोगौ······

सांख्य और योग भिन्न प्रकार से अनुष्ठित किये जाते हैं ऐसा मूर्ख कहते हैं, पण्डित नहीं। पण्डित का अर्थ ज्ञानी है। सांख्य और योग भगवान् के कुण्डल के समान हैं। अतः इनमें हेयत्व उपादेयत्व ज्ञान व्यर्थ है, क्योंकि कुण्डल भी भगवदात्मक हैं अतः उनमें भिन्न ज्ञान करना अज्ञान है, यह भाव है। क्योंकि उस प्रकार का ज्ञान (भेद बुद्धि करना) अज्ञान है। अतः मेरे स्वरूप में स्थित होकर मेरी आज्ञा से (कर्म) करता हुआ दोनों के द्वारा (मेरा प्रसाद रूप) एक ही फल प्राप्त करता है ॥४॥

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥५॥

एकफलत्वमेव विवेचयति यत्सांख्यैरिति । यत्स्थानं मत्सामीप्यं सांख्यैः सांख्यनिष्ठैः प्राप्यते,तत्स्थानं योगैरपि योगानुष्ठातृभिरपि गम्यते प्राप्यते । तथाचायं भावः । उभयोः कुडलरूपत्वाद्यथास्थितस्वरूपज्ञानेनोभयनिष्ठानामपि भगवन्मुखसामीप्यमेव भविष्यति यतस्तयोरेकमेव स्थानमतो यः सांख्य योगं चैकं कुंडलात्मकं पश्यति स मां पश्यतीत्यर्थः ।।५।।

एक फल का विवेचन आगे किया है—

मेरा सामीप्य सांख्यनिष्ठ जिस प्रकार प्राप्त करते हैं, योगनिष्ठ भी उसी प्रकार प्राप्त करते हैं । कारण यह है कि सांख्य और योग कुण्डल रूपी हैं और कुण्डल सर्वदा मुख के पास ही रहते हैं । अतः उभयनिष्ठों को भगवान् के मुख का सामीप्य रहेगा । अतः सांख्य और योग को जो एक (मुख स्थान पर) समझता है, कुण्डलात्मक समझता है, वह मुझे देखता है ।।५।।

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ।।६।।

ननूभयोरेकफलत्वे उभयरूपता किमितीत्याशंकायामाह सन्यासस्त्विति । हे महाबाहो ! संन्यासस्तु अयोगतः योगं बिना आप्तुं दुःखं दुःखरूपमित्यर्थः । अत्रायं भावः संन्यासस्य सांख्यात्मकस्य विप्रयोग रूपत्वाद् योगस्य संयोगात्मकत्वाद्विप्रयोगस्य संयोगपूर्वत्वाद्योगं विना न तत्सिद्धिः स्यादतः उभयरूपत्वेन कथनमित्यर्थः । किं च भगवतोरसरूपत्वाद्रसस्य च द्विरूपत्वादेकरूपत्वेनाकथनेऽपूर्ण एव स स्यादित्यर्थः यतः संयोगं विना न द्वितीयसिद्धिरतो योगयुक्त योगयुक्तः संयोगयुक्तो भूत्वा मुनिः विप्रयोगे मौनैकशरणो भूत्वा अचिरेण शीघ्रमेव ब्रह्म सर्वलीलाव्यापकमधिगच्छति प्राप्नोतीत्यर्थ ।।६।।

यदि यह शंका की जाय कि जब दोनों का फल एक ही है तो उभयत्व क्यों है ? इसके उत्तर में अगला श्लोक कहा है—

हे महाबाहु ! योग के बिना प्राप्त संन्यास दुःख रूप है। भाव यह है कि संन्यास सांख्यात्मक है, अतः विप्रयोग रूप वाला है और योग संयोगात्मक है, संयोग पूर्व के योग बिना विप्रयोग (संन्यास) की सिद्धि संभव नहीं है। अतः दोनों (सांख्य योग) की उभयरूपता कही गई है।

दो रूप में एक को त्यागकर एक का कथन करें तो अपूर्णता होगी। भगवान् रस रूप हैं और दो प्रकार के हैं। अतः एकत्व कथन में वह अपूर्ण हैं। संयोग के बिना द्वितीय की सिद्धि नहीं है। अतः संयोग युक्त हो विप्रयोग में मौन की शरण लेकर शीघ्र ही सर्वलीला व्यापक ब्रह्म को प्राप्त करता है ॥६॥

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः। सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥७॥

ननु ब्रह्मप्राप्तिरेवोत्तमा तदा भक्त्यैव तत्सिद्धिरिति नियत स्वफलभोगकारक कर्मकरणं किं प्रयोजनकमित्याशंक्याह योगयुक्त इति। योगयुक्तो मत्संयोगात्मवान् विशुद्धात्मा विशेषेण शुद्ध आत्मा अन्तकरण कामादिभावरहितं यस्य विजितात्मा विजितो वशीकृत आत्मा भगवत्स्वरूपं येन जितेन्द्रियः जितानि इन्द्रियाणि स्वभोगादिरूपाणि येन सर्वभूतात्मा सर्व भूतात्मरूपो भगवान् स एवात्मा स्वरूपं यस्य तादृशो मदाज्ञया लोकसंग्रहार्थं कर्म कुर्वन्न लिप्यते तत्फलभोगेन न बध्यते ॥७॥

यदि यह शंका करें कि ब्रह्म की प्राप्ति ही श्रेष्ठ है और वह भक्ति से ही प्राप्त हो जायगी तो अपने फलभोगकारक निश्चित कर्म करने का प्रयोजन क्या है ? इस आशंका की निवृत्ति के लिये कहा है 'योगयुक्त ......' इति।

मेरे संयोग से युक्त शुद्ध अन्तःकरण वाला कामादि दोष से रहित आत्मा को वश में करनेवाला जो भगवत् स्वरूप हो गया है, जिसने भोगादि के उपकरण इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करली है और सम्पूर्ण भूतों में स्थित आत्मा को

भगवत्स्वरूप में देखता है वह मेरी आज्ञा से लोकसंग्रह के लिये कर्म करता है, इसलिये वह न तो कर्म फल से लिप्त होता है और न कर्मफल भोगने के लिये उससे बँधा ही रहता है ॥७॥

नैव किंचित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
पश्यञ्छृण्वन् स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्छ्वसन् ॥

ननु नियत फलस्य कर्मणः कृतस्य कथं न फलमित्याशंक्याह नैव किंचिदित्यादि द्वयेण । तत्त्ववित् भगवदिंगितज्ञः युक्तः मद्भावयुक्तः सन् नैव किंचित्करोमि=अहं किंचिदपि न करोमि किन्तु भगवदिच्छया तदाज्ञया यथा स कारयति तथा वारिवशात्तृणादिचलनवत्, कर्म किमपि मत्तो न भवति न त्वहं करोमीति यो मन्यत स पापेन कर्मजफलेन न लिप्यते । एवं रूपस्य स्थितिमाह पश्यन्निति । भावात्मकेन मनसा स्थिरीकृतालौकिकेन्द्रियैश्चक्षुः प्रभृतिभिः पश्यम् भगवत्स्वरूप दर्शनं कुर्वन् । शृण्वन् भगवत्कूजितवेणवादि शब्दान् । स्पृशन् भगवच्चरणारविन्दस्पर्शं कुर्वन् । जिघ्रन् भगवन्मुखामोदाद्या घ्राणं कुर्वन् । गच्छन् गोचारणादिलीलायां संगे गच्छन् । स्वपन् लीलादिसमये नेत्र मुद्रणं कुर्वन् । श्वसन् विप्रयोगादिना श्वासविमोकं कुर्वन् ।

निश्चित फल वाले कर्म के करने से फल क्यों नहीं होता।—इस आशंका का उत्तर दिया है 'नैव किंचित्' आदि तीन श्लोकों में।

भगवान् के इंगित को जानने वाला भगवान् के भाव से युक्त होकर मैं कुछ नहीं करता, भगवान् की इच्छा से, उनकी आज्ञा से, जैसे कर्म प्रभु कराना चाहते हैं, जल के वश तृण चालन की तरह, (मैं वैसे ही कर्म करता हूं।) कर्म मुझसे नहीं होते या मैं उन्हें नहीं करता। (ऐसा समझने वाला) कर्मज फल से लिप्त नहीं होता। ऐसे स्वरूप वाले की स्थिति बतलाई है 'पश्यन्' आदि द्वारा।

भावात्मक मन से स्थिर की गई अलौकिक इन्द्रियों (चक्षु) आदि से भगवान् के स्वरूप का दर्शन करके तथा भगवान् के द्वारा बजाये गये वेणु आदि के शब्दों को सुनकर, भगवान् के चरणारविन्दों का स्पर्श करके, भगवान् के मुख के आमोद को सूंघकर, गोचारण आदि लीला में संग में जाकर, लीला के समय नेत्र निमीलन करके, विप्रयोग मे श्वास विमोक करके ॥८॥

प्रलपन् विसृजन् गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्त्तन्त इति धारयन् ॥९॥

प्रलपन् तद्भावेन मत्तावस्थायां भ्रमरवद्गानं कुर्वन्, विसृजन् तदवस्थायामेव दूरे गच्छन् । गृह्णन् तदवस्थयैवालिंगनादिचरणेषु कुर्वन् । उन्मिषन् मत्तावस्थात्यागेन स्वस्वरूपानुभवं कुर्वन् । निमिषन् तत्सुखानुभवेन नेत्र निमीलिनं कुर्वन् । इन्द्रियाणि इन्द्रियार्थेषु भगवदवयवेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥९॥

उन्हीं के भाव से मत्तावस्था में भ्रमर की तरह गान करके, और उसी अवस्था में दूर जाकर और उसी तन्मयावस्था में चरणों में आलिंगन आदि करके, मत्त अवस्था को त्यागकर स्वरूप का अनुभव करके और उसी सुखानुभव से नेत्र निमीलन करके इन्द्रियों को भगवान् के अवयवों में लगाकर ॥९॥

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥१०॥

ब्रह्मणि पुरुषोत्तमे संगम आधाय संयोगावस्थायां स्थित्वा. संगत्यक्त्वा वा विप्रयोगावस्थायां स्थित्वा कर्माण्यपि यः करोति स तेन न लिप्यते तत्र दृष्टान्तमाह । पद्मपत्रमिवेति अम्भसा पद्मपत्रमिव । जले स्थितमपि तद्यथा न लिप्तं भवति तथेत्यर्थः ॥१०॥

पुरुषोत्तम भगवान् में संयोग अवस्था से स्थित होकर अथवा विप्रयोग अवस्था में संग का परित्याग कर जो कर्म करता है वह पाप से लिप्त नहीं होता।

इसमें दृष्टान्त है पद्म पत्र का, जिस प्रकार पद्म पत्र जल में रहकर भी उनसे दूर है उसी प्रकार भगवदीय व्यक्ति कर्म करता हुआ भी निर्लिप्त रहता है ॥१०॥

कायेन मनसा बुद्धया केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये ॥११॥

नन्वेतत्सिद्धदशायामुक्तं साधनदशायां तत्करणे कथं न लेपः स्यादित्याशंकायामाह कायेनेति । कायेन देहेन भावस्वरूपरहितेन अधिष्ठानात्मकेन तादृशेनैव मनसा केवलैरिन्द्रियैराध्यात्मिकै बुद्धयापि तत्प्राप्तिरूपेच्छया आत्मशुद्धये भावस्वरूप प्राप्त्यर्थं योगिनः संयोगात्मक साधनवन्तः संगं कर्मफलं त्यक्त्वा कर्म भगवदिच्छया कर्तव्यात्मकत्वेन कुर्वन्ति । साधन दशायामपि भगवदिच्छां ज्ञात्वा फलाभावेन कृतं कर्म न बन्धकं भवतोति भावः ॥११॥

प्रश्न– यह बात तो सिद्ध दशा में घटित है, साधनावस्था में तो लिप्त होना आवश्यक है। उत्तर में कहा गया है 'कायेन' आदि।

देह (भाव स्वरूप रहित) से अथवा वैसे ही मन से, केवल इन्द्रियों से, बुद्धि से उसकी प्राप्ति के लिये आत्मशुद्धि किंवा भावस्वरूप प्राप्ति के लिये योगी संयोगात्मक साधन वाले कर्म के फल को त्यागकर भगवान् की इच्छा से कर्म करते है। साधन दशा में भी भगवान् की इच्छा को जानकर—फल की भावना को त्याग कर किया हुआ कर्म बन्धक नहीं होता, यह भाव है ॥११॥

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिं प्राप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबद्धयते ॥१२॥

ननु साधनदशायां फलत्यागेन कर्म करणं किं प्रयोजनकमित्याशंक्याह युक्त इति । युक्तो भगवद्भजनैकनिष्ठः सन् कर्मफलं त्यक्त्वा भगवदाज्ञारूपत्वेन कर्म करोति स नैष्ठिकीं भगवत्तोषरूपां शान्तिं भगवदाज्ञाऽकरणाभावं तापरहितभगवदाज्ञाकरणतोष रूपां प्राप्नोतीत्यर्थः । अतः साधनदशायामपि भगवदाज्ञात्वेन कर्मकरणमुत्तममिति भावः । अभगवदीयस्तु फलाशया कर्मकरणेन बद्धो भवतीत्याह अयुक्त इति । अयुक्तः अभगवदीयः कामकारेण कामनया प्रवृत्तः फले सक्तः सन्निबद्धयते नितरां बद्धो भवति । न भगवत्संबंधं प्राप्नोतीत्यर्थः ॥१२॥

यदि यह प्रश्न करें कि साधनावस्था में फल त्यागने से कर्म करने का प्रयोजन ही क्या ? अतः कहा है 'युक्तः कर्मफलं········' ।

भगवान् के भजन में निष्ठ व्यक्ति कर्म के फल को त्यागकर भगवान् की आज्ञा मानकर कर्म करता है, वह नैष्ठिकी भगवत्तोष रूप शान्ति को प्राप्त करता है । तापरहित भगवान् की आज्ञाकरण रूप तोष को वह प्राप्त करता है । अतः साधन दशा में भी भगवान् की आज्ञा से कर्म करना उत्तम है । जो भगवान् का नहीं है, वह फल की आशा से कर्म करता है और बन्धन में पड़ जाता है । अयुक्त अर्थात् अभगवदीय को बन्धन अवश्यंभावी है अर्थात् उसे भगवान् का सम्बन्ध प्राप्त नहीं होता ॥१२॥

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्याऽऽस्ते सुखं वशी ।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥१३॥

एवं भगवद्भक्तो भगवदाज्ञया कर्म कुर्वन् सुखमाप्नोति अयुक्तस्तु फलाशया कर्म कुर्वन् बद्धो भवतीत्युक्तं तत्र अभक्तस्य सर्वकर्मत्याग एवोत्तम इत्यर्जुनमनस्याभासं प्राप्य त्यागेऽपि भक्तानामेव सुखं नेतरेषामित्याह सर्वकर्माणीति । वशी भगवद्वशे स्थितः सर्वकर्माणि संन्यस्य त्यक्त्वा नवद्वारे पुरे श्रवणादिकरणसमर्थे देहे देही भगवदर्थं देहाभिमानवान् सुखमास्ते तिष्ठति ।

मनसा नैव कुर्वन् स्वार्थाहंकाराभावान्न किंचित्कुर्वन् । न वा ममताभावादन्येभ्यः परोपकार उपदेशादिना कारयन् सुखमास्त इति भावः ॥१३॥

भगवान् का भक्त भगवान् की आज्ञा से कर्म करता हुआ सुख प्राप्त करता है। अयुक्त तो फलाशा से कर्म करता है अतः बद्ध होता है। अभक्त को समस्त कर्मों का परित्याग ही श्रेयस्कर है। इस प्रकार का आभास अर्जुन के मन में स्थिर करके त्याग में भी भक्तों को सुख है, अभक्तों को नहीं, अतः 'सर्व कर्माणि' कहा है। भगवान् के वश में स्थित होकर सम्पूर्ण कर्मों का परित्याग करके नवद्वार वाले शरीर में देही भगवान् के लिये देहाभिमानी बनकर सुख पूर्वक रहता है। भाव यह है कि वह कर्म मन से नहीं करता। स्वार्थ और अहंकार रहित होकर ममता के अभाव में अन्यों को परोपकार-उपदेश आदि की दृष्टि से करते हुए सुख पूर्वक रहता है ॥१३॥

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥१४॥

ननूपदेशादिना कारणे को दोष इति चेत्तत्राह न कर्तृत्वमिति । प्रभुः ईश्वरः लोकस्य कर्तृत्वं न सृजति । न कर्माणि सृजति । न वा कर्मफलसंयोगं सृजति । अतः स्वयमपि किमिति तथोपदिशेदितिभावः । नन्वीश्वरोत्पादनाऽभावे लोकः कथं प्रवर्तत इत्यत आह स्वभावस्तु प्रवर्तत इति । जीवस्य स्वभावः प्रकृत्यात्मकः प्रवर्तते कर्तृत्वादिरूपेण ॥१४॥

यदि यह प्रश्न करें कि उपदेश आदि कारण में दोष ही क्या है? तो कहा है 'न कर्तृत्वम्' इति ।

ईश्वर न तो लोक का कर्तृत्व रचता है, न कर्मों को रचता है और न कर्मों के फलों के संयोग को ही रचता है। अतः स्वयं ही उपदेश क्यों दे? यदि ऐसी शंका करें कि ईश्वर को रचयिता न मानने से लोक की प्रवृत्ति ही क्यों होगी, अतः

कहा है 'स्वभावस्तु' अर्थात् जीव का स्वभाव कर्तृत्व आदि रूप से प्रकृत्यात्मक होता है ।।१४।।

नादत्ते कस्यचित् पापं न चैव सुकृतं विभुः ।
अज्ञानेनाऽऽवृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ।।१५।।

यतः प्रभुर्न सृजत्यतः कस्य चित् पापपुण्यादिकमंगीकृत्य फलं न ददातीत्याह नादत्त इति । विभुः अनियम्यः स्वेच्छयैव सर्वफलदान समर्थः कस्यचित् जीवस्य पापं पापरूपं कर्म न आदत्ते नाङ्गीकरोति तदंगीकृत्य नरकादिफलं न ददातीत्यर्थः । सुकृतं च नैवांगी करोति तदंगीकारेण स्वर्गादिसुखं न ददातीत्यर्थः । विभुत्वात् स्वक्रीडेच्छयैव यथासुखं करोतीति भावः । तर्हि 'एष एव तं साधु कर्म कारयती'त्यादि श्रुतिभ्य ईश्वर एव तत्तत्कर्म कारयित्वा सर्वेभ्यः फलं ददातीति कथमुच्यते तत्राह अज्ञानेनेति । अज्ञानेन प्रकृत्युत्थेनेन ज्ञानं भगवत्स्वरूपात्मकं श्रुत्यर्थरूपवा तेन जन्तवः जीवा मुह्यन्ति मोहं प्राप्नुवन्ति । अन्यथा वदन्तीत्यर्थः ।।१५।।

प्रभु नहीं रचते अतः किसी के पाप पुण्य आदि को अंगीकार करके वे फलदायी भी नहीं होते । अतः कहा है—'ना दत्ते' इति ।

विभुः—सर्वसमर्थ ! स्वेच्छा से ही सम्पूर्ण फल दान में समर्थ हैं, वे किसी के पाप पुण्य रूप कर्म को स्वीकार नहीं करते । अर्थात् नरक आदि फल नहीं देते । सुकृत स्वीकार करके प्रभु किसी को स्वर्ग आदि फल नहीं देते । वे विभु है अतः अपनी क्रीडा की इच्छा से ही यथा रुचि करते हैं । श्रुति 'एष एव' में भी यही तथ्य प्रमाणित किया है । ईश्वर ही इन-उन कर्मों को कराकर सबको फल देता है—ऐसा क्यों कहा जाता है । इसके उत्तर में कहा है—'अज्ञानेन' । प्रकृति बोध हो जाने पर भगवत्स्वरूपात्मक या श्रुत्यर्थ रूप ज्ञान होने पर जीव मोह को प्राप्त हो जाते हैं । यह अन्यथा कथन है ।।१५।।

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥१६॥

श्रुतौ तु पूर्वं तादृक् फलदानेच्छां निरूप्य पश्चात् कर्मकारणत्वमुच्यते न तु कर्मफलत्वमागच्छति किंतु विविधेच्छात्वमेवायातीति येषां भगवता ज्ञानेनाज्ञानं नाशितं ते न मुह्यन्तीत्याह। ज्ञानेनेति। तु पुनः। आत्मज्ञानेन भगवत्संबंधिज्ञानेन ज्ञानात्मकभगवद्रूपेण येषां दुर्लभानां कृपापात्राणां तत्पूर्वोक्तमज्ञानं नाशितं तेषां तत् भगवदात्मकं ज्ञानं परं ब्रह्म प्रकाशयति प्रकटयतीत्यर्थः। आदित्यवत् यथा सूर्यस्तमोदूरीकृत्य स्वात्मसहितं स वस्तुमात्रं प्रकाशयति तथा ॥१६॥

श्रुति में तो पहले इस प्रकार के फलदान की इच्छा का निरूपण कर्म कारण कहा जाता है। कर्म फल नहीं आता किन्तु विविध इच्छा ही है। भगवान् के ज्ञान के द्वारा जिनका अज्ञान नष्ट है वे मोहित नहीं होते। आत्मज्ञान से, भगवत्सम्बन्धी ज्ञान से ज्ञानात्मक भगवद्रूप से जिन दुर्लभ कृपा पात्रों का पूर्वोक्त अज्ञान नष्ट हुआ है उनको वह भगवदात्मक ज्ञान परं ब्रह्म प्रकट होता है जिस प्रकार सूर्य अन्धकार को दूर कर स्वयं सहित सम्पूर्ण वस्तुओं का प्रकाशक होता है उसी प्रकार ज्ञान भी सब को प्रकाशित करता है ॥१६॥

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥१७॥

तत्प्रकाशात्फलं भवतीत्याह तद्बुद्धय इति। तस्मिन् ईश्वरे बुद्धिर्येषां ते। तस्मिन् स एव वा आत्मा येषां; तस्मिन्नेव निष्ठा भावो येषां तस्मिन्नेव परायणाः तत्परास्तादृशाः। ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः निरस्ताऽज्ञानाः। अपुनरावृत्तिं मोक्षं गच्छन्ति प्राप्नुवन्ति ॥१७॥

उस प्रकाश से फल भी होता है। ईश्वर में बुद्धि हो जाने से उसमें ही लीन होकर, परायण होकर, ज्ञान द्वारा अज्ञान को नष्ट कर मोक्ष प्राप्त करते हैं ॥१७॥

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥१८

तेषां लक्षणमाह विद्येति । विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे श्वपाके शुनो यः पचति तस्मिंश्च गविहस्तिनि शुनि च समदर्शिनः मदंशात्मज्ञानेन ते पण्डिताः ज्ञानिनो ज्ञेया इत्यर्थः ॥१८॥

ज्ञानियों का लक्षण कहा जाता है। विद्या और विनय से सम्पन्न ब्राह्मण में, कुत्ता पकाकर खाने वालों में, गाय-हाथी-कुत्ते में जो यह जानते हैं कि सब में भगवान् का अंश है, वे पंडित हैं अर्थात् ज्ञानी हैं ॥१८॥

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥१६॥

य एतादृशास्त उत्तमा इत्याह इहैवेति। येषां साम्ये समभावे स्थितं तैरिहैव सर्गो जितः। अत्रायं भावः। भगवता स्वक्रीडार्थं जगदुत्पादितं तत्र यस्य यादृगिच्छया यो भाव उत्पादितः स तथैव करोति। स योग्यो भवति नवेति किमर्थं विचारणीयम्। अतो येषां मनः साम्ये भगवत्क्रीडारूपे स्थितं तैरिहैव अधिष्ठानात्मकदेहे एव सर्गः सन्सारो मायारूपो जितः। यतो ब्रह्म सम स्वक्रीडाथरूपेषु निर्दोषं तेषु दोषादिरहितं तस्माद्येषां मनः साम्ये स्थितं ते ब्रह्मणि ब्रह्मभावे स्थिताः अतस्तैः सन्सारो जित इत्यर्थः। यद्वा सर्गः स्वोत्पत्तिर्जिता वशीकृता सफलीकृतेत्यर्थः भगवता स्वमेवार्थमुत्पादितास्तत्कृतमिति भावः। यद्वा येषां मनः संयोगवियोगयोः साम्येन स्थितं तैरिहैव अधिकरणदेह

एव सर्गः अलौकिकोऽप्रेमावो जितो वशीकृतः। सर्वथं वालौकिकदेहो भाव-रूपो वश जातो यतोऽयं यदेच्छति तदेव भावप्राकट्यं भवतीतिभावः। हीति युक्तमेव यतो ब्रह्म भगवान् स्वस्थायिरसात्मकत्वात् समानाद्यवस्थासु निर्दोषं यथा रासे। यतो ब्रह्म तादृशं तस्मात् ते ब्रह्मणि ब्रह्मभावे निरोधरूपे स्थिता इति भावः॥ १६॥

ऐसे ज्ञानी ही उत्तम हैं। जिनका मन सम भाव में स्थित है, उन्होंने सर्ग जीता है। भाव यह है कि भगवान् ने अपनी क्रीडा के लिये जगत् उत्पन्न किया है। इस जगत् में जिसका जिस इच्छा से जो भाव पैदा किया है, वह वैसा ही आचरण करता है। वह योग्य है या नहीं विचारणीय नहीं है। अतः जिनका मन भगवत् क्रीडा रूप साम्य में स्थित है उन्होंने इस लोक में ही—अधिष्ठानात्मक देह में ही सर्ग=माया रूप संसार को जीत लिया है। क्योंकि ब्रह्म के समान अपने क्रीडार्थ रूप में, निर्दोष में, दोषादि रहित जिसका मन है, साम्य से अवस्थित है, वह ब्रह्म में ब्रह्मभाव से अवस्थित माना जाता है। अतः ब्रह्म से साम्य करने वाले संसार को जीत लेते हैं। अथवा उन्होंने सर्ग नाम अपनी उत्पत्ति को वश में कर लिया है, या सफल कर लिया है। अपने को ही उत्पन्न किया है अथवा जिनका मन संयोग और वियोग में साम्य से स्थित है उन्होंने अधिकरण देह में ही अलौकिक सर्ग को वश में कर लिया है। अलौकिक देह भावरूप है, वश मे हो जाता है। क्योंकि यह जब जब इच्छा करता है तब तब भाव प्रकट हो जाते हैं। ब्रह्म=भगवान् स्थायी रसात्मक हैं, वह समान आदि अवस्थाओं में भी निर्दोष हैं, जैसे रास में। ब्रह्म वैसा है अतः वे ब्रह्म में ब्रह्म भाव से निरोध रूप में स्थित हैं, यह भाव है॥१६॥

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत् प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः॥२०॥

एवं साम्यस्थितस्य ब्रह्मभावापत्तिमुक्त्वा तद्भावापन्नस्य लक्षणमाह। न प्रहृष्येदिति। प्रियं प्राप्य संयोगेन न प्रहृष्येत्। यतः प्रकृष्टहर्षेणाग्रे

मानोत्पत्त्या दोषः स्यात् । च पुनः अप्रियं विप्रयोगं प्राप्य नोद्विजेत उद्वेगं न प्राप्नोति । यतो भगवता विप्रयोगः परमसुखदानार्थं दत्तस्तत्रोद्वेगेऽप्रे न तत्प्राप्तिः स्यात् । एवमवस्थाद्वये स्थिरबुद्धिः सः असंमूढः ब्रह्मवित् मोहाभावेन ब्रह्मस्वरूपज्ञ इति भावः । ब्रह्मणि ब्रह्मभावे स्थितः स इत्यर्थः ॥२०॥

साम्य में अवस्थित के ब्रह्मभाव को समझाकर ब्रह्म भावापन्न का लक्षण कहा जाता है—प्रिय को प्राप्तकर संयोग से प्रसन्न न हो, क्योंकि प्रसन्नता से अभिमान उत्पन्न होगा जो दोष है। अप्रिय विप्रयोग को प्राप्तकर उद्वेग प्राप्त न करे क्योंकि भगवान् ने विप्रयोग को परम सुख देने के लिये दिया है। उद्वेग से उसकी प्राप्ति सम्भव नहीं है। इस प्रकार जो दोनों अवस्थाओं में स्थिर बुद्धि रखता है वह मोह रहित व्यक्ति ब्रह्म को जान लेता है, ब्रह्म में ब्रह्मभाव से ही अवस्थित होता है, यह भाव है ॥२०॥

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम् ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ॥२१॥

नन्वनेन शरीरेण कथं तद्भावप्राप्तिरित्याशंक्याह । बाह्यस्पर्शेष्विति । बाह्यस्पर्शेषु लौकिकेन्द्रियविषयेष्वसक्त आत्मा अन्तःकरणं यस्य स आत्मनि भावात्मके स्व स्वरूपे यत्सुखं तद्विन्दति प्राप्नोतीत्यर्थः । योगो भावात्मकं सुखं तं जानाति । स ब्रह्मयोगे सद्भावात्मके युक्त आत्मा यस्य तादृशो भवति । अक्षयं तद्दास्यात्मकं सुखमश्नुते भुङ्क्ते इत्यर्थः ॥२१॥

यदि यह शंका हो कि इस शरीर से ब्रह्मभाव की प्राप्ति कैसे संभव है ? इसका उत्तर अगले श्लोक 'बाह्यस्पर्शेषु' में है—

जिसका अन्तःकरण लौकिक इन्द्रियों में अनासक्त है वह आत्मा में=भावात्मक स्व स्वरूप में जो सुख है उसे प्राप्त करता है। योग अर्थात् भावात्मक सुख को

जानता है। वह वह प्रयोग में भावात्मक में युक्त आत्मा वाला हो जाता है। परमेश्वर के दास्यात्मक सुख का भोग करता है ॥२१॥

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषुरमते बुधः ॥२२॥

ननु लौकिकरसभोगाभावेऽनुभवं विना कथमलौकिकरसज्ञानं स्यात्तदभावे च कथं तदनुभवः स्यादित्यत आह ये हि संस्पर्शजा इति। संस्पर्शजा भोगा विषयसंबंधिनो लौकिकार्थे भोगास्ते दुःखयोनयो भगवत्संबंधाभावक्लेशकारणभूताः यत आद्यन्तवन्तः। आदिमन्तः स्वभावेनैवोत्पन्ना न तु भगवदिच्छया अन्तवन्तः स्वमनोरथपूर्त्यैव पूर्णाः। यतस्ते एव तादृशा अतो हे कौन्तेय! मद्भावानुभवयोग्य! हीति निश्चयेन बुधः सर्वरसज्ञो भगवान् न रमते=न रस दानं करोतीत्यर्थः। यतो भगवान् बुधः सर्वरसज्ञोऽतस्तदिच्छया तद्भोगानुभवः सिद्ध एव भविष्यतीति भावः ॥२२॥

लौकिक रस भोग के अभाव में अनुभव का अभाव है अतः अलौकिक रस का ज्ञान कैसे होगा और फिर अलौकिक अनुभव संभव नहीं। अतः श्रीकृष्ण ने कहा—विषय संबंधी लौकिक भोग दुःख के कारण हैं क्योंकि इनसे भगवान् का संबंध दूर हो जाता है। संबंध का दूर होना ही क्लेश का कारण है और इस से ही ये आदि-अन्तवाले कहे गये हैं। आदि का अभिप्राय यह है कि ये स्वभाव से ही उत्पन्न होते हैं, भगवान् की इच्छा से नहीं। अन्त का अभिप्राय है मनोरथ पूर्ति से पूर्ण होना। भोग ऐसे ही हैं। हे कौन्तेय! अर्थात् मद्भाव के अनुभव करने में समर्थ, सम्पूर्ण रसों के ज्ञाता भगवान् रसदान नहीं करते। भगवान् सर्व रस ज्ञान समर्थ हैं, अतः तद्भोग का अनुभव उनकी इच्छा से ही सिद्ध होगा यह भाव है ॥२२।

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥२३॥

तस्माल्लौकिकभोगत्याग एव तत्संबंधबाधक इत्याह। शक्नोतीति। यः शरीरविमोक्षणात् प्राक् अलौकिकदेहाप्तिकालात् पूर्वं कामक्रोधोद्भवं वेगं कामोद्भवं स्वेच्छाजनितरसभावाभावजं क्रोधोद्भवमन्येषु तदिच्छापूर्तिदर्शन-क्षोभजं सोढुं शक्नोति स इहैव अस्मिन्नेव शरीरे युक्तो भावात्मकरूपयुक्तः स सुखीनरः मद्भक्तः स्यादित्यर्थः ।।२३।।

लौकिक सम्बन्धों का परित्याग ही उनके सम्बन्धों में श्रेयस्कर है। जो अलौकिक देह प्राप्ति काल के पूर्व ही काम अर्थात् स्वेच्छा से उत्पन्न रस भाव के अभाव से उत्पन्न और क्रोध अर्थात् अन्यों पर इच्छा पूर्ति दर्शन क्षोभ से उत्पन्न को जो सहन करता है, वह इस शरीर में भावात्मक रूप में सुखी रहता है, वह मनुष्य मेरा भक्त है ।।२३।।

योऽन्तः सुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ।।२४।।

ननु सुखावलम्बनाभावे कथं बाह्यदुःखसहनं न स्यादित्याशंक्याह। योऽन्तःसुख इति। योऽन्तःसुखः भावात्मकस्वरूपसुखवान् अन्तरारामः। अन्तरेव भावात्मकस्वरूप एव भगवद्रमणकारणवान् तथा अन्तर्ज्योतिः संयोगरसमुखमनरसनेन विप्रयोगतासुखानुभववान्। स योगी मदन्तरङ्गरसयुक्तो भूत्वा ब्रह्मभूतः अलौकिकस्वरूपः सन् ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मवत् भगवन्निर्वाणं लयं लीलात्मकतां अधिगच्छति प्राप्नोतीत्यर्थः ।।२४।।

सुख के अवलम्बन के अभाव में दुःख सहन संभव नहीं, इसका उत्तर दिया है 'योऽन्तः' श्लोक में।

जो भावात्मक स्वरूप सुखवाला अन्तरात्मा है वह भावात्मक

स्वरूप में ही भगवान् के रमण का कारण वाला होता है। और संयोग रस के सुख की समता से वियोगता के सुख का भी अनुभव कर लेता है। वह व्यक्ति मेरे संयोग रस से युक्त होकर अलौकिक स्वरूप वाला बनकर ब्रह्म की भांति निर्वाण अर्थात् लीलात्मकता को प्राप्त हो जाता है ॥२४॥

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥२५॥

ननु लीलात्मकता ऋषीणामपि दुर्लभा कथं केवलभाववतामेव सिद्धयेदित्यत आह। लभन्त इति। क्षीणकल्मषा भगवल्लीलानुभवफलेतरफलानभिलाषिणऋषयः फलदर्शिनोऽग्निकुमारादितुल्याः। ब्रह्मनिर्वाणं लीलात्मकत्वं लभन्ते। कीदृशाः। छिन्नद्वैधाश्छिन्नसंशया एतत्फलेतर फलाजानिनः। पुनः कीदृशाः। यतात्मानः केवलं भगवदर्थैकनिष्ठात्मवन्तः। पुनः कीदृशाः सर्वभूतहिते भगवति रता अनुरागिणो ये ते लीलात्मकतां प्राप्नुवन्तीत्यर्थः। यद्वा भिन्नतया सर्व एव लभन्ते ऋषयः। तत्र निदर्शनमग्निकुमाराः। छिन्नद्वैधाः श्रुतयो गोपीरूपाः। यतात्मानो वृन्दावने पक्ष्यादिरूपा मुनयः। सर्वभूतहितरताः पुलिन्द्यः। एवं भाववन्तः सर्वेऽपि लभन्त इति भावः ॥२५॥

लीलात्मकता मुनियों को भी दुर्लभ है। अतः केवल भाव अनुभूति वालों को वह प्राप्त कैसे होगी? इसी से कहा है—'लभन्ते'। भगवान् की लीला के अनुभव फल से पृथक् फल न चाहने वाले ऋषि गण फलदृष्टा अग्निकुमार आदि की भांति ब्रह्मनिर्वाण=लीलात्मकता को प्राप्त करते हैं। वे लीलात्मकता के फल के अतिरिक्त अन्य फल को जानते ही नहीं। उनकी निष्ठा केवल भगवान् में ही होती है। उनकी रति भगवान् में ही होती है। ऐसे अनुरागी लीला स्वरूप को प्राप्त कर लेते हैं। अथवा भिन्न होने से ऋषि सब कुछ प्राप्त कर लेते है। यहां अग्निकुमारों का उदाहरण दर्शनीय है। द्वैध नष्ट करने वाली श्रुति गोपीरूप में यतात्मा पक्षी आदि के रूप में वृन्दावन में, सम्पूर्ण भूतों के हित में संलग्न भीलनी आदि ने इस लीला स्वरूप को प्राप्त किया है ॥२५॥

कामक्रोध वियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।

अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥२६॥

किंच कामक्रोधवियुक्तानां पूर्वोक्त प्रकारेण कामक्रोधरहितानां यतीनां परमहंसानां भगवदर्थं सर्वपरित्यागेन स्थितानां वृन्दावनीयवृक्षादिवत् यत चेतसां भगवत्स्वरूपानुभवैकपरचित्तानां विदितात्मनां भगवत्स्वरूपज्ञानिनां अभितः सर्वजन्मसु सर्वदिक्षु वा ब्रह्मनिर्वाणं लीलात्मकत्वं वर्त्तते अनुवर्तत इत्यर्थः । यथा वृन्दावने वृक्षेषु तन्मूलेषु परितश्च क्रीडति तथेति भावः ॥२६॥

काम क्रोध से रहित परमहंस भगवान् के लिये सबका परित्याग करके वृन्दावन में स्थित वृक्ष आदि की भाँति यतचित्तों अर्थात् भगवान् के स्वरूप अनुभव में ही चित्त लगाने वाले तथा भगवान् के स्वरूप के ज्ञान करने वालों के चारों ओर लीलात्मकता विद्यमान रहती है । जैसे वृन्दावन में वृक्षों के मूल में चारों ओर लीला की सत्ता है उसी प्रकार उक्त ज्ञानियों के चारों ओर लीला-अनुभव विद्यमान है ॥२६॥

स्पर्शान् कृत्वा वहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवांतरेभ्रुवोः ।

प्राणापानौ समौकृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥२७॥

यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।

विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥२८॥

ननु स्पर्शभावरूपा स्थितिरतिकठिना अतः स्पर्शसंयोगेऽपि या प्राप्तिः स्यात् स्पर्शजनन्धाभावे न तथा भवेदित्यभिप्रायेणाह । स्पर्शानिति । द्वयेन ।

बहिर्वाह्यान् स्पर्शान् कृत्वा बाह्यांल्लौकिकान् स्पर्शानिन्द्रियादिविषयभोगान् बहिः तेषूत्तमाद्यभावेन प्रारब्धकर्मभोगवत्। किंच पुनश्च भ्रुवोः कामयमरूप-योरन्तरेव चक्षुः=दृष्टिं कृत्वा कालयममध्ये मरणरूपोऽस्मीति दृष्ट्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ प्राणापानावूर्ध्वाधोगतिरूपौ। संयोग विप्रयोगसुखानुभवाविवसमौ कृत्वा मोक्षपरायणः विषयादित्यागपरो विगतेच्छाभयक्रोधो भूत्वा यतेन्द्रियमनोबुद्धिः सन् यः सदा मुनिः मननशीलो भवति स स्पर्शादिभिर्मुक्त एव स्यादित्यर्थः ॥२७, २८॥

स्पर्शभावरूप स्थिति अत्यन्त कठिन होती है। अतः स्पर्श के संयोग होने पर भी जो प्राप्ति होगी वह स्पर्श से उत्पन्न् बन्ध के अभाव में वैसी न होगी। इस अभिप्राय से कहे हैं—'स्पर्शान् कृत्वा' आदि दो श्लोक। बाह्य=लौकिक इन्द्रियों के विषय भोगों को उत्तमादि के अभाव से प्रारब्ध कर्म भोग की भाँति, काल और यम के मध्य मरण रूप हूँ, ऐसे अन्तर्मुखी चक्षु करके, नासाभ्यन्तरचारी मुनि प्राण-अपान ऊँची नीची गति रूप संयोग-विप्रयोग सुख अनुभव के समान विषयों का परित्याग कर इच्छा भय क्रोध का त्यागकर इन्द्रिय-मन-बुद्धि का संयम करके मननशील मुनि स्पर्श आदि से मुक्त हो जाता है ॥२७, २८॥

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्व भूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥२९॥

ननु कथमेतावन्मात्रेण स्पर्शादिमोक्षः स्यादित्याशंक्याह। भोक्तारमिति। यज्ञतपसां पुण्योपार्जिततापानां भोक्तारं तापोद्भूतरसभोक्तारं सर्वलोकमहेश्वरं स्वक्रीडार्थं जगत्कर्तारं सर्वभूतानां सुहृदं भक्तिमुक्तिस्वरूप रसादिदानेन। एतादृशं मां ज्ञात्वा लौकिकाच्छान्तिं ऋच्छति प्राप्नोति ॥२९॥

संन्यासरूपकथनात्पञ्चमे कल्पितं भ्रमम्।
नाशयामास कौन्तेय प्रश्नव्याजान्नतोऽस्मि तम् ॥

इति श्रीमगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-संवादे कर्मसंन्यासयोगोनाम पंचमोऽध्यायः ।।५।।

इति श्री भगवद्गीताटीकायां गीतामृततरंगिण्यां पंचमोऽध्यायः ।।५।।

इतने मात्र से स्वर्ग आदि द्वारा मोक्ष कैसे संभव है, इस दृष्टि से 'भोक्ता-रम्' श्लोक कहा है । यज्ञ और तपस्या के पुण्य से उपार्जित तापों को भोगने वाले, अर्थात् ताप से उत्पन्न रस को भोगने वाले, अपनी क्रीडा के लिये जगत् बनाने वाले, सम्पूर्ण जीवों को भक्ति मुक्ति स्वरूप रसदान करने से बन्धु के समान मुझ भगवान् को जानकर लौकिक पद्धति से शान्ति को प्राप्त हो जाता है ।।२९।।

संन्यास रूप कथन से जिस भगवान् ने प्रश्न के व्याज से अर्जुन के मन के वैकल्पिक भ्रम का नाश किया, मैं उन्हें नमस्कार करता हूं ।

।। श्री भगवद्गीता के पांचवे अध्याय की श्रीवरी हिन्दी टीका समाप्त ।।

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

छठवां अध्याय

श्रीभगवानुवाच

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्नचाक्रियः ॥१॥

कृत्वाऽपि सर्वसंन्यासं जडवच्चरणादिह ।
न भक्तिं प्राप्नुयात्तस्माद् ध्यानयोगमुवाच ह ॥

पूर्वाध्याये संन्यासमुक्त्वाऽध्यायान्ते इच्छादिविहीनो विषयमोक्षेच्छु-विषयभोक्तृत्वात्तेभ्यो विमुक्तो भवेदित्युक्तम् । ततस्तद्विमुक्तिरेव न फलं किंतु तद्विमुक्त्या भगवद्ध्यानेन भगवदावेशः फलमितिध्यानस्वरूपमाह भगवान् । अनाश्रित इति । कर्मफलं स्वर्गादिरूपमनाश्रितः कार्यं कर्म भगवद्-भक्तत्वादवश्यकर्त्तव्यं कर्म सेवादिरूपं यः करोति स संन्यासी त्यागवान् यः पुनर्योगी च भवतीति शेषः । न निरग्निः न गार्हपत्यादित्यागवान् संन्यासी । न च अक्रियः न सेवादिरहितो योगी भवतीत्यर्थः ॥१॥

श्रीकृष्ण भगवान् बोले कि जो भक्त कर्मफल की कामना न करता हुआ करने योग्य कर्म करता है, वह संन्यासी और योगी है, केवल अग्नि तथा क्रियाओं को त्यागने वाला संन्यासी योगी नहीं है। सब प्रकार के संन्यास करके भी इस संसार में जड़ की तरह आचरण करने से भक्ति को नहीं प्राप्त किया जा सकता, इसीलिये ध्यान योग को कह रहे हैं।

पूर्व अध्याय में संन्यास को कहकर अध्याय के अन्त में इच्छादि से रहित विषयों से मोक्ष चाहनेवाला विषयों में भोक्तृत्व होने से, उनसे विमुक्त हो अर्थात् उनका परित्याग कर दे, यह कहा गया है। तत्पश्चात् उनसे विमुक्ति ही फल नहीं है, परन्तु उस विमुक्ति के द्वारा भगवान् में अनुरक्ति फल है, इस कारण भगवान् ध्यान् के स्वरूप का वर्णन कर रहे है। 'अनाश्रित' इति। स्वर्गादि रूप कर्मफल की कामना न करते हुए भगवान् के द्वारा बतलाये गये अवश्य कर्त्तव्य रूप सेवादि कर्म को करता है, वह त्यागी, संन्यासी तथा योगी कहलाता है। गार्हपत्यादि अग्नियों को छोड़ने वाला संन्यासी नहीं है और न सेवादि कर्म को त्यागने वाला ही योगी होता है ॥१॥

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ॥२॥

ननु कथमुक्तत्यागवान् योगी न भवेदित्याशंक्याह यं संन्यासमिति। यं संन्यासमिति प्राहुः प्रकर्षेण सर्वात्मभावरूपेण आहुस्तत्स्वरूपविदो भक्तास्तेऽधुनाऽधिकाराभावान्नोच्यन्ते अग्रे वाच्यास्तं हे पाण्डव! योगं योगरूपं विद्धि जानीहि। पाण्डवेति संबोधनेन ज्ञानयोग्यता निरूपिता। तस्मिन्संन्यासे विप्रयोगरसानुभवरूपे स्वकांक्षित फलत्यागो भवत्यतः संयोगसिद्धिः। अस्मिंस्तदभावान्न तत्सिद्धिरित्याह न हीति। असंन्यस्तसंकल्पः। न त्यक्तो मानसो नियमः स्वसुखानुभवरूपो येन तादृशः कश्चन भावादिमानपि योगी न भवति। हीति युक्तश्चायमर्थः। यतः स्वसुखानुभवेच्छोः प्रभुसुखानुभवेच्छा नोदेति परस्परमुभयोः स्थितिरेकत्र न संभवत्यतः स्वसुखानुभवरूपमानसनिश्चयत्यागवान् योगी भवतीति भावः ॥२॥

उपर्युक्त त्यागी योगी क्यों नहीं होता, इस प्रकार की शंका करके कहते हैं 'यं संन्यास……'

हे अर्जुन जिसको संन्यास कहते हैं, उसे ही तुम योग समझो, क्योंकि संकल्पों का परित्याग करने वाला कोई भी मनुष्य योगी नहीं होता।

जिसे प्रकर्ष से, सर्वात्म भाव रूप से संन्यास कहते हैं, स्वरूप को जानने वाले भक्तजन, उसे सम्प्रति अधिकाराभाव से नहीं कहते हैं। हे पाण्डव ! आगे कहने योग्य उसे तुम योग रूप ही समझो। यहाँ पर पाण्डव सम्बोधन के द्वारा ज्ञान की योग्यता का निरूपण किया गया है। उस संन्यास में, वियोग रसानुभव में, स्वयं चाहे गये फल का त्याग होता है, इस कारण संयोग सिद्धि होती है। इस सिद्धि में उसके न होने से उसकी सिद्धि नहीं होती है—इसे बतलाते हैं 'न ह्योति' से। संकल्पों को न त्यागनेवाला, जिसने स्व सुखानुभव रूप अपने संकल्पों को नहीं छोड़ा वह इस प्रकार के भावादिकों से मुक्त रहने पर भी योगी नहीं होता है। हि पद से यह विषय ठीक बतलाया है क्योंकि अपने सुखानुभव को चाहने वाले व्यक्ति में प्रभु सुखानुभव की इच्छा नहीं उत्पन्न होती। परस्पर दोनों की स्थिति एक स्थान पर नहीं होती। इस कारण सुखानुभवरूप मन के निश्चय को त्यागने वाला योगी होता है, यह भाव है ॥२॥

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्मकारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥३॥

ननु स्वसुखानुभवसंकल्पत्यागः सिद्धस्य भवति साधनदशापन्नस्य किं कर्त्तव्यमित्यत आह। आरुरुक्षोरिति। योगम् आरुरुक्षोः संयोगरसप्राप्तीच्छो-र्मुनेर्मननशीलस्य कारणं कर्म सेवात्मकमनुकारणरूपमुच्यते कथ्यत इत्यर्थः। तस्यैव सेवादिकरणेन योगारूढस्य संयोगरसव्याप्तमनसः शमः अनुकरणादि-कृतिरहितभावनाप्रवणस्थितिः कारणमुच्यते कथ्यते तत्प्राप्त्यर्थमिति शेषः ॥३॥

स्वसुखानुभव मन के निश्चय का त्याग तो सिद्ध को होता है, फिर साधनावस्था वाले को क्या करना चाहिये ? इस पर कहते हैं—'आरुरुक्षोः।'

योग में आरूढ होने की कामना वाले मननशील पुरुष के लिये योग की प्राप्ति में निष्काम भाव से कर्म करना ही हेतु है, और योगारूढ़ हो जाने पर

उस योगारूढ पुरुष के लिये सब संकल्पों का अभाव ही कल्याण में हेतु कहा गया है।

संयोग रस की प्राप्ति को चाहने वाले मुनि मननशील पुरुष का सेवात्मकरूप कर्म हेतु कहलाता है। उसी का सेवादि के द्वारा संयोग रस से अभिव्याप्त मन का शम अर्थात् अनुकरणादि कृति से रहित भावना प्रणव स्थिति हेतु कहलाता है। उसकी प्राप्ति के लिये यह शेष है ॥३॥

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥४॥

स योगरूढः कथं ज्ञातव्यः इत्यत आह। यदा हीति। यदा इन्द्रियार्थेषु रूपादिषु उत्कटतापनिवृत्त्यर्थं स्वप्नादिप्राप्तेषु हीति निश्चयेन पुरुषार्थरूपेण नानुषज्जते नाऽऽसक्तो भवति। न कर्मसु तत्साधककृतिरूपेषु अनुषज्जते= नाऽऽसक्तो भवति। सर्वसंकल्पसंन्यासी मनोनिश्चयात्मकस्वभोगेच्छादि-त्यागवान् यो नासक्तो भवेत्तदा योगारूढः संयोगभावे प्रतिष्ठित उच्यते कथ्यत इत्यर्थः ॥४॥

उस योगारूढ़ को कैसे जाना जाय इस पर कहते हैं—'यदा......उच्यते।'

जिस समय न तो इन्द्रियों के भोगों में आसक्त होता है और न कर्मों में ही, उस समय सब संकल्पों का त्याग करने वाला योगी पुरुष योगारूढ़ कहा जाता है।

यदाहीति—जब इन्द्रियां उत्कट ताप की निवृत्ति के लिये स्वप्नादि में प्राप्त रूपादि विषयों में निश्चितरूपेण आसक्त नहीं होती हैं और न साधक कर्म रूप में ही आसक्त होता है, सर्वसंकल्पों को त्याग देने वाला योगी अर्थात् मन से निश्चित होने वाले अपनी भोगादि इच्छाओं को त्याग देने वाला, आसक्त नहीं होता है, उस समय योगारूढ=संयोगभाव में स्थित कहलाता है ॥४॥

उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ।।५।।

ननु कर्मसु भगवल्लीलानुकरणरूपेषु मनोहरणैकस्वभावेषु कथमासक्ति-र्नस्यादित्याकांक्षायामाह उद्धरेदिति। आत्मनापुरुषोत्तमरूपेण आत्मानं जीवं कर्मभ्य उद्धरेत् आत्मानं न अवसादयेत् तत्रैवासक्तियुक्तं न कुर्यात् । हि युक्त-श्चायमर्थः । आत्मनो जीवस्य आत्मैव जीव एव बन्धुः हितकृत् । आत्मनो जीवस्य आत्मैव स एव रिपुः शत्रुरत आत्मना आत्मानमुद्धरेद्बन्धु भावेन । न रिपु भावेन अवसादयेत् ।।५।।

मनोहरण प्रकृतिवालों की भगवल्लीलानुकरणकर कर्मों में आसक्ति क्यों नहीं होती है। ऐसी आकांक्षा होने पर कहते हैं—'उद्धरेद्······'

अपने द्वारा अपने का संसार सागर से उद्धार करे अपनी आत्मा को अधोगति में न पहुँचावे, क्योंकि यह जीवात्मा ही अपना मित्र है और यही अपना शत्रु है।

पुरुषोत्तमरूप जीव का कर्मों से उद्धार करे, अपने को अधोगति में न पहुँचावे, कर्मों में आसक्ति न करे। यह अर्थ उपयुक्त है। जीव (आत्मा) का जीव (आत्मा) ही हितकारी है। जीव का जीव ही शत्रु है। अतः अपना बन्धुभाव से उद्धार करे, अरि भाव से अपने को अधोगति में न पहुँचावे ।।५।।

बन्धुरात्माऽऽत्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ।।६।।

ननु कथं स एव बन्धुः कथं वा स एव शत्रुरित्यत आह बन्धुरिति । येन

आत्मना भावस्वरूपेण आत्मा जितः वशीकृतः अधिकरणादिदेहकृतिभ्यो भावरूपे स्थापित इत्यर्थः। तस्य आत्मान आत्मैव बन्धुर्हितकृद्भवतीत्यर्थः। स्वस्य दास्यार्थे प्रकटितस्य तदुचितकरणैकभावप्रयुक्त सतोषेण बन्धुस्तद्भाव स्वरूप एव स्वाधिदैविकस्वरूपेण भवतीति भावः तु पुनः। अनात्मनः भावस्वरूपरहितस्य आत्मैव शत्रुवत् शत्रुत्वे तद्भावप्रतिबन्धके वर्तेत। तथा चायमर्थः भावरहितकेवलकर्मासक्तस्वदास्यार्थप्रकटितप्रयोजनरहित स्वस्य स्वरूपानर्थक्यकृतिरोषेणाधिदैविक आत्मा अत्र कर्मसु सेवादिषु तदावेश-प्रतिबन्धको भवेत् ॥६॥

वही आत्मा शत्रु एवं बन्धु कैसे ? इस पर कहते हैं—'बन्धु''''''।'

उस जीवात्मा का वह स्वयं ही मित्र है। जिस जीवात्मा ने मन तथा इन्द्रियों के साथ शरीर को जीता है और जिसके द्वारा वह शरीर नहीं जीता गया है उसका वह स्वयं ही शत्रु के समान शत्रुता में वर्तता है।

जिस जीव ने आत्मा को जीत लिया अर्थात् वश में कर लिया, अधिकरणादि शरीर कृतियों से भाव रूप में स्थापित कर लिया उसका वह आत्मा ही हितकारी होता है। अपने दास्य के निमित्त प्रस्तुत उचित साधनों के एक भाव रूप में प्रयुक्त सन्तोष के द्वारा वह आत्मा अपने आधिदैविक स्वरूप से बन्धु होता है। परन्तु फिर भाव स्वरूप से रहित आत्मा ही शत्रु के समान शत्रुता में अर्थात् उस भाव-स्वरूप के प्रतिबन्धक रूप में वर्तता है। आशय यह है कि भाव रहित केवल कर्मों में आसक्त अपने दास्य के निमित्त विद्यमान प्रयोजन से रहित अपने स्वरूप के आनर्थक्य से विहित रोष से आत्मा इन सेवादि कर्मों में उस आवेश का प्रतिबन्धक होता है ॥६॥

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥७॥

ननु बन्धुत्वे कथं हितकृद्भवेदित्यत आह जितात्मन इति। जितात्मनः वशीकृतभावात्मनः शीतोष्णसुखदुःखेषु संयोगविप्रयोगेषु प्रशान्तस्य संयोगे स्वसौभाग्यादिमदरहितस्य विप्रयोगे क्लेशेन प्रिये दोषारोपरहितस्य तथा भगवतः सकाशान्मानापमानयोः समस्य परमात्मा पुरुषोत्तमः समाहितस्तदर्थ दास्यदाने सावधानस्तिष्ठति। तद्धृदय एव समाहितस्तिष्ठतीति भावः ॥७॥

बन्धुत्व भाव होने पर किस प्रकार हितकारी होता है, इस पर कहते हैं—
जितात्मनः······मानापमानयोः ।

सर्दी-गर्मी और सुख-दुःखादिकों में तथा मान और अपमान में जिसके अन्तःकरण की वृत्तियां शान्त हैं ऐसे स्वाधीन आत्मा वाले पुरुष के ज्ञान में परमात्मा सम्यक् प्रकार से स्थित हैं।

स्वाधीन आत्मावाले, सर्दी-गर्मी, सुख-दुख, संयोग-वियोग में शान्त अन्तःकरण वाले, संयोग में अपने सौभाग्यादि मद से रहित है, विप्रयोग में क्लेश के द्वारा प्रिय पर दोषारोपण से रहित तथा भगवान् के समीप मान और अपमान समान मानते हुए उस भगवान् के लिये दास्यदान में सावधान रहने वाले व्यक्ति का हृदय ही समाहित रहता है ॥७॥

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकांचनः ॥८॥

ननु परमात्मा हृदयस्थोऽस्तीति कथं ज्ञातव्य इत्याकांक्षायामाह ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मेति। ज्ञाने शास्त्ररीत्या भगवत्स्वरूपज्ञाने विज्ञाने भावात्मकस्वरूपानुभवे तृप्तः संशयकोटिरहित आत्मा अन्तःकरणं यस्य। कूटस्थः युक्तो योगारूढ इत्युच्यते। समलोष्टाश्मकांचनः। मृत्पाषाणसुवर्णेषु समो

भगवदीयभावरूपवान् योगी मत्संयोगवानुच्यते मयेतिशेषः। अत्रायं भावः। मृत्तिकायां भगवदङ्गसौगन्ध्यस्मरणेन सेवौपायिक शरीराप्तितापभाववान्। पाषाणे भगवद् विप्रयोग जडतास्मरणेन स्वस्य तदभावतापात्तत्स्निग्धभाववान् सौवर्णे चालौकिककान्तिदर्शनेन रसभाववांस्तथोच्यत इति भावः ॥८॥

हृदय में स्थित परमात्मा किस प्रकार जाना जाता है, इसका समाधान करते हुए कहते हैं—'ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा'।

ज्ञान और विज्ञान से जिसका अन्तःकरण तृप्त है और जिसकी स्थिति विकार रहित है, इन्द्रियों को जिसने जीत लिया है तथा जिसके लिये मिट्टी, पत्थर एवं सुवर्ण समान हैं, उस योगी को योगयुक्त कहा जाता है।

शास्त्र की रीति द्वारा भगवत्स्वरूप के ज्ञान में तथा भावात्मक स्वरूप के अनुभव में जिसका अन्तःकरण तृप्त है, जिसका आत्मा समस्त संशयों से रहित है, ऐसा निर्विकार, एक मात्र भगवान् के स्वरूप में निष्ठा रखने वाला विजितेन्द्रिय, अपनी भोग कामना से रहित युक्त अर्थात् योगारूढ कहलाता है। मिट्टी, पत्थर एवं सुवर्ण में समान भगवद् सम्बन्धी भावना वाला योगी मुझसे संयुक्त कहलाता है। आशय यह है कि मिट्टी में भगवान् के अङ्ग की सुगन्धि के स्मरण से साधन भूत शरीर की प्राप्ति सन्ताप से युक्त होती है। पत्थर में भगवान् के वियोग भूत जड़ता के स्मरण से उसमें तापाभाव के कारण स्निग्ध भाव को रखता है और सुवर्ण में अलौकिक कान्ति के दर्शन से रस भाव वाला होता है ॥८॥

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥९॥

किं च। एतत् त्रितय एव न समः किंतु सर्वत्रैव समबुद्धिरुत्तमः इत्याह सुहृदिति। सुहृत् सर्वहितोपदेशकृत मित्रं स्नेहपरवशः। अरि स्वस्मिन्

शत्रुबुद्धिमान् । उदासीनो निरपेक्षः । मध्यस्थो विवदमानयोः सदसद्वाक्य-विचारकः । द्वेष्य-सद्भावहीनः । बन्धुः सम्बन्धी । एतेषु साधुषु सदाचारेषु अपि च किं पुनः । पापेषु धर्मविरोधिषु समबुद्धिः भगवद्विप्रयोगेः भगवदात्म-बुद्धिस्तेषुवा तद्विप्रयोगेन तथाभावदर्शी विशिष्यते । योगयुक्तेषूत्तम इत्यर्थः । अत्रायं भावः । भगवद्विप्रयोगे तत्सौहार्दस्मरणेनायं सर्वेषु सौहार्दधर्मवान् । तथैव च मित्रधर्मवान् तद्रहितेषु अरि बुद्धिमान् तत्तद्दुःखेन सर्वत्रौदासीन्य-धर्मवान् विप्रयोगावस्थायां तदनुकरणेन मध्यस्थ धर्मवान् तथैव तत्क्लेशेन द्वेषधर्मवान् । तत्सम्बन्धस्मरणेन बन्धुधर्मवान् । तदर्थं तदाचारवान् तत्ता-पातिशयेन पापरूपवान् जडत्वधर्मेण । एवं यः समबुद्धिः स विशिष्ट इत्यर्थः ॥९॥

ये तीनों ही समान नहीं हैं, परन्तु सब जगह ही समबुद्धि श्रेष्ठ है, इसका प्रतिपादन करते हुए कहते हैं 'सुहृदिति'।

जो पुरुष, सुहृद, मित्र, शत्रु, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेषी, बन्धुगणों में, धर्मात्माओं में, और पापियों में भी समानभाव वाला है वह अत्यन्त श्रेष्ठ है।

सुहृत्=सब प्रकार के हितकर उपदेश करने वाला मित्र=स्नेह के कारण परवश, अरि=अपने में शत्रु बुद्धिवाला, उदासीन=अपेक्षा रहित, मध्यस्थ=विवाद करने वाले व्यक्तियों में उचित-अनुचित का विचारक, द्वेष्य=सद्भाव से रहित, बन्धु=सम्बन्धी । इनमें सदाचारी व्यक्तियों तथा धर्म के विरोधी पापियों में सम-बुद्धि अर्थात् भगवान् के वियोग से भगवदात्मक बुद्धि अथवा उनमें उसके विप्रयोग से अभावदर्शी श्रेष्ठ है। योगयुक्तों में श्रेष्ठ है यहाँ पर यह भाव है। भगवान् के विप्रयोग में उसके प्रति सौहार्दस्मरण से यह सबों में सौहार्द धर्मवाला होता है। भक्ति से रहित जनों में शत्रु बुद्धिवाला होता है। तरह तरह के दुःखों से सर्वत्र उदासीन धर्मवाला होता है। विप्रयोग दशा में उसी के अनुकरण से मध्यस्थ धर्मवाला होता है। उसी प्रकार उस क्लेश से द्वेष धर्मवाला होता है। उसके साथ सम्बन्ध के स्मरण से बन्धु धर्मवाला होता है। उसके लिये उस प्रकार के आचार

वाला होता है। उसके तापातिशय से जडताधर्म के कारण पाप रूपवाला होता है। इस प्रकार जो समबुद्धिवाला है वह विशिष्ट है। यह इसका अर्थ है ॥९॥

योगी युंजीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥१०॥

एवं योगारूढस्वरूपमुक्त्वा तस्य भावस्वरूपसिद्ध्यर्थं योगसाधनप्रकारमाह 'योगीत्यारभ्य स योगी परमो मतः' इत्यन्तं। योगी योगारूढ आत्मानं भावात्मकं रूपं रहसि एकान्ते भगवच्चिन्तनस्थाने स्थितः सन् समाहितः सन् सततं युंजीत भगवति युक्तं कुर्यात्। एकाकी संगदोषरहितः यतचित्तात्मा यतं वशीकृतं स्वभोगादिरहितं चित्तं भावरूपमात्मा देहेऽधिकरणात्मको येन। निराशी निर्गता मोक्षाद्याऽऽकांक्षा यस्य। अपरिग्रहः संसर्गदुःखज्ञानेन त्यक्तपरिग्रहः सर्वापेक्षारहितः। एवं युक्तचित्तः सन् मद्ध्यानं कुर्यादित्यर्थः ॥१०॥

इस प्रकार योगारूढ के स्वरूप को बतलाकर उसके भाव-स्वरूप की सिद्धि के लिये योग साधना के प्रकार को कहते हैं 'योगी' से 'स योगी परमो मतः' तक।

जिसने मन तथा इन्द्रियों सहित शरीर जीत लिया है, ऐसा वासना और संग्रह रहित योगी अकेला ही एकान्त स्थान में स्थित हुआ निरन्तर आत्मा को परमेश्वर में लगावे।

योगारूढ योगी अपने को भावात्मक रूप से एकान्त में भगवान् के चिन्तन स्थान में स्थित होकर समाहित चित्त से निरन्तर अपने को परमेश्वर के ध्यान में लगावे। एकाकी—संगदोष से रहित, जिसने अपना चित्त तथा अपनी आत्मा को वश में कर लिया है, जिसकी मोक्ष आदि की आकांक्षा नष्ट हो गई है, जिसने संसर्ग जनित दुःख के ज्ञान से परिग्रह का त्याग कर दिया है, जो सब प्रकार की अपेक्षाओं से रहित है, ऐसा व्यक्ति मुझ में अपना चित्त लगाकर मेरा ध्यान करे ॥१०॥

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।

नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाऽजिनकुशोत्तरम् ॥११॥

स सामग्रीकं ध्यानस्वरूपमाह। शुचाविति। चतुष्टयेन। शुचौ देशे भावात्मकवृन्दावनादौ आत्मनो भगवतः स्थिरं आसनं भावरूपं नात्युच्छ्रितं हृदयाद्बहिः केवलक्रीडायामेव स्थितं। नातिनीचं भावरहितानुकरणात्मकं कीदृशं चैलाजिनकुशोत्तरं चैलं वस्त्रं भावरूपं स्वैरुत्तरीयैः कुचकुंकुमांकितैरितिन्यायेन अजिनं अधिकरणदेहस्थहृदयकमलात्मकं चैलाजिने कुशेभ्यः श्री गोवर्धनादिस्थिततृणादिरूपेभ्य उत्तरे यस्मिन् पूर्वं भावरूपतृणानि तदुपरि हृदयात्मकं तदुपरि भावात्मकं वस्त्रमेवं प्रतिष्ठाप्य ॥११॥

सामग्री सहित ध्यान के स्वरूप को बतलाते हैं 'शुचौ'.....'आदि चार श्लोकों द्वारा।

शुद्ध भूमि पर कुश, मृगछाला और वस्त्र एक पर एक बिछावे। वे न बहुत नीचे हों और न बहुत ऊँचे।

पवित्र देश—भावात्मक वृन्दावनादि में भगवान् के स्थिर आसन की कल्पना करनी चाहिये जो अत्यन्त उच्च न हो। हृदय से बाहर केवल क्रीडा के लिये ही स्थित हो। अत्यन्त नीचा न हो अर्थात् भाव रहित अनुकरणात्मक न हो। भाव रूप वस्त्र से युक्त हो। अधिकरण देहस्थ हृदयकमलात्मक चैलाजिन से युक्त हो तथा वह आसन श्रीगोवर्द्धनादि में स्थित तृणादिरूप से निर्मित हो। भाव यह है कि प्रथम भावरूप तृण हों। उनके ऊपर हृदयात्मक अजिन हो, उसके ऊपर भावात्मक वस्त्र को स्थापित करना चाहिये ॥११॥

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।

उपविश्याऽऽसने युंज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥१२॥

तत्र भगवत्स्वरूपे एकाग्रं केवलदास्यभावेऽनन्यतया स्थितं मनः कृत्वा यताः शान्ताश्चित्तेन्द्रियक्रिया यस्य । चित्तक्रियाः स्वभोगचांचल्यादयः । इन्द्रियक्रियाः स्वतापनिवृत्त्यर्थं दर्शनाद्यभिलाषाः तादृशो भूत्वा । आसने उपविश्य । आत्मशुद्धयर्थं भावस्वरूपसिद्धयर्थं योगं भगवत्संयोगं युंज्यात् अभ्यसेत् ॥१२॥

भगवान् के स्वरूप में केवल दास्य भाव से स्थित हूँ, ऐसा मान कर इन्द्रियों की शान्ति से संतुष्ट भोग के चांचल्य से रहित होकर आसन पर बैठे। इन्द्रिय क्रिया का भाव यह है कि ताप निवृत्ति के लिये दर्शनादि अभिलाषावान् बन कर भावस्वरूप सिद्धि के लिये भगवत्संयोग का अभ्यास करे ॥१२॥

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चाऽनवलोकयन् ॥१३॥

समं कायशिरोग्रीवं कायश्च शिरश्च ग्रीवा च कायशिरोग्रीवं कायपदेन चरणमारभ्य सर्वोऽपिदेहः । भक्तिमार्गानुसारेण शिरः सत्यलोकात्मकं । ग्रीवा मुक्तिस्थानं । समं यथास्थितरूपमचलं । धारयन् ध्यानं कुर्वन् । स्थितः सन् स्वनासिकाग्रं संप्रेक्ष्य अर्धनिमीलितनेत्रो भावस्थः दिशश्चानवलोकयन् दिग्भावज्ञानशून्यः सर्वत्र भगवद्दर्शनवान् ॥१३॥

काय शिर ग्रीवा को समान स्थित करे। काय पद से चरण से लेकर सम्पूर्ण देह। भक्ति मार्ग के अनुसार शिर सत्य लोकात्मक है। ग्रीवा मुक्ति स्थान है। इन्हें समं अर्थात् यथा स्थित रूप में—अचल रूप में रखे। नासिका के अग्रभाग को देखता हुआ अर्थात् अर्द्धनिमीलित नेत्रों से दिग्भाव ज्ञान शून्य होकर सर्वत्र भगवान् का दर्शन करे ॥१३॥

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥१४॥

प्रशान्तात्मा भक्तिरसाभिनिविष्टचित्तः विगतभीः ब्रह्मचारीश्रु त्यादिदुरापवरणरेणुभगवत्प्राप्तिसंदेहरहितः ब्रह्मचारिव्रते स्थितः भगवदर्थेन्द्रियनिग्रहवान् तादृशः सन् मनः संयम्य सर्वतः आकृष्य वशे कृत्वा । मच्चित्तो मय्येव चित्तं यस्य मत्परः अहमेव परः पुरुषार्थरूपो यस्य तादृशो भूत्वा युक्तः मद्योगस्थ आसीत् तिष्ठेत् ॥१४॥

भक्तिरस से ओतप्रोत होकर, भगवत्प्राप्ति संदेह से रहित होकर भगवान् के लिये इन्द्रियों का निग्रह करके मन को चारों ओर से खींचकर—वशकर मुझ में चित्त लगाये। मुझे ही परमपुरुषार्थ रूप मानकर मुझ से संयुक्त रहे ॥१४॥

युंजन्नेवं सदाऽऽत्मानं योगी नियतमानसः ।

शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥१५॥

एवं योगाभ्यासकर्तुः फलमाह । युंजन्निति : एवं सदा निरंतरं नियतमानसः दास्यैकपरचित्त आत्मानं युञ्जन्नपि युक्तं कुर्वन् योगी मयि योगवान् निर्वाणपरमां मोक्षाधिकां मत्संस्थां मत्स्वरूपरसात्मिकां शान्तिं वियोगक्लेशादिरहितभावमधिगच्छति प्राप्नोति ॥१५॥

इस प्रकार योगाभ्यास करने वाले की फल प्राप्ति बतलाते हैं 'युंजन्.........' श्लोक से।

इस प्रकार सदा मन नियत कर, दास्य में एक चित्त होकर आत्मा को युक्त करता हुआ भी योगी मुझ में योग करता हुआ मोक्ष से भी अधिक मत्स्वरूपरसात्मिका वियोगक्लेशादि रहित शान्ति भाव को प्राप्त करता है ॥१५॥

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।

न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥१६॥

एवं योगफलमुक्त्वा तस्य स्थित्यर्थमाहारादिकमाह् । नात्यश्नतस्त्विति । अति अश्नतः अधिकभोक्तुर्देहपुष्ट्यर्थं भुंजानस्य न च । एकान्तं सर्वथा अभुंजानस्य भगवत्स्वरूपमज्ञात्वा उपवासं कुर्वतः अतिस्वप्नशीलस्य निद्राशीलस्य सर्वविस्मरणैकस्वभावस्य जाग्रतश्च न चैव योगो मत्संयोगोऽस्ति ।।१६।।

इस प्रकार योग फल बतलाकर उसकी स्थिति के लिये आहारादिक के सम्बन्ध में बतलाते हैं 'नात्यश्नतस्तु' श्लोक से ।

अत्यन्त भोजन करके देह पुष्टि चाहने वाले से योग नहीं होता तथा भगवान् के स्वरूप को न जानकर सर्वथा उपवास करने वाले को भी योग सुलभ नहीं है । अधिक स्वप्नशील, निद्राशील तथा जाग्रत में सब कुछ भूल जाने वाले को भी योग अर्थात् मेरा संयोग सुलभ नहीं है ।।१६।।

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ।।१७।।

यत एतादृशस्य योगो न भवतीत्यतो यथा योगसिद्धिः स्यात्तथोपायमाह । युक्ताहारेति । युक्त आहारो विहारश्च यस्य भगवत्सेवार्थदेहपोषणार्थं प्रसादं भुंजानस्य । भगवत्सेवार्थानुकरणात्मककर्मसु प्रातरारभ्य स्नानपाकादिरूपेषु नियुक्ता भगवदर्थैकरूपा चेष्टा यस्य । युक्तौ स्वप्नावबोधौ भगवद्विश्रामोत्तरक्षणे सेवायां देहालस्यनिवारणार्थं स्वापः सेवासामग्रीसंपादनादिष्ववबोधः एतादृशौ तौ यस्य । तस्य योगो भावात्मको मत्संगात्मको दुःखहा तद्भावाभावतापादिहर्ता भवतीत्यर्थः ।।१७।।

इस प्रकार के व्यक्तियों को योग नहीं होता अतः जिस प्रकार योग सिद्धि होती है उसका उपाय बतलाते हैं 'युक्ताहार''''''''आदि श्लोक द्वारा ।

भगवत् सेवा के लिये देह पोषणार्थ जो आहार करते हैं, भगवान् की सेवा

के लिये अनुकरणात्मक कर्मों में प्रातःकाल से लेकर स्नान करना, पाक करना आदि रूप भगवन्निमित्त चेष्टा में रत रहनेवाले तथा भगवद्विश्रामोत्तर क्षण में देह के आलस्य को निकालने के लिये शयन करने वाले, सेवासामग्री संपादन में सावधान रहने वाले को भावात्मक योग—मेरे संग का योग दुःख दूर करने वाला होता है अर्थात् अभावादि तापों का वह निवृत्त करने वाला होता है ॥१७॥

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवाव तिष्ठते ।

निस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥१८॥

नन्वेवं प्रवृत्तस्य भगवद्योगसिद्धिः कदा स्यादित्याकांक्षायामाह यदेति । यदा यस्मिन् समये भगवत्संबंधलक्षणभद्रकाले विनियतं वशीभूतं चित्तमात्मन्येव भावात्मकस्वरूप एव अवतिष्ठते स्थिरं भवति सर्वकामेभ्यो लौकिकेभ्यो निस्पृहो विगतेच्छो भवति तदा युक्त इत्युच्यते । सिद्धयोग उच्यत इत्यर्थः ॥१८॥

इस आकांक्षा का उत्तर देते हैं 'यदा' श्लोक से । जिस समय भगवत्संबंध लक्षण भद्रकाल मे वशीभूत चित्त भावात्मक स्वरूप में ही स्थिर होता है, सम्पूर्ण लौकिक कामों से विगतेच्छावान् होता है । तब वह युक्त कहा जाता है । अर्थात् उस समय सिद्ध योग होता है ॥१८॥

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमास्मृता ।

योगिनो यतचित्तस्य युंजते योगमात्मनः ॥१९॥

विनियतचित्तः कीदृग्विधः स्यादित्याकांक्षायामाह । यथेति यथादीपो वायुरहितप्रदेशस्थितो नेङ्गते न चलति यतचित्तस्यात्मनो भगवता योगं युंजतो भावयतो योगिनः सा उपमा स्मृता । अत्र दीपदृष्टान्तस्यायं भावः ।

दीपस्य तापरूपत्वाद्वायोश्च शैत्यधर्मत्वात् तद्रहितदेशे तस्य नाशाय चांचल्यं न भवति। तथा भगवद्विप्रयोग तापनिवर्तकधर्म भावेन योगं युंजतो मनश्चंचलं न भवति ॥१६॥

विनियतचित्त कैसा होना चाहिये इसके उत्तर में 'यथा दीपो''''' कहा है। अर्थात् जिस प्रकार वायुरहित प्रदेश में स्थित दीपक चलता नहीं, भगवान् में योग भावना करने वाले की उपमा वही होती है। दीप दृष्टान्त का भाव यह है कि दीप ताप रूप है। वायु का धर्म शैत्य है। इससे रहित देश में वायु उसके नाश के लिये चंचल नहीं होता। उसी प्रकार भगवद्विप्रयोग ताप निवर्तक धर्मभाव से-योग करने वाले का मन चंचल नहीं होता ॥१६॥

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।

यत्र चैवात्मनाऽऽत्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥२०॥

यस्मिन्योगे मनश्चंचलं न भवति स कीदृशो योग इत्यपेक्षायामाह। यत्रेति सार्द्धैस्त्रिभिः। यत्र यस्यामवस्थायां योगसेवया भावात्मकसंयोगरूपभगवत्सेवया स्वभोगादिभ्यो निरुद्धं चित्तमुपरमते संयोगावस्थाभावरूप समीपे रमते। यत्रचावस्थाविशेषे विविधभावस्फूर्त्यात्मना भावरूपेणाऽऽत्मानं भावरूपं पश्यन्। आत्मन्येव भावरूप एव तुष्यति तं योगसंज्ञितं विद्यादितितुर्ये श्लोकत्रयस्यान्वयः ॥२०॥

जिस योग में मन चंचल नहीं होता, उस योग की अवस्था 'यत्रोपरमते''''' आदि साडे तीन श्लोकों में बतलाते हैं। जिस अवस्था में भावात्मक संयोग रूप भगवत्सेवा द्वारा भोगादिकों से निरुद्ध चित्त संयोगावस्था भावरूप समीप में रमण करता है तथा जिस अवस्था विशेष में विविध भाव स्फूर्ति से भावरूप आत्मा से भावरूप आत्मा को देखता है, भावरूप आत्मा में ही सन्तुष्ट रहता है, उसको योगी जानना चाहिये। यह चतुर्थ श्लोक से अन्वित है ॥२०॥

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।

वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्वतः ॥२१॥

तेषामुत्पत्तिप्रकारमाह । सुखमिति । यत्र अवस्थाविशेषे तथाभूतसेवानुभवजाताग्रिमविविधमनोरथरूपे आत्यन्तिकमतिशयितं जीवभावप्राप्तिफलात्मकं सुखं बुद्धिग्राह्यं भावात्मकस्वरूपात्मबुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियं लौकिकेन्द्रियसंबंधाविषयं यत् तद्वेत्ति । च पुनः । अयं पुंजीवः यत्रावस्थायां तत्त्वतो भावात्मकदास्यफले रसकोटिस्फूर्तिरहितभावेन स्थितो नैव चलति तं विद्यादित्यग्रिमश्लोकेनैव संबंधः ॥२१॥

'सुखमिति' द्वारा उनकी उत्पत्ति का प्रकार बतलाते हैं । जिस अवस्था विशेष में उस प्रकार की सेवा के अनुभव से उत्पन्न अग्रिम विविध मनोरथ रूप में अत्यधिक जीव भाव प्राप्ति फलात्मक सुख को, भावात्मक स्वरूप आत्मबुद्धि ग्राह्य लौकिकेन्द्रिय संबंध अविषय को जो जानता है तथा यह जीव जिस अवस्था में तत्वतः भावात्मक दास्य फल में रसकोटि स्फूर्ति रहित भाव से चलायमान नहीं होता, उसको यतचित समझना चाहिये ॥२१॥

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।

यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणाऽपि विचाल्यते ॥२२॥

ननु तत्र स्थितस्य चलनाभावः कथमित्यपेक्षायामाह । यं लब्ध्वेति । यं सुखं लब्ध्वा ततोऽधिकमपरं लाभं न मन्यते तत उत्तमत्वाभावात् । यस्मिन् स्थितो गुरुणापि दुःखेन अधिकरणात्मकविप्रयोगादिना न विचाल्यते ॥२२॥

उसमें स्थित का चलनाभाव कैसे होगा यह आशंका होने पर कहते हैं 'यं लब्ध्वा.......' ।

जिस सुख को प्राप्त कर उससे अधिक अपर लाभ को नहीं चाहता, क्योंकि उससे उत्तम कोई है ही नहीं। तथा जिसमें स्थित होकर स्वदेह वियोग प्रभृति महान् कष्ट से भी जो विचलित नहीं होता (उसे यतचित जानना चाहिये) ॥२२॥

तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।

स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्ण चेतसा ॥२३॥

तं योगसंज्ञितं मद्योगसंज्ञात्मकं विद्यात् जानीयात् कीदृशं तं दुःखसंयोगवियोगं दुःखात्मको यः संयोगो लौकिकोऽधिकरणदेहस्थो वा तस्य वियोगरूपं यतोऽयं योगः फलसाधकोऽतः स कार्यं इत्याह सार्द्धेन। स इति। स पूर्वोक्तः फलसाधकरूपो योगो निश्चयेन गुरूपदिष्टेन अनिर्विण्णेन दुःखज्ञानजप्रपत्तिशैथिल्येन हितेन मनसा योक्तव्यः इत्यर्थः ॥२३॥

उसको मेरे योग संज्ञारूप में जानना चाहिये। दुःखात्मक जो संयोग लौकिक अधिकरणस्थ अथवा वियोगरूप योग फल साधक होता है। इसे आधे श्लोक से कहा है 'स निश्चयेन'। वह फल साधक रूप योग निश्चय ही गुरुद्वारा उपदिष्ट दुःखज्ञान से उत्पन्न जो प्रपत्ति उसके शैथिल्य से रहित मन से करना चाहिये ॥२३॥

संकल्पप्रभवान् कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।

मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥२४॥

किं च। संकल्पप्रभवान् स्वभोगार्थकस्वमनोनिश्चयजान् कामान् स्वरमणेच्छादिरूपान् सर्वान् भावान्तरमपिस्वेङ्गितकरूपान् अशेषतः फलाभावज्ञाने-

त्यक्त्वा मनसैवेन्द्रियग्रामं नियम्य भगवदंशात्मकलावण्यादिरसान् पश्यन् मनसैव स्वार्थभोगरूपेणैव तत: विषयेभ्यो विनियम्य वशे संस्थाप्य योगो योक्तव्य इत्यर्थः ॥२४॥

अपने ही भोग के लिये अपने मन के निश्चय से उत्पन्न कामों को अपनी रमणेच्छादिरूप सम्पूर्ण भावों के अनन्तर भी अपने इंगित को जानने वालों के रूपों को फलाभाव ज्ञान से त्यागकर मन से ही इन्द्रियग्राम का नियमन कर भगवदंशात्मक लावण्यादिरसों को देखता हुआ मन से ही स्वार्थ भोग रूप से ही विषयों से विरागकर योग करना चाहिये ॥२४॥

शनैः शनैरुपमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनःकृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥२५॥

ननु कथमिन्द्रियग्रामं विनियच्छेदित्यपेक्षायामाह । शनैःशनैरिति । धृतिगृहीतया वियोगतापादिदुःखसहनशीलधैर्यगृहीतया बुद्धया मनः आत्मसंस्थं भावात्मकस्थितं कृत्वा शनैः शनैरुपरमेत् स्वभोगरूपेभ्य उपशमयेत् । कथमुपरतिर्भवेदित्यत आह । न किंचिदपि चिन्तयेदिति । भावात्मकस्वरूपातिरिक्तं किंचिदपि न चिन्तयेन्न भावयेत् ॥२५॥

इन्द्रियग्राम का नियन्त्रण कैसे करना चाहिये इस अपेक्षा में कहा है — 'शनैः शनैः.........'

वियोग तापादि दुःख सहन शील धैर्य से गृहीत बुद्धि से मन की भावात्मक स्थिति करके धीरे धीरे स्वभोग रूपों से शान्ति करे । भावात्मक स्वरूप के अतिरिक्त कुछ भी चिन्तन नहीं करना चाहिये या भावना नहीं करना चाहिये ॥२५॥

यतो यतो निश्चलति मनश्चंचलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥२६॥

शनैरित्युक्तेः स्वरूपमाह यत इति । मनो यतोयतः स्वभावतश्चंचलम् । अस्थिरम् । यं यं प्रति निश्चलति ततस्ततो नियम्य वशीकृत्य एतन् मन आत्मन्येव भावात्मके भगवत्येव वशं नयेत् प्रापयेत् । अत्रायं भावः । पूर्वं यत्र स्थितं मनस्ततोऽन्यत्र वैशिष्ट्यबुद्धया ततो निर्गत्याऽन्यगच्छति । तत्राऽपि स्वचांचल्यधर्मेण न स्थिरी भविष्यति तस्माद्भगवत्स्वरूपतोऽन्यत्रोत्तमत्वाभावान्नाग्रे चलिष्यत्यतोऽन्यतो वशीकृत्य भगवति स्थापयेत् ॥२६॥

शनैः का स्वरूप बतलाते हैं 'यत......' श्लोक से । मन जैसे जैसे स्वभावतः चंचल अस्थिर वस्तु को प्राप्त कर निश्चल होता है वैसे ही उसे वश में करके भावात्मक आत्मा में भगवान् में ही वश करे । भाव यह है कि पहले स्थित मन वैशिष्टयबुद्धि से वहाँ से निकलकर जहां चला जाता है वहाँ भी अपनी चंचलता के कारण स्थिर नहीं होता । भगवान् के स्वरूप से अन्यत्र कहीं उत्तमता ही नहीं है अतः आगे नहीं जायगा । अतः अन्य स्थान से वश में करके उसे भगवान् में ही लगा देना चाहिये ॥२६॥

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।

उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥२७॥

एवं भावात्मके भगवति मनः स्थैर्ये यत्फलं स्यात्तदाह । प्रशान्तमनसमिति । प्रशान्तमनसं भगवति स्थिरमनसमेनं योगिनं शान्तरजसं विक्षेपदोषरहितमुत्तमं सुखं ब्रह्मभूतं भगवद्रसात्मकमकल्मषं स्वभोगादिसुखदोषरहितमुपैति ॥२७॥

भावात्मक भगवान् में मन की स्थिरता का जो फल होगा उसे बतलाते है— 'प्रशान्त मनसम्.........' कहकर । भगवान् में स्थिर मन वाले योगी को विक्षेप दोष से रहित उत्तम सुख जो भगवद् रस से संवलित है, स्वभोगादि सुख दोष रहित हो जाता है ॥२७॥

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः ।

सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ।।२८।।

एवं सुखाप्तौ किं स्यादित्यत आह युंजन्निति । एवं पूर्वोक्त प्रकारेण सदा भगवति आत्मानं भावात्मकं युंजन् योगी विगतकल्मषः स्यात् । ततः प्राप्तेनानेन सुखेन ब्रह्मसंस्पर्श भगवच्चरणारविन्दसंवाहनादिसेवारूपमत्यन्तं सुखं दास्यात्मकमश्नुते भुंजत इत्यर्थः।।२८।।

ऐसा सुख पाकर योगी कैसा हो जाता है यह बतलाने के लिये कहा है 'युंजन्……' ।

इस सुख प्राप्ति से भावात्मक भगवान् में युक्त रहता योगी विगत कल्मष हो जाता है । तथा इस सुख से ही भगवान् के चरणारविन्द संवाहनादिसेवारूप अत्यन्त दास्यात्मक सुख को भोग करता है । ।।२८।।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।

ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ।।२६।।

ब्रह्मसंस्पर्शसुखं स्पष्टयति । सर्वभूतस्थमिति । योगयुक्तात्मा भगवत्संयोगयुक्त आत्मा सर्वत्र संयोगविप्रयोगभावे समदर्शन आत्मानं भगवन्तं सर्वभूतस्थं विप्रयोगावस्थायां च पुनरात्मनि भगवत्स्वरूपे संयोगावस्थायां सर्वभूतानि सेवास्थितानि ईक्षते पश्यतीत्यर्थः । एतेन भगवत्स्वरूपज्ञानात्मसुखमुक्तमिति भावः ।।२६।।

ब्रह्म संस्पर्शसुख का स्पष्टीकरण किया है 'सर्वभूतस्थमात्मानम्' श्लोक से ।

भगवान् के संयोग से युक्त आत्मावाला सर्वत्र संयोग विप्रयोग के भाव में समदर्शन होकर भगवान् को सर्वत्र सर्व भूतों में विप्रयोगावस्था में देखता है तथा संयोगावस्था में भगवत्स्वरूप आत्मा में सम्पूर्ण भूतों को सेवा में स्थित देखता है। इससे भगवत्स्वरूप ज्ञानात्मक सुख कहा गया है ॥२६॥

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।

तस्याऽहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥३०॥

एवं स्वरूपज्ञानफलमाह यो मामिति। यः सर्वत्र जीवेषु वियोगावस्थायां मां पश्यति संयोगावस्थायां मयि सर्वं पश्यति तस्य अहं न प्रणश्यामि न कदाचिदपि वियुक्तो भवामि। स च मे मत्तः न प्रणश्यति न वियुक्तो भवतीत्यर्थः ॥३०॥

इस प्रकार के स्वरूपज्ञान का फल बतलाते हैं—'यो मां पश्यति' से।

जो वियोगावस्था में मुझे सम्पूर्ण जीवों में देखता है तथा जो संयोगावस्था में मुझ में सब को देखता है, मैं उससे कभी वियुक्त नहीं होता। वह मुझ से कभी वियुक्त नहीं होता ॥३०॥

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।

सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥३१॥

किं च। यः सर्वभूतस्थितं सर्वजीवेषु रसभोगार्थं वाऽलौकिकेषु निरोधार्थं स्थितं एकत्वं भगवदीयत्वेन सजातीयत्वमास्थितं मां भजति स योगी उच्यते। अथवा सर्वथा तेषु दास्यादिभावशिक्षणार्थं वर्तमानो यः स मयि च वर्तते मत्स्वरूपे तिष्ठतीत्यर्थः ॥३१॥

जो सर्वजीवों में रस भोग के लिये या अलौकिकों के निरोध के लिये स्थित है तथा सब पदार्थों में भगवदीय सजातीयत्व भाव से स्थित होकर मेरा भजन करता है वह योगी कहा जाता है । अथवा उनमें सर्वदा दास्यादि भाव शिक्षण के लिये विद्यमान होकर जो मुझ में स्थित रहता है, मेरे स्वरूप में रहता हैं ।।३१।।

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ।।३२।।

ननु सर्वत्र कथमेकात्मत्वेन वर्तते ? इत्यत आह आत्मौपम्येनेति आत्मौपम्येन स्वसादृश्येन यथा स्वस्य कृपया संयोगरसाप्तौ सुखं वियोग-रसाप्तौ दुःखं तथा सर्वत्र सर्वजीवेषु सुखं यदि वा दुःखं समं यः पश्यति स योगी मम परम उत्कृष्टो मतोऽभिमत इत्यर्थः अत्रायं भावः । योऽलौकिकं सुखदुःखाभिनिविष्टेष्वपि जीवेषु यथा स्वस्यतदंशलेशज्ञानेन सुखदुःखरसानुभवो भवति तथैव सर्वेषामप्यस्ति । एवं यस्य सर्वत्रालौकिकस्फूर्तिः स्यात् स उत्तम इति भावः ।।३२।।

सर्वत्र एक ही आत्मतत्त्व कैसे रहता है इसका प्रतिपादन किया है 'आत्मौपम्येन''''''' से ।

स्व सादृश्य से जैसे अपनी ही कृपा से संयोग रस प्राप्ति में सुख एवं वियोग रस प्राप्ति में दुःख मिलता है वैसे ही सर्वत्र समस्त जीवों में सुख दुःख को समान रूप में देखता है, वह योगी परम उत्कृष्ट माना जाता है । भाव यह है कि अलौकिक सुख-दुःख से व्याप्त जीवों में जैसे अपने उसके अंश लेश के ज्ञान से सुख-दुःख के रस का अनुभव होता है, वैसे ही सब को भी है । इस प्रकार जिसे सर्वत्र अलौकिक स्फूर्ति हो, वही उत्तम है, यह भाव है ।।३२।।

अर्जुन उवाच

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन ।

एतस्याहं न पश्यामि चंचलत्वात्स्थितिंस्थिराम् ॥३३॥

उक्तभावसिद्धयर्थं साधनमर्जुन पृच्छति । अर्जुन उवाच । योऽयं योग इति हे मधुसूदन दुष्टनिराकरणसमर्थ अयं योगस्त्वया साम्येन सुख-दुःख-साम्येन स्वसाम्येन सर्वेषु प्रोक्तः । एतस्य योगस्याऽहं अभिमानयुक्तत्वान्मन-सश्चंचलत्वात् स्थितिं स्थिरां निश्चलां न पश्यामि ॥३३॥

उस भाव की सिद्धि के साधन का प्रश्न अर्जुन करता है ।

हे दुष्टनिवारण समर्थ ! (मधुसूदन) यह योग आपने सुख दुःख के साम्य से, अपने साम्य से, सबके लिये कहा है । इस योग को और इसकी स्थिर गति को चंचल मन होने के कारण मैं नहीं समझ पा रहा हूँ ॥३३॥

चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् ।

तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥३४॥

मनसश्चांचल्यमेवाह चंचलं हीति । हे कृष्ण सदानन्द ! मनो हीति निश्चयेन चंचलं स्वभावत एव चपलं अन्यथा सदानन्दोक्तौ कथं पुनः प्रश्नार्थमहमुद्युक्त इति कृष्णेति संबोधनेन ज्ञापितम् । किं च प्रमाथि प्रकर्षेण मथनशीलं इन्द्रियक्षोभकम् । किं च बलवत् । अतिप्रबलं ज्ञानादिवचनासाध्यम् । किं च ; दृढं स्वविषयानुरागाऽत्यागस्वभावम् । तस्य मनसो निग्रहं वशीकरण-माकाशे दोधूयमानस्य स्वमुखार्थं तापनिवारणाय गृहादिषु वायोरिव निरो-

धनं सुदुष्करं सर्वथा कर्त्तुमशक्यमहं मन्ये। यद्वा। वायोः प्राणवायो- र्गच्छतो निरोधमशक्यं मन्य इति भावः ॥३४॥

मन के चांचल्य का प्रतिपादन किया है 'चंचलं हि मनः' से।

हे सदानन्द! मन स्वभाव से ही चंचल है अन्यथा जब साक्षात् भगवान् ही वक्ता हैं तो पुनः प्रश्न का प्रयोजन ही क्या? यह कृष्ण सम्बोधन से ज्ञापित है। यह मन इन्द्रियों को क्षोभ देने वाला है। ज्ञानादि वचनों से असाध्य है। यह मन अपने विषयानुराग का स्वभाव कभी नहीं छोड़ता। इस मन का वशीकरण उसी प्रकार असंभव है जिस प्रकार आकाश में तापनिवारण के लिये गृह निर्माण करके उछलते हुए पवन का निरोध करना। अथवा जिस प्रकार प्राण वायु का बहिर्गमन रोका नहीं जा सकता उसी प्रकार इस चंचल मन का निरोध भी नहीं किया जा सकता ॥३४॥

श्रीभगवानुवाच

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।

अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥३५॥

एवमर्जुनोक्तचंचलत्वादिकमंगीकृत्य तन्निग्रहसाधनमाह भगवान्। भग- वानुवाच। असंशयमिति। हे महाबाहो! क्रियाशक्तिसमर्थ। मनोदुर्निग्रहं चंचलं यद्वदसि तदसंशयं निःसन्दिग्धं तादृशमेवास्तु तु पुनस्तथापि कौन्तेय मद्भक्ति- विश्वसनकयोग्य! भक्तपुत्र! अभ्यासेन यतो यतो निश्चलतीति पूर्वोक्तप्रका- रेणाऽन्यत्र हीनत्वज्ञानपूर्वकमप्युत्तमज्ञानेन चांचल्यानुसरणप्रकारेण गृह्यते। च पुनः। तथा ज्ञानेन मत्स्वरूपव्यतिरिक्तेषु वैराग्येण गृह्यते वशीक्रियत इत्यर्थः ॥३५॥

इस प्रकार अर्जुन द्वारा कथित मन की चंचलता को स्वीकार करते हुए भगवान् बोले—'असंशयं·····'।

हे क्रियाशक्ति समर्थ ! मन की अग्राह्यता जैसी तुमने कही है वह निस्संदेह वैसी ही है तथापि, मेरे वचनों में विश्वास परायण भक्तपुत्र अर्जुन ! वह अस्थिर मन भी अन्यत्र हीनत्व के ज्ञान तथा उत्तम ज्ञान के अभ्यास द्वारा गृहीत होता है। मेरे अतिरिक्त अन्यों के प्रति वैराग्य से भी मन को वश में किया जाता है ।।३५।।

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।

वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ।।३६।।

अथ यो मनश्चंचलमिति ज्ञात्वाऽभ्यासवैराग्ययोर्यत्ननिरपेक्षः स नाप्नोतीत्याह । असंयतात्मनेति । असंयतात्मना उक्तप्रकारेणाभ्यास-वैराग्याभ्यामसंयतः अवशीकृत आत्माऽन्तःकरणं यस्य तेन योगो मत्संयोगात्मको दुष्प्रापः दुःखेनापि प्राप्तुमशक्यः । वश्यात्मना तु अभ्यासवैराग्यवशीकृत-मनसा यतता मत्संयोगार्थं यत्नं कुर्वता उपायतोऽवाप्तुं प्राप्तुं शक्य इति मे मतिः । अत्र स्वमतित्वकथनेन मद्भुक्तिविश्वासपूर्वकं यो यतेत तस्यावश्यं मया संयोगः फलदानं कर्तुं मनोनिग्रहः करणीय इति व्यंजितम् ।।३६।।

जो मन की चंचलता को जान लेता है, अभ्यास और वैराग्य में यत्न भी नहीं करना चाहता, वह उसे स्थिर नहीं कर सकता, अतः कहा है 'असंयता-त्मना.........'। जिसने आत्मा को वश में नहीं किया उसे मेरी प्राप्ति दुष्कर है। दुःख पूर्वक भी वह मुझे प्राप्त नहीं कर सकता । जो अभ्यास वैराग्य पूर्वक यत्न करता है, अर्थात् मुझे प्राप्त करने का प्रयास करता है, वह उपाय से मुझे निश्चित प्राप्त कर सकता है। इस स्थल में स्वमति कथन है। इसका आशय है कि मेरे विश्वास पूर्वक जो यत्न करता है उसे अवश्य ही मेरी प्राप्ति के लिये मनोनिग्रह करना चाहिये ।।३६।।

अर्जुन उवाच

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः ।

अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ।।३७।।

अथ भवदुक्तिविश्वासेन केवलं श्रद्धया अभ्यासवैराग्यरहितो यत्नं कुर्वन् पश्चात्सिद्धिं प्राप्नोति नवेति प्रभुं विज्ञापयत्यर्जुनः । अर्जुन उवाच । अयतिरिति श्रद्धया भवदुक्ति श्रद्धामात्रत उपेतो भगवत्संयोगात्मकयोगार्थे प्रवृत्तः अयतिः अभ्यासवैराग्ययोः शिथिलप्रयत्नः स्वरूपज्ञानाभावाद्योगाच्चलितमानसो भवति । ततो योगसिद्धिमपि न प्राप्नुयात् तदाह योगसंसिद्धिमप्राप्य कृष्ण सदानन्द ! त्वदुक्तिविश्वासप्रवृत्तस्य सिद्धिरेवोचितेति विज्ञाप्य कां गतिं गच्छतीति पृष्टवान् ।।३७।।

यदि केवल आपके वचनों का विश्वास करते हुए अभ्यास वैराग्य से रहित होकर श्रद्धापूर्वक यत्न करने वाला सिद्धि प्राप्त करेगा या नहीं, ऐसी शंका होने पर अर्जुन 'अयतिः.......' द्वारा पूछता है।

आपकी उक्ति में श्रद्धा मात्र से युक्त होकर भगवत् संयोगात्मक योग के लिये प्रवृत्त हुआ अभ्यास वैराग्य में शिथिल प्रयत्न वाला स्वरूप ज्ञान के अभाव में चलित मन हो जाता है । तब योग सिद्धि को भी प्राप्त नहीं कर सकता । अतः कहा है, हे सदानन्द (कृष्ण) आपकी उक्ति में विश्वास से प्रवृत्त हुए की सिद्धि उचित ही है, ऐसा जानकर किस गति को प्राप्त किया जा सकता है ।।३७।।

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिवनश्यति ।

अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ।।३८।।

स्वबुद्धिपरिकल्पितसंदेहविनिवृत्त्यर्थं स्वबुद्धिसंदेहमेव विवृणोति कच्चिदिति । पूर्वप्रवृत्तकर्मादित्यागेन योगमार्गे अप्रतिष्ठो निराश्रयः । अभ्यासाभावेन स्वरूपाज्ञानाद् ब्रह्मणः पथि भगवत्प्राप्त्येकयत्नमार्गे विमूढो वैराग्याभावात् । हे महाबाहो ! सर्वकृपाकरणसमर्थं एवमुभयविभ्रष्टः सन् छिन्नाभ्रमिव यथा छिन्नमभ्रं पूर्वाभ्राद्वियुक्तमभ्रान्तराऽमिलितं सन्मध्य एव विनश्यति तथा पूर्वधर्मत्यागेन स्वधर्मोपार्जितमोक्षफलरहितो भगवन्मार्ग-

स्वरूपाज्ञानात् स्वरूपसंयोगरहितो जीवस्वरूपाप्तिभावरहितः कच्चिन्नो नश्यति ॥३८॥

अपनी बुद्धि से परिकल्पित संदेह की निवृत्ति के लिये अर्जुन अपने बुद्धि सन्देह को प्रकट करता है 'कच्चित्.........' ।

पूर्व प्रवृत्त कर्मादि त्याग से योग मार्ग में निराश्रय होकर अभ्यास के अभाव से स्वरूप को न जानकर भगवत्प्राप्ति के मार्ग में वैराग्य के अभाव से मूढ होता है। हे महाबाहु ! सब जीवों पर कृपा करने में समर्थ ! इस प्रकार दोनों ओर से भ्रष्ट हुआ, छिन्न अभ्र=बादल की तरह अर्थात् छिन्न मेघ पूर्व मेघ से वियुक्त होकर अन्य बादलों से न मिलकर मध्य में ही नष्ट हो जाता है। वैसे ही पूर्व धर्म त्याग से अपने धर्म से उपार्जित मोक्षफल से रहित होकर भगवन् मार्ग के स्वरूप को न जानकर स्वरूप संयोग से रहित अर्थात् जीव स्वरूप प्राप्ति भाव से रहित कभी नष्ट नहीं होता ॥३८॥

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः ।

त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता नह्युपपद्यते ॥३९॥

हे कृष्ण ! दास्येन सदानन्ददानसमर्थ एतन्मे संशयं मन्मनोगत-संशयम्। स तु न नश्यत्येव त्वदुक्तिविश्वासात् परं मत्संशयमशेषतः सोपपत्ति-काज्ञारूपवाक्यैश्छेत्तुं दूरीकर्तुमर्हसि। नन्वन्यत्र गुर्वादिषु भक्तेषु च विज्ञाप्य संशयं दूरीकुर्वित्यत आह। त्वदन्य इति अस्य मद्गतस्य त्वदेकवाक्यैक-निष्ठस्य मम संशयस्य छेत्ता त्वदन्यः त्वां विना हि निश्चयेन अन्यो नोपपद्यते ॥३९॥

हे कृष्ण ! (दास्य से सदा आनन्ददान समर्थ) मेरे मनोगत संशय का नाश आपकी उक्ति मात्र से असंभव है। वह आज्ञा रूप वाक्यों से ही दूर हो सकता है। यदि यह कहें कि अन्यत्र गुरु आदि भक्तों के पास जाकर संशय नाश किया जा

सकता है। अतः कहते हैं आपके ही वाक्य को सर्वोपरि मानने वाले मेरे संशय को छेत्ता=काटने वाले आपके अतिरिक्त अन्य कोई नहीं है ।।३९।।

श्रीभगवानुवाच

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।

न हि कल्याणकृत्कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति ।।४०।।

एवं निश्चयात्मकमर्जुनस्य संशयवाक्यं श्रुत्वा भगवांस्तमाह । श्रीभगवानुवाच । पार्थेति । हे पार्थ ! तथासंशयानर्हं । इह लोके पूर्वंत्यक्तकर्मानुकरणविहितधर्मभक्त्यादौ अमुत्र लोके परदास्यादिरूपे तस्य मदुक्तिविश्वासप्रवृत्तस्य विनाशः विशेषेण नाशोमददर्शनं न विद्यते। श्रद्धया मदुक्तिविश्वासप्रवृत्तौ कथं नाशः स्यात्ततोऽसाधारण्येनोत्तमप्रकृतिप्रवृत्तस्य नाशो न भवतीत्याह। न हीति । भक्तत्वात्स्वबालकत्वेन तातेति संबोध्योपदिष्टम् । कल्याणकृत् धर्मादिवुद्धयाफलेच्छासाधारण्येन शुभकृद् हीति निश्चयेन दुर्गतिं न गच्छति। तत्र श्रद्धयाऽत्र प्रवृत्तः कथं नश्येदित्यर्थः ।।४०।।

इस प्रकार अर्जुन के निश्चयात्मक वाक्य सुनकर भगवान् ने कहा—हे पार्थ ! (संशय के अयोग्य) पूर्वत्यक्त कर्मवाले को एवं अनुकरण विहित धर्म भक्ति आदि में रत इस लोक में भगवान् की दास्यता को करने वाले को मेरी उक्ति में विश्वास पूर्वक प्रवृत्त को मेरा अदर्शन नहीं होता। श्रद्धा पूर्वक मेरे कथन में विश्वास से प्रवृत्त होने पर नाश नहीं होगा क्योंकि असाधारण से उत्तम प्रकृति प्रवृत्त का नाश नहीं होता, अतः कहा है—'नहि कल्याणकृत्......' भक्त एवं बालक होने के कारण तात सम्बोधन पूर्वक भगवान् कहते हैं कि कल्याण करने वाला अर्थात् धर्मादिबुद्धि से फलेच्छा की असाधारणता से शुभ करने वाला निश्चय ही दुर्गति को प्राप्त नहीं होता। श्रद्धापूर्वक प्रवृत्त का नाश तो कथमपि संभव नहीं है ।।४०।।

प्राप्य पुण्यकृताँल्लोकानुषित्वा शाश्वती समाः ।

शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥४१॥

एवं नाशाभावमुक्त्वा तस्य गतिस्वरूपमाह प्राप्येति । स योगभ्रष्टः स्वरूपाज्ञानादभ्यासवैराग्याभावादभ्यस्य मानमार्गाद्भ्रष्टः पुण्यकृतां यज्ञादिकारिणां लोकान् श्रद्धामात्रप्रवृत्तिसाधनेन तत्फलभोगविचिकित्साजनितपूर्वं प्रवृत्तमार्गस्वरूपज्ञानार्थं प्राप्य तत्र शाश्वतीः समाः बहून् संवत्सरान् उषित्वा स्थित्वा तत्फलभोगं कृत्वा तत्र विचिकित्सयाऽभावकेन मनसा पूर्वश्रद्धासाधनेनैव भवति । जन्म प्रार्थनया शुचीनां कापट्यादिदोषरहितानां श्रीमतां भगवच्छोभायुक्तानां भक्तानां गृहेऽभिजायते जन्म प्राप्नोति । उपसर्गेण सरति पूर्वकं प्राप्तिर्ज्ञापिता ॥४१॥

इस प्रकार नाश का अभाव बतलाकर उसकी गति का स्वरूप बतलाते हैं 'प्राप्य......' इस श्लोक से ।

स्वरूप को न जानने से, अभ्यास वैराग्य के अभाव से अभ्यस्य, मान मार्ग से भ्रष्ट होकर यज्ञादि करने वालों के लोकों में रहकर (श्रद्धा मात्र प्रवृत्ति साधन से उसके फलभोग की इच्छा से उत्पन्न पूर्व प्रवृत्तमार्ग स्वरूप के जानने के लिये उस लोक को प्राप्त कर) वहाँ बहुत समय पर्यन्त रहकर उस फल के भोग को भोगकर संशय के अभाव को प्राप्त करता है । जन्म की प्रार्थना से कपटादि दोषों से रहित श्रीयुक्तभगवत् शोभायुक्त भक्तों के घर जन्म लेता है । अभिजायते में अभि उपसर्ग है जो प्राप्ति का ज्ञापन करा रहा है ॥४१॥

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।

एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥४२॥

पक्षान्तरमाह अथवा धीमतां स्वरूपज्ञानवतां कुले भवति जन्म प्राप्नोति । धीमत्त्वोक्त्या तत्कुलप्रसूतिमात्रेण ज्ञानोत्पत्तिर्व्यञ्जिता । जन्मविशिनष्टि । एतदिति । हीति निश्चयेनैतद्दुर्लभतरं यल्लोके ईदृशं भगवत्स्वरूपज्ञानात्मकं जन्म ॥४२॥

पक्षान्तर बतलाते हैं । अथवा स्वरूप ज्ञान वालों के कुल में जन्म ग्रहण करना है । धीमत् शब्द के प्रयोग से उस कुल में जन्म मात्र से ज्ञानोत्पत्ति व्यजित है। जन्म के वैशिष्टय का वर्णन निश्चय ही दुर्लभतर है। यह कि लोक में भगवत्स्वरूप ज्ञानात्मक जन्म हो ॥४२॥

तत्र तं बुद्धि संयोगं लभते पौर्वदैहिकम् ।

यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥४३॥

तादृशजन्मानन्तरं किं स्यादित्यत आह तत्र तमिति । तत्र तस्मिन् जन्मद्वयेऽपि तं पौर्वदैहिकं भगवत्कृपालब्ध जीवभावानन्तरप्राप्तं प्रथमदेह-संबन्धिनं बुद्धिसंयोगं भगवत्सेवार्थप्रकटितज्ञानरूपं भगवदीयकुलजन्ममात्रेण लभते । च पुनः तं लब्ध्वा भूयः संसिद्धौ सम्यकसिद्धयर्थं तथा भगवत्प्राप्त्यर्थं यतते यत्नं करोति । कुरुनंदनेति संबोधनं विश्वासार्थम् ॥४३॥

ऐसे जन्म के उपरान्त क्या होता है, इसे बतलाते हैं। जन्म द्वय में भी पौर्वदैहिक भगवत्कृपा लब्ध जीव भाव के अनन्तर प्राप्त प्रथम देह से सम्बद्ध बुद्धि संयोग को भगवत् सेवा के लिये प्रकटित ज्ञान रूप को भगवदीय कुल जन्म मात्र से प्राप्त करता है तथा जन्म पाकर भगवान् की प्राप्ति के लिये पुनः यत्न करता है। कुरुनन्दन सम्बोधन विश्वासार्थ है ॥४३॥

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ।

जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्त्तते ॥४४॥

ननु भूयोऽपि यत्ने पूर्ववदेवचेत्स्यात्तदा किं जन्मना यत्नेन चेत्याशंक्याह। पूर्वाभ्यासेनेति : तेनैवपूर्वाभ्यासेन श्रद्धामयेन अवशोऽपि तादृक्कुलजन्मप्राप्त्या कुलरीत्यापि अन्यभावेभ्यो ह्रियते परावर्त्तते । भगवत्संयोगरसनिष्ठः क्रियत इति भावः । ननु पूर्वप्रवृत्या श्रद्धायुक्तया चेन्नसिद्धिरभूत्तदा कथमिदानीं तेनैव साधनेन सिद्धिर्भविष्यतीत्याशंक्याह । जिज्ञासुरपीति । योगस्य स्वरूपजिज्ञासुरेव शब्दब्रह्मनामरूपात्मकं विप्रयोगसामयिकजीवनहेतुरूपम् अतिवर्त्तते अतिक्रामति । परमक्लेशाविर्भावेन गुणगानादित्यागेन लौकिकदेहत्यागेनालौकिकदेहमाप्नोतीति भावः । तथाचायमर्थः । पूर्वं श्रद्धया प्रवृत्तस्तु योगजिज्ञासया न प्रवृत्तः किंतु साधारण्येन वाक्यश्रद्धयैव प्रवृत्तो तेन सिद्धिरभूदधुना तूत्तमकुलजन्मप्राप्त्या तत्स्वरूपं कुरुते अतः प्राप्स्यतीति ॥४४॥

यदि पुनः किये यत्न में भी पूर्ववत् ही हो तब जन्म के यत्न से क्या ? इस शंका का समाधान करते है 'पूर्वाभ्यासेन' श्लोक द्वारा । उसी श्रद्धामय पूर्वाभ्यास से वैसे कुल में जन्म पाकर कुलरीति के कारण अन्य भावों से परावर्तित होता है। भगवत् संयोग रस में वह निष्ठ होता है, यह भाव है। पूर्व प्रवृत्ति से श्रद्धायुक्त होने पर भी यदि सिद्धि न हो तो फिर उसी साधन से कैसे सिद्धि होगी इसका उत्तर देते हुए कहते हैं, योग का जिज्ञासु ही शब्द ब्रह्म नाम रूपात्मक विप्रयोग सामयिक जीवन हेतु रूप को अतिक्रमण करता है। परम क्लेश के आविर्भाव से, गुणगानादि के त्याग से, लौकिक देह त्याग से अलौकिक देह को प्राप्त कर लेता है। भाव यह है कि पहले तो श्रद्धा से प्रवृत होने के कारण योग जिज्ञासा का भाव नहीं था। साधारणतया वाक्य श्रद्धा से प्रवृति होने के कारण ही सिद्धि हो गई थी। अब तो उत्तमकुल में जन्म की प्राप्ति है। अतः प्राप्ति स्वाभाविक ही है ॥४४॥

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः ।

अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥४५॥

एतादृशकुलजन्माभावेऽपि यत्नवान् प्राप्नुयात् तत्र तादृक्कुलोत्पन्नप्राप्तौ किं वक्तव्यमित्याह प्रयत्नादिति । यः सामान्यो न तु तादृशजन्मवानेव प्रयत्नाद्यतमानः सशुद्धकिल्बिषः तद्भावज्ञानप्रतिबन्धपापरहितो योगी योगस्वरूपज्ञानवान् भवति । तु पुनः । अनेकजन्मससिद्धः अनेकजन्मभिर्यतमानः सन् सिद्धः प्राप्तयोगरूपो भवति । ततः परां गतिं दास्यरूपां याति प्राप्नोतीत्यर्थः । यतो मत्संयोगात्मको योग उत्तमस्तस्मात्त्वं योगी भवेति ॥४५॥

ऐसे कुल में जन्म के अभाव में भी यत्न करने वाला प्राप्त करता है तो यदि पूर्ववर्णित कुल में जन्म हो तब तो अवश्य ही श्रेयस्कर है। जो सामान्य है, पूर्व वर्णित जन्म लेने वाला नहीं है, प्रयत्न से चेष्टा में रत है, पाप रहित है तथा योग स्वरूप को जानने वाला है, वह अनेक जन्मों में प्रयत्न करता हुआ योग रूप प्राप्त करता है। तदनन्तर दास्यरूपा परमा गति को प्राप्त करता है, क्योंकि मेरे संयोगवाला योग उत्तम है। अतः अर्जुन, तुम भी योगी बनो ॥४५॥

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपिमतोऽधिकः।

कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥४६॥

योगस्य सर्वाधिकत्वं प्रतिपादयन्नेवाह । तपस्विभ्य इति । तपस्विभ्यः योगस्वरूपाज्ञाने तदभिलाषाभावेन केवलक्लेशसहनशीलेभ्यो योगी अधिकः । किं च ज्ञानिभ्यः ज्ञानेन संन्यासादिधर्मयुक्तेभ्योऽपि योगी अधिको मतः मेऽभिमतः । ज्ञानी च पुनः कर्मिभ्यो यज्ञनित्यादिनिष्ठेभ्यो योगी अधिको मतः । तस्मात् हे अर्जुन ! मत्स्नेहैकयोग्य ! त्वं योगी भव युक्तो योगनिष्ठो भवेत्यर्थः ॥४६॥

योग ही सर्वश्रेष्ठ है, इसका प्रतिपादन करने के लिये 'तपस्विभ्यः.......' श्लोक कहा है। योग स्वरूप न जानने वाले केवल क्लेश सहने वाले से योगी बढ़ कर माना गया है। ज्ञानपूर्वक संन्यासादि धर्म युक्तों से भी योगी श्रेष्ठ है, यह

मेरा मत है । यज्ञादिनिष्ठ धर्मियों से भी योगी श्रेष्ठ है । अतः हे अर्जुन ! मेरे स्नेह के योग्य ! तुम योगनिष्ठ बनो ॥४६॥

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥४७॥

योगिनोऽपि बहुविधा इति तन्मध्ये दास्यधर्मेण भजनवानुत्तम इत्याह । योगिनामपीति । सर्वेषामपि योगिनां मध्ये योगिनस्त्रिविधाः । योगाभ्यासेन भगवद्ध्याननिष्ठाः । भक्तियोगेन साधनसेवनपराः । रसात्मकस्वसंयोगभावनिष्ठास्तन्मध्ये मद्गतेन अन्तरात्मना भावात्मकस्वरूपेण मम स्वशक्तिसयोगेच्छारूपयोगेन मदर्थं श्रद्धावान् प्रेमयुक्तो यो मां भजते स मे मम युक्ततमः अत्यन्तं युक्तः प्रियो मतोऽभिमत इत्यर्थः । अतस्तथाभावेन त्वं योगी भवेति भावः ॥४७॥

दास्यात्मकस्वयोगेन भक्तिमार्गभ्रमं हि यः ।
नाशयामास पार्थस्य स मे कृष्णः प्रसीदतु ॥

इति श्री भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे आत्मसंयमयोगो नाम षष्ठोऽध्यायः ॥६॥

इति श्री गीतामृततरंगिण्यां षष्ठोऽध्यायः ॥

योगी भी अनेक प्रकार के होते हैं अतः उनके बीच में दास्य धर्म से भजन करने वाला श्रेष्ठ है, अतः कहा है 'योगिनामपि ·······' ।

योगी तीन प्रकार के होते हैं (१) योगाभ्यास से भगवान् के ध्यान में रहने वाले (२) भक्ति योग से साधन सेवन में परायण । (३) रसात्मक स्वसंयोग भाव से निष्ठ । इनमें से मेरी श्रद्धा से युक्त प्रेम युक्त होकर जो मेरा भजन करता है, वह मुझे अत्यन्त प्रिय है । अतः इस भाव से तुम योगी बनो ।

मेरा योग अपनी शक्ति संयोग की इच्छा रूप योग से ही होता है ।।४७।।

दास्यात्मक स्वयोग से जिन्होंने पार्थ के अद्वैतमार्ग के भ्रम को उड़ा दिया, वे श्रीकृष्ण प्रसन्न हों ।

इस प्रकार श्री भगवद्गीता रूप उपनिषद् के ब्रह्मविद्या में योगशास्त्र सम्बन्धी श्रीकृष्णार्जुन संवाद का आत्मसंयम योग नाम का छठवां अध्याय तथा इस अध्याय की गीतामृत तरंगिणी नामक संस्कृत और श्रीवरी नामक हिन्दी टीका समाप्त ।।

॥ श्रीकृष्णायनमः ॥

सातवां अध्याय

श्रीभगवानुवाच

मयासक्तमनाः पार्थ योगं युंजन् मदाश्रयः ।

असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥१॥

भगवद्योगयुक्तात्मा युक्तो रूपप्रबोधने ।
अतः पार्थाय श्रीकृष्णः स्वरूपज्ञानमुक्तवान् ॥

पूर्वाध्यायान्ते 'श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मत' इति योग सहित स्वभजनकर्त्तुरुत्तमत्वं स्वाभिमतत्वमुक्तं तत्र स्वरूपाज्ञाने भजनं न भवेत् तज्ज्ञानं च योगज्ञानोत्तरभावीति योगस्वरूपमुक्त्वा अथ भजनार्थं स्वरूपज्ञानमाह । श्री भगवानुवाच । मय्यासक्तमना इति । हे पार्थ एतच्छ्रवणयोग्य मदाश्रयः मदर्थमेवाऽनन्यशरणः सन् मत्क्रीडार्थं संयोगार्थमाश्रयं कृत्वा योगं युंजन् तास्याभ्यासं कुर्वन् असंशयं संशय रहितं यथा स्यात्तथा समग्रं संयोगात्मकसर्वरससहितं मां यथा ज्ञास्यसि तदिदमग्रे वक्ष्यमाणं ज्ञानस्वरूपं मय्यासक्तमनाः मयि आसक्तं स्वापेक्षारहितं मत्सुखाभिलाषिमनाः शृणु ॥१॥

जब अर्जुन भगवान् के योग से युक्त आत्मावाला, स्वरूप के बोध में युक्त हुआ तब भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वरूप ज्ञान का उपदेश दिया ।

पूर्व अध्याय के अन्त में यह लिखा है कि 'श्रद्धावान् भजनकर्त्ता मेरा उत्तम भक्त है' । आशय यह है कि योग सहित भजनकर्त्ता का उत्तमत्व सिद्ध किया है ।

भगवान् ने इस पर अपनी अभिमति भी प्रदान की है। स्वरूप के अज्ञान में भजन नहीं हो सकता और वह ज्ञान योगज्ञान से पूर्व होना आवश्यक है। अतः योग का स्वरूप बतलाकर भजनार्थ स्वरूप ज्ञान बतलाते हैं।

श्रीभगवान् ने कहा, हे पार्थ ! ज्ञान श्रवण के अधिकारी मुझे ही सब कुछ मानकर मेरी क्रीड़ा के लिये आश्रय करके दास्य का अभ्यास करके संशयों को छोड़कर संयोगात्मक सर्व रस सहित मुझे जैसे जानोगे उसे मुझ में स्वापेक्षा रहित मन से मेरे सुख की अभिलाषा वाले होकर सुनो ॥१॥

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।

यज्ज्ञात्वानेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥२॥

ननु योगस्वरूपनिरूपणे पूर्वमपि स्वरूपज्ञानमुक्तमेवपुनरेतज्ज्ञानं किं रूपमित्याशंक्याह । ज्ञानं तेऽहमिति । अहं पुरुषोत्तमः ते तव त्वदर्थं ज्ञानं शास्त्रोक्तप्रकारेण मत्स्वरूपविषयं अशेषतः सम्पूर्णं लीलादिसहितं वक्ष्यामि । कीदृशं तत् सविज्ञानं स्वरूपानुभवसहितम् । अनुभवस्वरूपमेवाह । इदमिति । अनुभूयमानस्वस्वरूपात्मकम् । एतज्ज्ञानानन्तर पुनरन्यज्ज्ञेयं नास्तीत्याह । यदिति । यत् स्वरूपानुभवसहितं स्वस्वरूपं ज्ञात्वा इह अस्मिन्मद्भक्तिमार्गे भरतखण्डे अस्मिन्मनुष्यजन्मनि वा ज्ञातव्यं न अवशिष्यते । एतज्ज्ञानेनैव दास्यानुभवो भवतीत्यर्थः ॥२॥

यों तो योग स्वरूप के निरूपण में पहले भी स्वरूप ज्ञान तो बतला ही दिया था फिर इस ज्ञान का रूप क्या है इस आशंका से बतलाते हैं। मैं पुरुषोत्तम, तेरे लिये शास्त्रोक्त प्रकार से अपने स्वरूप विषय को लीला आदि के वर्णन के साथ समझाऊंगा। वह ज्ञान स्वरूपानुभव सहित है। अनुभव स्वरूप बतलाते है—'इदम्' पद से। इस ज्ञान के अनन्तर अन्य कुछ भी ज्ञातव्य नहीं है।

स्वरूपानुभव सहित स्व स्वरूप जानकर इस मेरे भक्तिमार्ग में, भरत खण्ड में, इस मनुष्य जन्म में ज्ञातव्य कुछ नहीं है। इस ज्ञान से ही दास्यानुभव होता है ॥२॥

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।

यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्वतः ॥३॥

ज्ञातव्यं कुतो नावशिष्यत इत्यत आह। मनुष्याणामिति। पूर्वं तु भगवत्संनिधानान्निःसृतानां जीवानां मध्ये मनुष्यत्वं प्राप्तानामेव भजनाधिकारस्तत्प्राप्तिश्च दास्यदानानुग्रहैकसाध्या तत्प्राप्त्यनन्तरं च भावार्थं समर्पितस्य देहस्य तदाप्त्यर्थं लीलया प्राकट्यमतिदुर्लभं तत्रापि भावसेवया प्रीतेन भगवदुक्तस्वस्वरूपज्ञानमतिदुर्लभम्। एतत्सर्वसिद्धिर्यज्ज्ञानेन भवति तज्ज्ञाने न किंचिदवशिष्यते। तदाह। मनुष्याणां सहस्रेषु भजनौपयिकप्राप्तदेहानां सहस्रेषु असंख्यातेषु कश्चित् दुर्लभो मदनुग्रहैकरूपः सिद्धये मत्सिद्धिस्वरूपनिमित्तं या सिद्धिर्द्वितीय स्कन्धे उक्ता तदर्थं यतति। यत्नवान् भवति। यततामपि यत्नं कुर्वतामपि सिद्धानां मध्ये कश्चित् स्वरमणेच्छादिभावरहितस्तत्स्वरूपात्मकधामरममाणं मां तत्त्वतस्तदनुग्रहैकलभ्यत्वेन वेत्ति जानाति। यत एतज्ज्ञानमतिदुर्लभम्। यज्ज्ञानानन्तरं न किंचिदवशिष्यते। तन्मया त्वदर्थमुच्यत इति भावः ॥३॥

ज्ञातव्य कुछ शेष नहीं है, अतः कहा है, 'मनुष्याणां'। पहले तो भगवत् सन्निधान से निःसृत जीवों के मध्य में मनुष्यत्व को प्राप्त व्यक्तियों को ही भजनाधिकार है और उसकी प्राप्ति भी है। दास्य दान अनुग्रह मात्र के द्वारा साध्य उसकी प्राप्ति के अनन्तर भावार्थ समर्पित देह की प्राप्ति के लिये लीला से प्राकट्य अतिदुर्लभ है, उसमें भी भाव सेवा से भगवदुक्त स्व स्वरूप ज्ञान अति दुर्लभ है। यह सम्पूर्ण सिद्धि है। यह जिस ज्ञान से होती है उस ज्ञान में कुछ अवशिष्ट नहीं रहता। अतः कहा है 'मनुष्याणां ......'।

असंख्यात भजन उपाय के लिये प्राप्त देह धारियों के मध्य कोई मेरे अनुग्रह

को प्राप्त करने वाला हो मेरी सिद्धि स्वरूप के निमित्त यत्न करता है जो सिद्धि श्रीमद्भागवत के द्वितीय स्कन्ध में कही है। यत्न करने वालों में भी सिद्धों के मध्य में कोई स्वरमण इच्छा आदि भाव से रहित स्वरूपात्मक धाम में रमण करने वाला मुझको मेरा अनुग्रह पाकर ही जानता है। क्योंकि यह ज्ञान अत्यन्त ही दुर्लभ है। जिस ज्ञान के पश्चात् कुछ शेष नहीं रहता वह मैं तेरे लिये कहता हूं ॥३॥

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनोबुद्धिरेव च ।

अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥४॥

एवं सावधानतया श्रोतव्यत्वेनार्जुनं बोधयित्वा पूर्वप्रतिज्ञातस्वस्वरूप-ज्ञानार्थं स्वस्य सर्वकर्तृत्वं सर्वस्वरूपत्वं चाह भूमिराप इत्यादिभिः। भूमिः। आपः। अनलः। वायुः। खम्। एवं पंचमहाभूतानि। मनः संकल्पादि-साधनं। बुद्धिर्ज्ञानात्मिका। अहंकारोऽभिमानादिरूपः। इति अनेन प्रकारेण इयं मे अष्टधा प्रकृतिः माया भिन्ना विभागं प्राप्ता। लौकिककार्यार्थमिति भावः ॥४॥

इस प्रकार सावधानी पूर्वक सुनने वाले अर्जुन को समझाकर पूर्व प्रतिज्ञात अपने स्वरूप के ज्ञानार्थ अपनी सर्व समर्थता और स्वरूप बतलाते हैं 'भूमिः.........'।

भूमि, जल, अग्नि, वायु, आकाश पंचमहाभूत, संकल्पादि का साधन मन, ज्ञानात्मिका बुद्धि, अभिमानादि रूप अहंकार ये मेरी आठ प्रकृति हैं अर्थात् माया है जो लौकिक कार्य करने के लिये विभाग को प्राप्त है ॥४॥

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।

जीवभूतां महाबाहो ! ययेदं धार्यते जगत् ॥५॥

तदेवाह अपरेति । इयं अपरा नीचेत्यर्थः । तु पुनः । हे महाबाहो ! क्रियासमर्थ ! एतज्ज्ञानयोग्य ! इतः सकाशादन्यां परां उत्कृष्टां जीवभूतां मे प्रकृतिं विद्धि जानीहि । परत्वमेवाह । ययेदमिति । यया इदं परिदृश्यमानं जगद्धार्यते ध्रियते पोष्यते च । अत्रायं भावः । भगवान् स्वक्रीडार्थं जगत् सृजति । तत्र प्रकृत्या स्वशक्त्या क्रीडाधिकरणभूतजगत्सृष्टिं विधाय तद्भोगार्थं क्रीडार्थकया स्वशक्त्या तद्रूपजीवसृष्टिं कृतवान् । तया इदं पूर्वकृतं भोगादिरूपेण धार्यते । तस्माल्लौकिकसृष्टौ जीवरूपेण भगवान् भोगं कुर्वन् क्रीडतीति ज्ञानेन तस्यां बन्धो न स्यात् । एतत्स्वरूपज्ञानाद्रसानुकरणज्ञानं स्यादिति भावः । यद्वा या पूर्वमष्टधोक्ता सा अपरा प्रकृतिः शक्तिः । क्रीडार्थं शक्त्यंशभूतेतिभावः । संयोगविलासे अनेकधारसोत्पत्त्यर्थमाविर्भूतेत्यर्थः । अतएव भिन्ना तद्विलासेच्छया जाता । इतः सकाशादन्या विप्रयोगे तदन्वेषणार्थं पुनर्दास्यरससिद्ध्यर्थमाविर्भूता जीवभूता दास्यरूपा या मच्छक्तिस्तां परां केवलमदंशां उत्कृष्टां जानीहि । उत्कृष्टरूपतामेवाह । यया इदं जडात्मकं जगद्धार्यते । जीवप्राकट्यानन्तरं तद्भावेन सर्वं क्रीडौपयिकत्वेन पोष्यत इति भावः ॥५॥

अपरा प्रकृति बतलाते हैं । हे महाबाहु ! क्रिया समर्थ ! इस ज्ञान के अधिकारी ! उत्कृष्ट जीवभूत मेरी प्रकृति को जानो । परत्व बतलाते हैं । जिसके द्वारा यह परिदृश्यमान जगत् धारण किया जाता है एवं पोषित है ।

भाव यह है कि भगवान् ने अपनी क्रीडा के लिये ही जगत् रचा है । इसमें स्वशक्ति से क्रीडा की आधारभूत जगत्-सृष्टि की रचना कर उसके भोग के लिये क्रीडा स्वरूपिणी अपनी शक्ति से तद्रूप जीवसृष्टि को किया । उसके ही द्वारा भोगादिरूप से पूर्वकृत को धारण किया जाता है । अतः लौकिक सृष्टि में भगवान् जीवात्मा के रूप में भोग करते हुए क्रीडा करते हैं, इस ज्ञान से उसमें बन्ध नहीं होगा । इस स्वरूप के ज्ञान से रसानुकरण ज्ञान हो, यह भाव है ।

अथवा जो आठ प्रकार की प्रकृति कही गई है, वह अपरा शक्ति है । क्रीडा के लिये शक्ति के अंश से उद्भूत है । संयोग विलास में अनेकधा रस की उत्पत्ति

के लिये वह आविर्भूता है । अतएव वह उसके विलास से उत्पन्न है। विप्रयोग पुवः दास्य रस की सिद्धि के लिये प्रकटित जीवभूता दास्यरूपा जो मेरी शक्ति है, उसे सर्वोत्कृष्ट शक्ति जानना चाहिये । उसकी उत्कृष्ट रूपता बतलाते हैं कि उसी शक्ति ने यह जडात्मक जगत् धारण किया है । जीव प्राकट्य के पश्चात् उसी भाव से सब जीवों का पोषण क्रीडा का साधन मात्र मानकर करती है ॥५॥

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ।

अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥६॥

एतज्ज्ञानेन किं स्यादित्यत आह एतदिति । सर्वाणि भूतानि स्थावर-जंगमात्मकानि । एतद्योनीनि । एते प्रकृती योनी करणरूपे येषां तथा तदुपधारय । उप समीपे हृदये पोषयो । एतद्योनिज्ञानेन मत्क्रीडौपयिकत्वं सर्वेषु भविष्यतीति भावः । यतस्तद्योनीनि सर्वाणि ते च मदंशे अतः कृत्स्नस्य सम्पूर्णस्य जगतोऽहं प्रभवः प्रकर्षेण भवत्यस्मादिति प्रभव उत्पत्तिस्थानं मूलकारणमित्यर्थः । तथा प्रकर्षेण लीयते अनेनेति लयस्थानं प्रलयकर्त्ताऽप्यहमेवेत्यर्थः । यत उत्पत्तिप्रलयकारणमहमेव ॥६॥

इस ज्ञान से क्या होता है, यह बतलाता है 'एतत·········' ।

स्थावर और जंगमात्मक भूतों को कारण भूता शक्ति यही हैं । इसे समझो या हृदय में धारण करो । इस कारण ज्ञान से मेरी क्रीडा की उपयोगिता सब में हो जायेगी, यह भाव है । सम्पूर्ण जगत् का मूल कारण मैं ही हूँ तथा प्रलय कर्त्ता भी मैं ही हूँ ॥६॥

मत्तः परतरं नान्यत् किंचिदस्ति धनंजय ।

मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥७॥

अतः हे धनंजय ! मद्विभूतिरूप ! एतज्ज्ञानयोग्य। मत्तः परतरं श्रेष्ठं जगत् जगति वा किञ्चित् अहं स इति भेदेनापि अन्यन्नास्ति । एवमुत्पत्तिप्रलयकारणेन स्वत उत्तमत्वा भावमन्यस्योक्त्वा स्थितिहेतुत्वेनाऽपि तथात्वमेवेति स्वस्य स्थितिहेतुत्वमाह । मयीति । इदं सर्वं जगत् मयि प्रोतं ग्रथितं मदाश्रयत्वेन तिष्ठतीत्यर्थः । अत्र दृष्टान्तमाह । सूत्रे प्रोता मणिगणा इव । अत्रायं भावः । मणिगणाः क्रीडास्थजीवाधिदैविकरूपा यथा मयि तिष्ठन्ति तथेदं जगवप्याधिदैविकं मयि तिष्ठतीति भावः ॥७॥

हे मेरी विभूति के रूप ! ज्ञानयोग्य धनंजय ! मुझ से परे इस जगत् में कुछ भी नहीं है। इस प्रकार अन्य किसी की अनुत्तमता को विज्ञापित कर स्थिति हेतु से भी अपनी स्थिति बतलाते हैं। यह सम्पूर्ण जगत् मुझ में ग्रथित है। अर्थात् मुझ में स्थित है। इसमें दृष्टान्त देते है। सूत्र में जिस प्रकार मणिगण ओत प्रोत रहते हैं। भाव यह है कि क्रीडा में स्थित जीव अधिदैविक रूप से जैसे मुझ में रहते हैं उसी प्रकार जगत् भी मुझ में आधिदैविक रूप से रहता है ॥७॥

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभाऽस्मि शशिसूर्ययोः ।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥८॥

आधिदैविकरूपेण जगतः स्थितिं स्वस्मिन्नाह । रसोहमिति । पंचभिः । हे कौन्तेय ! मदुक्त एतज्ज्ञानयोग्य अहं अप्सु जलेषु रसरूपः । जले शैत्याह्लादकानन्दादिगुणो मद्रूपस्थरसांशसम्बन्धादाविर्भवतीत्यर्थः। तथा शशिसूर्ययोः प्रभा प्रकाशकतेजोरूपोऽस्मि मद्रूपस्थसंयोगवियोगानन्दरूपतेजः सम्बन्धेनोभयोस्तद्रूपानन्दप्रकाशकत्वं भवतीतिभावः सर्ववेदेषु शब्दरसात्मके प्रणवे च ओंकारः त्रिरूपाक्षररूपोऽस्मि शक्तिद्वयसहितपुरुषरूपोऽस्मि । तत्सम्बन्धेनैव वेदशब्देपुरसरूपता अत एव श्रुतीनां भावोत्पत्तिः । खे आकाशे शब्दरूपोऽस्मि । अत्रायं भावः : आकाशस्वरूपात्मकभगवद्वपुःसम्बन्धेन शब्देष्वानन्दरूपत्वं भवति । नृषु मनुष्येषु पौरुषांशत्वं । पुरुषांशानामेव भजनयोग्यतेति तत्सम्बन्धेनैव सर्वमनुष्याणामुत्तमत्वमुच्यत इति भावः ॥८॥

अब आधिदैविकरूप से जगत् की स्थिति अपने में बतलाते हैं 'रसोऽहं.........' आदि पांच श्लोकों में।

हे कौन्तेय ! मेरे भक्त अर्जुन या इस ज्ञान के अधिकारी ! मैं जलों में रस रूप हूँ। अर्थात् जल में विद्यमान् शैत्य आह्लादक आनन्दादि गुण मेरे रूप में स्थित रस के अंश के सम्बन्ध से ही आविर्भूत होते हैं। चन्द्रमा एवं सूर्य में प्रकाशक तेज रूप भी मैं हूँ। भाव यह है कि मेरे रूप में स्थित संयोग वियोगानन्द रूप तेज के सम्बन्ध से दोनों में उनके रूप और आनन्द का प्रकाशकत्व है। चारों वेदों में शब्द रसात्मक प्रणव में (तीन अक्षर वाले ओंकार में) दो शक्तियों से युक्त पुरुष रूप हूँ। उस सम्बन्ध से ही वेद शब्दों में रस रूपता है। अतएव श्रुतियों की भावोत्पत्ति है। आकाश में शब्द रूप हूँ। भाव यह है कि आकाश स्वरूपात्मक भगवान् के वेणु सम्बन्ध से शब्दों में आनन्दरूपता आती है। मनुष्यों में पौरुष अंशता भी मैं हूँ। पुरुष अंशों की ही भजन योग्यता होती है। उस सम्बन्ध से ही सब मनुष्यों में उत्तमत्व आता है ।।८।।

पुण्योगन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ।।९।।

च पुनः पृथिव्यां पुण्यो गन्धोऽस्मि येन गन्धेन पुलिन्द्यादिषु भगवद्रसोत्पत्तिः स्यात् स पुण्यरूपोगन्धस्तत्सम्बन्धेन पृथिव्या गन्धवत्वं तद्वत्त्वेनात्रत्यामोदेनाऽऽह्लादकवृन्दावनाधारत्वादिकं चेति भावः। तथा विभावसौ अग्नौ यत्तेजस्तापकत्वं कान्तिस्तदहमस्मि। तत्रायं भावः। विप्रयोगतापरूपाग्नेर्ममांशसम्बन्धेनाग्नौ तापस्तेन सर्वपरिपाकं कृत्वा सर्वस्यान्नादेर्मद्भोग्यतासम्पादकत्वं भवतीति भावः। सर्वभूतेषु जीवनं प्राणधारणं अन्यथा भगवद्वियुक्तानां तेषां तदाधारतां विना कथं स्थिति स्यात्। तपस्विषु तापप्रयत्नवत्सु तपः क्लेशानन्दरूपोऽस्मि। अन्यथा तदभावे सुखादित्यागेन दुःख को वा प्रवर्तते ।।९।।

पृथिवी में मैं पुण्य गन्ध हूँ जिस गन्ध से भीलनियों में भी भगवद्रस की उत्पत्ति होती है। वह पुण्य गन्ध है। उस सम्बन्ध से ही पृथिवी को गन्धवती कहा गया है । इससे ही यहाँ का आमोद आह्लाद तथा वृन्दावन आधारत्व भी कहा गया है। अग्नि में ताप का तेज भी मैं हूँ। भाव यह है कि विप्रयोग तापरूप अग्नि में मेरे अंश सम्बन्ध से ही ताप है। इसी ताप से सम्पूर्ण अन्नादि को मेरे भोग योग्य बनाया जाता है। सम्पूर्ण जीवों में प्राणधारण तत्त्व मैं हूँ, अन्यथा भगवान् से वियुक्तों की उनके आधार के बिना स्थिति कैसे हो सकती है। तपस्वियों में क्लेशानन्द रूप तप मैं हूँ । यदि ऐसा न होता तो सुख को छोड़कर दुःख में प्रवृत्त ही कौन होता ॥९॥

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥१०॥

किं च। बीजमिति । हे पार्थ मत्कृपाश्रय ! सर्वभूतानां सनातनं नित्यं बीजं मां विद्धि । अत्रायं भावः । पुरुषोत्तमलीलास्थजीवास्तदात्मका एव। तदंशा एवात्र प्रकटीकृताः। अन्यथा लीलोपयोगिनो न भवेयुस्तेन तद्बीजजाता एतेऽपि सेवायोग्या इति सर्वेषां बीजं मां विद्धि तज्ज्ञानं स्वरूपज्ञानप्रयोजकमितिभावः। तथैव बुद्धिमतां मत्स्वरूपज्ञानकुशलप्रयत्नवतां बुद्धिः कौशलमस्मि। तेजस्विनां दुराधर्षिणां तेजो दुराधर्षता अहमस्मि ॥१०॥

हे मेरी कृपा पर निर्भर ! समस्त भूतों में सनातन नित्य बीज मुझे जानो। भाव यह है कि पुरुषोत्तम की लीला में स्थित जीव उसके स्वरूप ही हैं । उनके अंश ही यहाँ प्रकट हैं। अन्यथा वे लीला के उपयुक्त कैसे माने जाते। अतः उनके बीज से उत्पन्न ये जीव भी सेवा योग्य हैं। उनका ज्ञान स्वरूप ज्ञान का प्रयोजक है। इसी प्रकार मेरे स्वरूप ज्ञान में कुशल बुद्धि अर्थात् कौशल मैं हूँ। दुराधर्ष तेज वालों में दुराधर्षता मैं हूँ ॥१०॥

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम् ।

धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥११॥

किं च बलवतां मद्वशीकरणलक्षणवतां बलं वशीकरणलक्षणमाहम् । च कारेण तद्रूपोऽपि । कीदृशं बलं कामरागविवर्जितं वशीकृते मयि स्वाभिलाषत्वं स्वरजनादिवर्जनं किंतु मदभिलाषादिभावः । तथा हे भरतर्षभ ! सत्कुलोत्पन्न तथाकामभावयोग्यं ! धर्माविरुद्धः धर्मेण अविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि । अत्रायं भावः । लौकिककामस्तु धर्मविरुद्धोऽस्ति यतोयं रसः स्वाऽविवाहितायामेव भवति प्रकटः सर्वधर्मविरुद्ध एव । अलौकिकस्तु रसात्मको धर्मरूप इति भावः ॥११॥

और मुझे वश में करने वाले बलशालियों में वशीकरण लक्षणवाला बल मैं हूँ । वह 'बल' काम राग से वर्जित होकर जब मुझे वश में कर लेता है तब स्वाभिलाषाओं की निवृत्ति भी कर देता है किन्तु मेरी ओर अभिलाषा बढ़ जाती है । हे सत्कुल में उत्पन्न अर्जुन ! तथा कामभाव के योग्य ! समस्त भूतों में धर्मानुकूल काम भी मैं हूँ । भाव यह है कि लौकिक काम तो धर्म विरुद्ध है क्योंकि यह रस तो अविवाहिता में ही प्रकट होता है जो सब धर्मों में विरुद्ध कहा है । अलौकिक तो रसात्मक धर्म रूप ही है ॥११॥

ये चैव सात्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये ।

मत्त एवेति तान् विद्धि नत्वहं तेषु ते मयि ॥१२॥

किं च । ये चैवेति । ये च पुनः सात्विका एव भावा मत्सम्बन्धिदर्शनेन रोमांचादयः । राजसात्मकविक्षेपादयः । च पुनस्तामसा विप्रयोगस्वरूपस्मरणे मूर्छाभ्रमादयस्ते सर्व एव । इति अमुना प्रकारेण तान् मत्त एव

विद्धि जानीहि । तेषु तत्सामर्थ्येन अहं तत्प्रकारेण न प्रकटो भवामि किंतु ते मयि प्रकटीभवन्तीत्यर्थः। अत्रायं भावः। एते गुणा रसार्थं मया प्रकटिताः स्वरसात्मकगुणसाफल्याय मत्सम्बन्धेन स्वयमुद्बुद्धरसाः सन्तः सेवां कुर्वन्तीति ते मयि सन्ति नत्वहं जीववत्तेषूत्पन्नेषु रसयुक्तो भवामीति भावः ॥१२॥

और जो मेरे दर्शन से होने वाले रोमांचादि सात्त्विक भाव, विक्षेपादि राजसभाव, वियोग स्वरूप के स्मरण में मूर्छा आदि तामस भाव—ये सब मुझ में ही है। मैं उनमें उस प्रकार से उत्पन्न नहीं होता अपितु वे मुझमें प्रकट होते हैं। भाव यह है कि इन गुणों को मैंने रस के लिये प्रकट किया है। स्वरसात्मक गुण साफल्य के लिये मेरे सम्बन्ध से जो स्वयं रस स्थिति को जगाकर सेवा करते हैं, वे मुझ में ही निवास करते हैं। जीव की भांति उत्पन्न उनमें मैं रस युक्त नहीं होता हूं ॥१२॥

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।

मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥१३॥

एवं लीलया रसार्थं प्रकटितान् गुणान् मयि दृष्ट्वा सर्वे मोहं प्राप्य मां न जानन्तीत्याह त्रिभिरिति। एभिः परिदृश्यमानैर्मत्सम्बन्धेन स्नेहलीलारसतः प्रकटीभूतैस्त्रिभिः सात्त्विकादिभिर्गुणमयैर्मद्गुणात्मकैर्भावैर्भावनात्मकैरिदं परिदृश्यमानमधिकरणात्मकमाध्यात्मिकं जगत् मामेभ्यः पूर्वोक्तभावेभ्यः परमुत्कृष्टं केवलं रसात्मकमत एवाव्ययं विप्रयोगादिभावेषु न्यूनतादिरहितं नाभिजानाति ॥१३॥

इस प्रकार लीला से रस के लिये प्रकटित गुणों को मुझ में देखकर सब मोह को प्राप्त कर मुझे नहीं जानते हैं इस तथ्य को तीन श्लोकों से बतलाते है। इस प्रकार मेरे सम्बन्ध के कारण स्नेह लीला रस से उत्पन्न हुए सात्त्विक-

राजस-तामस गुणात्मक भावों से दृश्यमान यह आध्यात्मिक जगत् पूर्वोक्त भावों से उत्कृष्ट है तथा वियोगादि भावों में भी न्यूनता आदि रहित है, इसे नहीं जानता है ॥१३॥

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥१४॥

नन्वेवं चेदस्माभिः कथं ज्ञातव्य ? इत्याकांक्षायामाह दैवीति । एषा मम गुणमयी मद्‌गुणात्मिका दैवी केषु चिद्भाग्यवत्सु रसदानेच्छया प्रकटीकृतक्रीडात्मिका माया अलौकिकसामर्थ्येनान्यथाभावोत्पादनसमर्था । अतएव दुरत्यया दुःखेनापि जेतुमशक्या । एतादृशीमपि ये मामेव केवलमनन्यभावेन पुरुषोत्तमं प्रपद्यन्ते प्रपन्ना भवन्ति ते एतां मायां मोहनात्मिकां तरन्ति । मां जानन्तीत्यर्थः । 'मामेव ये' इत्यत्रैवकारेण मामित्येकवचनेन च भावात्मकतया केवलं पुरुषोत्तमत्वेन स्वभजनं दास्यभावेनोक्तं न तु लीलादिसहितदर्शनेन स्वरमणेच्छादिकतया । एतेन त्वमपि तथा प्रपन्नो भवेत्युक्तम् ॥१४॥

यदि ऐसा है तो हम कैसे जानें, इस आकांक्षा में बतलाते हैं—मेरी माया गुणमयी है अर्थात् मद्‌गुणात्मिका है । वह किन्हीं किन्हीं भाग्यवानों को रसदान की इच्छा से प्रकट की गई है । क्रीडात्मिका है । अलौकिक सामर्थ्य से अन्यथा भावों को उत्पन्न करने में समर्थ है । अतएव इसे दुःख पूर्वक भी जीता नहीं जा सकता । ऐसी दुरत्यय माया को वही पारकर जाते हैं जो अनन्य भाव से मुझ पुरुषोत्तम को जानते हैं । 'मामेव' पद में 'एव' तथा 'माम्' शब्द के एक वचन प्रयोग से यह ध्वनित है कि पुरुषोत्तम का भजन दास्य भाव से हो, लीला आदि सहित दर्शन के साथ नहीं । इससे यह भी अर्थ निकलता है कि तुम भी उसी प्रकार मेरे बनो ॥१४॥

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।
माययाऽपहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥१५॥

नन्वेवं सति कथं न सर्वे प्रपन्ना भवन्तीत्याह । न मामिति । मां दुष्कृतिनो दुष्टकर्मकर्त्तारः पापा मूढाः पशुवद्विवेकरहिताः नराधमाः नरेषु अधमाः केवलं वैचित्र्यार्थं जगत्पूरणार्थं सृष्टाः मां न प्रपद्यन्ते । ननूपदेशादिना कथं न पापकर्मादित्यागेन प्रपद्यन्त ? इत्यत आह । माययेति । मायया अपहृतं गुरूपदेशादिजनितं ज्ञानं येषां । माययेति पदेन ज्ञाननाशनसामर्थ्यमुक्तम् । अतएव देवी पुराणे 'ज्ञानिनामपिचेतांसि देवी भगवती हि सा । बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छती'त्युक्तम् । ननु भगवत्प्रपत्तीच्छूनां कथं न भगवान् रक्षतीत्यत आह । आसुरं भावनाश्रिताः । मद्विरोध्यासुरसगेन तद्भावं प्राप्ताः । अतो मया न रक्ष्यन्त इति भावः । एतेन दुःसंग राहित्येन प्रपत्तिः कार्येत्युपदिष्टम् । अतएव दुःसंगनिषेधः श्री भागवते । 'न तथाऽस्य भवेन्मोह' । 'सगस्तेष्वपि ते प्रार्थ्यः' इत्यादिभिरुक्तः ॥१५॥

शंका—यदि ऐसा ही उचित है तो सब लोग प्रपन्न क्यों नहीं होते ? समाधान करते हुए कहते हैं कि मुझे दुष्ट कर्म करने वाले पापी, पशु की तरह विवेक रहित नरों में अधम जो कि केवल जगत् सृष्टि की विचित्रता के लिये ही उत्पन्न किये है, मुझे प्राप्त नहीं करते ।

यहा यह भी शंका होती है कि उपदेश सुनकर भी पाप कर्मों को छोड़कर वे शरण में क्यों नहीं आते ? भगवान् कहते है कि उनको उपदेश मिलता ही नहीं क्योंकि गुरु आदि के उपदेशों का अपहरण माया कर डालती है । माया पद से ज्ञान नाशन की सामर्थ्य भी कही गई है । देवी पुराण में लिखा भी है कि भगवती देवी, ज्ञानियों के चित्तों को भी खींच कर मोह को समर्पित कर देती है ।

शंका—भगवान् की शरण में आये हुए व्यक्तियों की रक्षा का भार तो भगवान् पर है, अतः उन्हें रक्षा करनी चाहिये ।

समाधान करते हुए कहते हैं कि वे मेरा विरोधकर आसुर भाव को प्राप्त हो गये हैं अतः मेरे द्वारा वे रक्षित नहीं हैं । इससे भगवान् ने यह बतलाया कि दुःसंग का परित्याग कर ही प्रपत्ति करनी चाहिये । दुःसंग का निषेध श्रीमद्भागवत में भी—'न तथास्य भवेन्मोहः' द्वारा कहा है ॥१५॥

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ! ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ! ॥१६॥

एवं दुष्टकर्मकर्त्तारो न भजन्तीत्युक्तं तर्हि के भजन्तीत्याकांक्षायामाह। चतुर्विधा इति । हे अर्जुन ! सावधानतया श्रोतव्यत्वेन संबोध्य ! सुकृतिनः पूर्वजन्मसंचितपुण्यराशयो जनाः मां भजन्ति । अन्यथा भजने प्रवृत्तिरेव न स्यात् । अतएव नराणां क्षीणपापानां कृष्णे भक्तिः प्रजायत इति श्रीभागवत उक्तम् । ते च चतुर्विधाः । चतुर्विधत्वं प्रकटयति आर्त इति । आर्तः संसारक्लेशादियुक्तः । तन्निवृत्त्यर्थं धर्मरूपेण मां भजति । जिज्ञासुः कामात्मक मत्स्वरूपज्ञानेच्छु कामरूपेण मां भजति । अर्थार्थी मत्सेवौपयिक साधनसंपत्त्यर्थरूपेण मां भजति । च पुनः । ज्ञानी शास्त्रार्थज्ञानवान् मोक्षरूपेण मां भजति । भरतर्षभेति सम्बोधनं सत्कुलोत्पन्नानामेव भजनप्रवृत्तिर्भवतीति ज्ञापनार्थम् ॥१६॥

दुष्ट कर्म करने वाले भजन नहीं करते यह बतलाकर भजने वालों की संख्या बतलाते हैं। हे अर्जुन ! यह सम्बोधन सावधानी पूर्वक श्रवणार्थ है। पूर्व जन्म संचित पुण्य राशि वाले जन मेरा भजन करते हैं, अन्यथा भजन में प्रवृत्ति ही नहीं होगी। अतएव भागवत में लिखा है कि क्षीण पाप राशि वाले मनुष्यों की भक्ति भगवान् कृष्ण में होती है। ऐसे भक्त चार प्रकार के हैं :—

(१) आर्त—जो संसार के क्लेशों से युक्त हैं। उनकी निवृत्ति के लिये धर्म रूप से मेरा भजन करते हैं। (२) जिज्ञासु—कामात्मक मेरे स्वरूप को जानने की इच्छा वाले काम रूप से मेरा भजन करते हैं। (३) अर्थार्थी—मेरी सेवा के लिये उपयुक्त साधन सम्पत्ति के अर्थ रूप से मुझे भजते है। (४) ज्ञानी—शास्त्रार्थ ज्ञाता मोक्षरूप से मुझे भजते हैं। भरतर्षभ ! यह सम्बोधन इस बात को ज्ञापित करता है कि सत्कुलोत्पन्न व्यक्ति की ही भजन में प्रवृत्ति होती है ॥१६॥

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥१७॥

एवं चतुर्विधानुवर्तेतेषु ज्ञानी मोक्षार्थं भजनकर्त्ता उत्तम इत्याह । तेषामिति । तेषां पूर्वोक्तचतुर्विधानां मध्ये ज्ञानी नित्ययुक्तो नित्यं मया युक्त इत्यर्थः । एतेभ्यश्चतुर्विधेभ्योऽपि एकभक्तिरनन्यत्वेनैकान्तभजनकृत् दासवत् स विशिष्यते उत्तमत्वेनेत्यर्थः तस्य विशेष्यधर्ममाह । प्रिय इति । हीति निश्चयेन ज्ञानिनः सकाशात् अत्यर्थं सर्वभावेन अहमेव तस्य प्रियः । अतएव श्रीभागवते भगवद्वाक्यं 'मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपी'ति ॥१७॥

पूर्वोक्त चारों भक्तों में ज्ञानी श्रेष्ठ है । वह मुझ से नित्य युक्त है । ज्ञानी भक्त अनन्य है, अतः एकान्त भजनशील होने के कारण वह सर्व श्रेष्ठ है । ज्ञानी को सर्वतोभावेन मैं ही प्रिय हूँ । अतएव भागवत में कहा भी है, 'मदन्यत् ते न जानन्ति' ॥१७॥

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानीत्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥१८॥

नन्वेषु चतुर्विधेषु ज्ञानी उत्तम उक्तस्ततोऽपि भक्तस्तदा पूर्वोक्तानां किं फलमित्यपेक्षायामाह । उदारा इति । एते सर्व एव स्वार्थपरित्यागेन मदर्थ-धर्मादित्रयभजनकर्त्तारः उदाराः मोक्षाधिकारिणः । तु पुनः । ज्ञानी आत्मैव मदात्मक एव मुक्त एवेत्यर्थ इति मे मतम् । हीति निश्चयेन अनन्यमनसा सर्वत्यागेन । अनुत्तमां, न विद्यते उत्तमा यस्यास्तादृशीं गतिं प्राप्य स्थानं ज्ञात्वा मामेवास्थितः स युक्तात्मा मत्संयोगयुक्तो दास्यादिभावेनेत्यर्थः । स उत्तम इति भावः ॥१८॥

पूर्व श्लोक में ज्ञानी की श्रेष्ठता और भक्त की उससे भी अधिक श्रेष्ठता बतलाई है। तब पूर्वोक्त अन्य भक्तों को किस फल की उपलब्धि होती है ? भगवान् कहते हैं कि स्वार्थ परित्याग पूर्वक धर्म अर्थ काम पूर्वक भजन करने वाले उदार हैं अर्थात् मोक्ष के अधिकारी हैं। किन्तु ज्ञानी भक्त तो मेरी ही आत्मा है, ऐसा मेरा मत है। निश्चय ही सब को परित्याग कर सर्वश्रेष्ठ गति को प्राप्त कर स्थान को जानकर मुझ में ही स्थित होता है। मेरे संयोग से युक्त होकर दास्यादि भाव से वह युक्तात्मा कहा जाता है और वही उत्तम है ॥१८॥

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते।
वासुदेवःसर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥१९॥

ये पूर्वोक्तास्ते कथं मोक्षमनुभवन्तीत्याकांक्षामाह। बहूनामिति। बहूनां जन्मनां धर्मादित्रययुक्तानां अन्ते अन्तिमजन्मनि ज्ञानवान् भवति। ततो मां प्रपद्यते मुक्ता भवतीत्यर्थः। यस्तु भक्त उक्तः स तु दुर्लभ इत्याह। वासुदेव इति। सर्वमैहिकं परलौकिकं च वासुदेवः स महात्मा महान् मदर्थमेव अहमेव वा आत्मा तादृशः स दुर्लभाऽप्राप्य इत्यर्थः। यद्वा। दुःखेन क्लेशेन भगवानिव लभ्य इति भावः ॥१९॥

पूर्वोक्तों की मोक्ष बतलाते हैं। धर्मादि त्रय जन्म के पश्चात् अन्तिम जन्म में वह ज्ञानवान् होता है और तब मुझे प्राप्त कर मुक्त होता है। जिसे भक्त संज्ञा दी है वह तो दुर्लभ है। वह तो इस लोक और परलोक के बीच मेरी ही आत्मा वाला है, अतः उसकी प्राप्ति कठिन है। अथवा दुःख से जैसे भगवान् मिलते हैं ऐसे ही उसकी प्राप्ति भी दुःख से होती है ॥१९॥

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥२०॥

स कथं दुर्लभ इत्यत आह । कामैरिति । तैस्तैः कामैः पूर्वोक्तैरार्त्ते-त्यादित्रिरूपैर्हृतज्ञानाः सन्तोऽन्यदेवताः क्षुद्राः शिवादयो भूतप्रेतादयश्च स्वया प्रकृत्या कृत्वा तं तं नियमं देवताराधने उपवासादिलक्षणमास्थाय प्रपद्यन्ते । अत्रायमर्थः । कामनार्थं मत्सेवायां प्रवृत्ता न तु मोक्षार्थं भक्त्यर्थं वा । अहं तु मोक्ष भक्त्यननुरूपं कामितफलं न ददामि तदा तत्फलमननभूय तैः कामैः हृतं मत्स्वरूपज्ञानं येषां तादृशाः सन्तः स्वया प्रकृत्या नियताः प्रकृत्यंशत्वा-च्छीघ्रं तत्फलदा अन्य देवता भजन्ति । अतएव 'यो यदंशः स तं भजेदित्युक्तम्' ॥२०॥

उस भक्त की दुर्लभता बतलाते हैं। आर्त्त जिज्ञासु आदि रूपों से ज्ञान अपहृतवाला, क्षुद्र जो शिव—भूत प्रेत आदि देवगण, उनकी आराधना, उनका उपवास आदि करने वाला मुझे प्राप्त नहीं करता, क्योंकि वह कामना पूर्वक मेरी सेवा में प्रवृत्त होता है, मोक्ष प्राप्ति या भक्ति के लिये नहीं। मैं तो मोक्ष—भक्ति के प्रतिकूल फल नहीं देता। तब उस फल को न भोगकर उन-उन कामों से मेरे स्वरूप का ज्ञान उसके हृदय से नष्ट हो जाता है तथा अपनी प्रकृति से नियत होकर शीघ्र फल दान करने वाले अन्य देवगणों का भजन करने लगता है। अतएव कहा है कि जो जिसका अंश है, वह उसको भजे ॥२०॥

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥२१॥

अतोऽपि तान् स्वरूपरसदानायोग्यांस्तद्देवता भजते दृढान् करोमी-त्याह । यो य इति । यो यो भक्तो यां यां तनुं यां यां देवतामूर्ति श्रद्धया स्वकामसिद्धयर्थं शुद्धान्तःकरणेन अर्चितुमिच्छति तस्य भक्तस्य तामेव श्रद्धा-मचलां शास्त्रज्ञानादिना वा चालयितुमयोग्यामहमेव विदधामि करोमि पोष-यामि चेत्यर्थः ॥२१॥

मैं भी उन्हें स्वरूप रसदान का अपात्र समझकर उन देवताओं के भजन में दृढ़ बना देता हूं। जो भक्त जिस देवता की मूर्ति की श्रद्धापूर्वक पूजा करता है, अपनी कामना की सिद्धि चाहता है, उस भक्त की शास्त्र, ज्ञान आदि द्वारा अस्थिर श्रद्धा को मैं ही दृढ़ करता हूं ॥२१॥

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।
लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हि तान् ॥२२॥

ततः स मत्कृतश्रद्धया तस्याऽऽराधनं करोतीत्याह। स तयेति। स तया मत्कृतया श्रद्धया युक्तस्तस्या मूर्तेराराधनमीहते करोति। ततः श्रद्धांतः स्वशुद्धान्तःकरणतस्तान् स्वमनोरथरूपान् कामान् मयैवविहितान् निर्मितान् अन्यथा मदाज्ञां विना देवादीनां न सामर्थ्यमतो मयैव निश्चयेन विहितांल्लभते प्राप्नोतीत्यर्थः ॥२२॥

तब वह मेरे द्वारा प्रदत्त श्रद्धा से उसका आराधन करता है। श्रद्धापूर्वक ही वह अपने शुद्ध अन्तःकरण से अपने अनेक मनोरथ रूप कामों को जो मेरे ही द्वारा निर्मित हैं, प्राप्त करता है। मेरी आज्ञा के बिना देवों की भी सामर्थ्य नहीं है, अतः मेरे द्वारा प्रदत्त काम ही वह प्राप्त करता है ॥२२॥

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥२३॥

तर्हि त्वन्निर्मित फलाऽप्त्या चोत्तमत्वमेव तत्फलस्य कथं नेत्यत आह अन्तवत्त्विति। तु पुनः मन्निर्मितमपि फलं तेषां अल्पमतिमतां भक्तिं विहाय कामपरत्वात्। अन्तवत् विनाशयुक्तं भवतीत्यर्थः। तच्छब्देन तद् बुद्धयनुसारेण मया तत्फलं विधीयत इति व्यज्यते। ननु देवा अपि त्वदंशास्तद्भजने कथं नोत्तमफलमित्यत आह। देवानिति। देवयजः पूर्वोक्त प्रकारेण

स्वकामितफलाप्त्यर्थं देवभजनकर्त्तारः। अथवा देवत्वेन तद्भजनकर्त्तारो न तु मदंशत्वेन स्फुरितसन्माना अतो देवान् यान्ति। मत्सायुज्यकामाभावे प्राप्नुवन्ति। कामनायां तु तदेव प्राप्नुवन्तीत्यर्थः। अन्यदेवेषु देवत्वेन भजनकर्त्तारस्तत्सायुज्यमेव प्राप्नुवन्ति कामनायां तु तदपि न प्राप्नुवन्त्यतः कामनयापि मद्भजनमुत्तममित्याह। मद्भक्ता इति। मद् भक्ताः मद्भजन-कर्तारो मामपि यान्ति। कामनयापि प्रवृत्ताः पूर्वोक्त प्रकारेण अतएव 'उदाराः सर्व एवैत' इति पूर्वमुक्तम्। मामपि प्राप्नुवन्ति। अतोऽग्रे तेषां मोक्षः। अक्षरसायुज्यमपि प्राप्नुवन्ति। अतएव हरिवंशे—

अपत्यं द्रविणं दारा हर्म्यं हारा हया गजाः।
सुखानि स्वर्गमोक्षौ च न दूरे हरिभक्तितः॥

इति। इदमेवापि शब्दे व्यज्यते ॥२३॥

शंका—यदि आप ही फल दाता हैं तो वह फल ही उत्तम क्यों नहीं माना जाता। अतः उत्तर देते हैं—फल यद्यपि मेरे द्वारा ही निर्मित है तथापि अल्पबुद्धि वालों को वह विनाश युक्त होता है क्योंकि वे भक्ति-शून्य होते हैं। तत् शब्द का अर्थ है कि उसकी बुद्धि के अनुसार मेरे द्वारा ही फल का विधान किया जाता है। यह व्यङ्ग है। यदि यह शंका हो कि देवगण भी तो भगवान् के अंश हैं अतः उनके भजन से उत्तम फल क्यों नहीं होता, तो कहते हैं कि पूर्वोक्त प्रकार से देवों की पूजा करनेवाले अथवा देवत्व से ही उसके भजन को करने वाले (वे मेरे अंश के कारण नहीं) देवों का भजन करते हैं। उन्हें मेरे सायुज्य की कामना नहीं होती। अन्य देवों में देवत्व से भजन करनेवाले उसकी सायुज्य को ही प्राप्त करते हैं। कामना में तो वह भी प्राप्त नहीं होती। अतः मेरा भजन कामना से भी बढ़कर है। मेरे भक्त, भजन करने वाले मुझे प्राप्त करते हैं। भले ही वे कामना से ही प्रवृत्त क्यों न हों। अतएव 'उदाराः सर्व एवैते' लिखा गया है। मुझे प्राप्त करते हैं और आगे मोक्ष भी प्राप्त करते हैं अर्थात् अक्षर सायुज्य भी प्राप्त करते हैं। हरिवंश पुराण में लिखा भी है कि पुत्रादि संतति, धन, स्त्री, हारादि अलंकार, भवन, घोड़े, हाथी, सुख, स्वर्ग, मोक्ष हरि भक्ति से दूर नहीं हैं। यह अपि शब्द से व्यक्त है ॥२३॥

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।
परं भावमजानन्तो मामव्ययमनुत्तमम् ॥२४॥

तर्हि कथं न सर्वे त्वामेव भजन्तीत्यत आह । अव्यक्तमिति । अबुद्धयः कामहृतज्ञाना अव्यक्तं न विद्यते व्यक्तो लौकिकवत् प्रकटो व्यवहारो यस्य व्यक्तिर्जात्यादिर्वा यस्त तादृशं पुरुषोत्तमं व्यक्तिमापन्नं मनुष्यादिभावेन जगति प्रकटं लौकिकत्वेन अन्यदेवसमं मनुष्यादि समं वा मन्यन्ते । कुत इत्याकांक्षायामाह । परमिति । मम पुरुषोत्तमस्य अव्ययं नाशरहितं लीलात्मकं केषुचिद् भाग्यवत्सु प्रकटीभूय तद्रसपोषणार्थं तत्समानाकारेण लीलारूपं अजानन्तः । किंच । अनुत्तमं न विद्यते उत्तमो यस्मात्तादृशं परंभावं पुरुषोत्तमात्मकं अजानन्तो मां तथा मन्यन्ते । अतः स्वकामितफलक्षिप्रसादार्थमन्यदेवता एव भजन्ति न तु मामित्यर्थः ॥२४॥

शंका—तब सब जीव आपका ही भजन क्यों नहीं करते ? इसका उत्तर है, काम के द्वारा अपहृत बुद्धिवाले लौकिकवत् प्रकट व्यवहार से परे भी पुरुषोत्तम को मनुष्यादि भाव से व्यक्त मानकर अन्य लौकिक देवों की या मनुष्यों की भांति ही मानते हैं क्योंकि वे मुझ पुरुषोत्तम की नाशरहित लीला को किन्हीं भाग्यशालियों में प्रकट होकर उनके रस पोषणार्थ समानाकार से लीला रूप को नहीं जानते हैं। कारण यह है कि वे मुझे परं भाव पुरुषोत्तमत्व रूप में नहीं जान पाते। अतः अपनी कामना सिद्धि के लिये अन्य देवों का ही भजन करते हैं। मुझे नहीं भजते ॥२४॥

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥२५॥

ननु मनुष्या विवेकादिसहिताः कथं न त्वां जानन्तीत्यत आह। नाहमिति। अहं सर्वस्य साधारणस्य प्रकाशः प्रकटो न भवामि किन्तु कस्य चिद्भक्तस्यैव। तत्र हेतुमाह। योगमायासमावृत इति। योगार्थमेव या माया अन्तरंगा दासीभूता शक्तिस्तया आवृतो रसार्थमाच्छन्नः। अतो मूढो भक्त्यालोचनादिज्ञानशून्योऽयं परिदृश्यमानो मां पश्यन्नपि स्वरूपज्ञान-रहितो लोकबहिर्दृष्टिर्मामजं जन्मरहितं लीलया प्रकटमव्ययं नित्यं नाभि-जानाति अभितः सर्वभावेन न जानाति ॥२५॥

शंका—मनुष्यों को तो विवेक मिला है अतः वे आपको क्यों नहीं जानते ? उत्तर में कहते हैं—मैं सर्व साधारण को प्रकट नहीं होता, किसी भक्त में ही प्रकाश होता है। क्योंकि योग के लिये जो माया है अर्थात् मेरी अन्तरङ्ग दासी भूत शक्ति है उससे मैं रस प्रदान करने के लिये ढँका रहता हूँ। अतः भक्ति की चक्षु से रहित व्यक्ति देखता हुआ भी स्वरूप ज्ञान से रहित होकर जन्म रहित लीला मात्र को अवतरित होने वाले नित्य विद्यमान मुझको सर्वतोभाव से नहीं जानता ॥२५॥

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन। भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥२६॥

ननु यांस्त्वं स्वसेवार्थं प्रकटीकृतान् पुनः स्वकीयत्वेन न जानासि तदा माया तान् व्यमोहयत्युतान्यथा वेत्याशंक्याह। वेदाहमिति। अहं समतीतानि सेवामकृत्वा नष्टानि वर्त्तमानानि सांप्रतं सेवां कुर्वाणानि भविष्याणि सेवार्थं प्रकटानि यानिभूतानि मत्सत्तया प्रकटानि स्थावरजंगमानि त्रिकाल-वर्तीनि मदीयत्वेन अहं वेद जानामि। तु पुनः मज्ज्ञानानन्तरमपि कश्चन त्रिकालवर्तिषु मां प्रभुत्वेन न वेद। न जानातीत्यर्थः ॥२६॥

शंका—जिन जीवों को आपने अपनी सेवा के लिये प्रकट किया है फिर

उन्हें आप क्यों नहीं जानते ? क्या इस परिस्थिति में ही माया उन्हें आवृत कर लेती है। या अन्य प्रकार से, मैं उन्हें भी जानता हूँ जो सेवा न करके नष्ट हो गये तथा जो वर्तमान में कर रहे हैं तथा जो भविष्य में सेवा के लिये जन्म ग्रहण करेंगे। वे मेरी सत्ता के द्वारा प्रकट हुए हैं, मेरे ही हैं, अतः मैं उन्हें जानता हूँ, किन्तु मेरे ज्ञान के अतिरिक्त वे मेरे त्रिकालवर्ती प्रभुत्व को नहीं जानते ॥२६॥

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत ।
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परंतप ॥२७॥

तर्हि त्वज्ज्ञाने तान् माया कथं मोहयतीत्यत आह। इच्छेति। सर्गे-सृष्टावुत्पत्यनन्तरं इच्छा स्वेष्टवस्तुषु, द्वेषस्तद्विपरीतवस्तुषु ताभ्यां सम्यक् प्रकारेणोत्थितो यो द्वन्द्वमोहः सुखदुःखरूपस्तेन हे भारत! भक्तवंशज! सर्वभूतानि संमोहं यान्ति प्राप्नुवन्ति। भारतेतिसंबोधनेन भारतवत् कस्यचिदेव भक्तस्य न मोहो भवतीतिव्यंजितम्। अत्रायं भावः। मत्क्रीडार्थं सेवार्थं वा ये सृष्टास्तैर्मत्संयोगवियोगसुखदुःखविचार एव कर्त्तव्यो न तु स्वस्वविचारकाणां भगवत्कार्यानुपयुक्तत्वान्मायामोहयतीति भावः ॥२७॥

तुम्हारे ज्ञान में उन्हें माया कैसे मोहित करती है। सृष्टि में जन्मग्रहण के पश्चात् इष्ट पदार्थ में इच्छा, अनिष्ट पदार्थ से द्वेष, इनमें रहने वाला सुख-दुःख रूप द्वन्द्व, मोह, उससे जीव संमोह को प्राप्त हो जाता है। भारत सम्बोधन का आशय है कि राजा भरत की भाँति किसी-किसी को मोह नहीं होता। भाव यह है कि मेरी सेवा के लिये जो उत्पन्न किये हैं वे मेरे संयोग-वियोग सुख-दुःख विचार को कर सकते हैं। अपने-अपने विचार से नहीं। जो भगवत् कार्य में अनुपयुक्त होते हैं उन्हीं को माया मोहित कर लेती है॥२७॥

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥२८॥

ननु ये मोहयुक्तास्तन्मध्ये तत्संगिन एव केचन पूर्वमभजन्तः पश्चात् त्वद्भजनप्रवृत्ताः कथं भवन्तीत्यत आह। येषामिति। येषां दुर्लभानां भाग्यवतां पुण्यकर्मणां मद्दर्शनादिना पुण्याचरणशीलानां महत्सु विनयादियुक्तानाम्। तु पुनः। जनादिक्लेशयुक्तानां पापं मत्स्वरूपज्ञानप्रतिबन्धकं अन्तभावं गतं प्राप्तं नष्टमिति यावत्। ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ताः स्वसुखदुःखादि मोहनिर्मुक्ताः दृढव्रताः दृढसंकल्पाः मदेकनिष्ठाः मां भजन्ते। अत्रायं भावः। पूर्वजन्मकृतं यत्किंचित् पुण्यकर्म तेन जन्मान्तरे प्रवृद्धमाने वाऽनेकजन्मनि वयसः परिपाके पुण्योपचितमरणभयेन तन्निवृत्त्यर्थं मद्भजनप्रवृत्ता भवन्ति। अतएव-

'जन्मान्तरसहस्रेषुं　　तपोज्ञानसमाधिभिः।
नराणां क्षीणपापानां कृष्णेभक्तिः प्रजायते॥'

इति भागवतैरुक्तम्॥२८॥

शंका—जो मोह से युक्त हैं उनके मध्य में उनके संगी ही पहले तो भजन नहीं करते, पश्चात् तुम्हारे भजन में प्रवृत्त होकर कैसे भजन करते हैं। इस पर कहा है—मेरे दर्शन से पुण्य संचय करने वाले बड़े लोगों में विनय रखने वाले अविद्या, अस्मिता आदि पाँच क्लेश मेरे स्वरूप ज्ञान के प्रतिबन्धक हैं, ऐसा जानने वाले द्वन्द्व अर्थात् सुख-दुःख से रहित होकर दृढ़ संकल्प वाले केवल मेरा ही भजन करते हैं। भाव यह है कि पूर्व जन्मकृत पुण्यकर्म से जन्मान्तर में या अवस्था के परिपाक में पुण्योपचित मरण भय से उसकी निवृत्ति के लिये मेरे भजन में प्रवृत्त होते हैं। अतएव ऐसा लिखा भी है कि हजारों जन्म में तपस्या, ज्ञान और समाधि के अनुष्ठान से क्षीण पाप होने पर ही कृष्ण भगवान् में भक्ति उत्पन्न होती है। ऐसा भागवतों ने कहा है॥२८॥

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्॥२९॥

एवं भजनप्रवृत्ता मां जानन्तीत्याह जरामरणेति । जरामरणयोः भगवद्भजनप्रतिबन्धकभगवद्विस्मरणरूपयोर्मोक्षाय निवारणार्थं मामाश्रित्य अनन्यैकचित्तेन ये यतन्ति भजनार्थं यत्नं कुर्वन्ति भजन्ति वा ते तत् परं ब्रह्म पुरुषोत्तमात्मकं विदुः जानन्ति । कृत्स्नं पूर्णमध्यात्मं भजनौपयिकं साधन-रूपं विदुः । च पुनः । कर्म सेवारूपं तत्साधनात्मकमखिलं भावादियुक्तं जनन्तीत्यर्थः ।।२९।।

इस प्रकार मेरे भजन में प्रवृत्त मुझे जानते हैं। वे जरा=वृद्धावस्था तथा मरण को भी भगवद्भजन में बाधक मानकर उनके निवारण के लिये अनन्य मन से मेरा आश्रय ग्रहण कर भजन में प्रवृत्त होते हैं और वे ही पुरुषोत्तमात्मक परं ब्रह्म को जानते हैं। वे सम्पूर्ण रूप में भजन के उपाय को भी जानते हैं और सेवा रूप कर्म के साधन को भी समस्त भावों युक्त जानते हैं ।।२९।।

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञंच ये विदुः ।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ।।३०।।

एवं ज्ञानस्य फलमाह । साधिभूताधिदैवमिति । साधिभूताधिदैवम् अधिभूतेन अधिकरणात्मकेन अधिदैवेन मूलरूपेण सह अधियज्ञेन अंशात्मक-कर्मरूपेण च सहितं ये मां विदुस्ते युक्तचेतसः युक्तं तन्निष्ठं चेतो येषां तादृशा भवन्ति मां प्राप्नुवन्तीत्यर्थः । च पुनः । प्रयाणकाले मरणसमयेऽपि भ्रामादिरहितास्ते मां विदुः जानन्ति मरणकाले स्वज्ञानोक्त्या 'अन्ते या मतिः सा गतिरि'ति वाक्योक्तरीत्या प्राप्नुवन्तीति व्यंजितम् ।।३०।।

भक्तानामेव श्रीकृष्णज्ञानविज्ञानयोग्यता ।
अतोऽत्र ज्ञानविज्ञानयोगं हरिरुवाच हि ।।

इति श्रीभगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन संवादे मय्यासक्त योगो नाम सप्तमोऽध्यायः ।।७।।

इति श्रीभगवद्गीताऽमृततरंगिण्यां सप्तमोऽध्याय ॥७॥

ज्ञान का फल बतलाते हैं। अधिकरणात्मक मूलरूप के साथ अंशात्मक कर्म रूप सहित जो मुझे जानते हैं वे युक्तचेता मुझे प्राप्त करते हैं। मरण समय में भी भ्रमादि से रहित होकर अन्त में 'जैसी मति वैसी गति' इस उक्ति के अनुसार मुझे प्राप्त करते हैं ॥३०॥

श्रीकृष्ण के ज्ञान विज्ञान की योग्यता भक्तों को ही होती है, अतः भगवान् ने इस अध्याय में ज्ञान विज्ञान की योग्यता का निरूपण किया है।

इति श्रीभगवद्गीता उपनिषद् के ब्रह्म विद्या विषयक योगशास्त्र में मय्यासक्त-योग नाम का सातवां अध्याय उसकी अमृततरंगिणी संस्कृत तथा श्रीवरी हिन्दी टीका समाप्त ॥

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

आठवां अध्याय

अर्जुन उवाच

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम ।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥१॥

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन ।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोसि नियतात्मभिः ॥२॥

पूर्वोक्तब्रह्मकर्मादिरूपजिज्ञासुरर्जुनः ।
पृष्टवान् स्पष्टमेतस्य कृष्ण उत्तरमुक्तवान् ॥

पूर्वाध्यायान्ते भगवता 'ते ब्रह्मे'त्यादिना समपदार्थज्ञानमुक्तं भक्तानाम् । तत्स्वरूपजिज्ञासुरर्जुनः प्रभुं विज्ञापयामास । अर्जुन उवाच । किं तद्ब्रह्मेति । द्वयेन । हे पुरुषोत्तम ! तद्ब्रह्म यदुक्तं तत्किम् ? अध्यात्मं किं कर्म ? च पुनः । अधिभूतं किं प्रोक्तं ? च पुनः । अधिदैवं किमुच्यते ? अधियज्ञः यज्ञाधिष्ठाता फलदाता कः ? अत्र उक्तप्रकारेषु कथम् ? केन प्रकारेण ? नियतात्मभिरनन्यैकपरचित्तैर्ज्ञेयोऽसि । हे मधुसूदन ! सर्वानिष्टनिवर्त्तक ! अस्मिन् देहे प्रयाणकाले अन्तकाले कथम् ? केन प्रकारेण ? ज्ञेयोसि । अत्रायं भावः । पुरुषोत्तमेति सम्बोधनेन त्वमेव पुरुषोत्तमः त्वत्तः पराभावात् कथं तद्ब्रह्मेत्युक्तम् ? आधिदैविकं तु त्वत्स्वरूपमेवातस्त्वत्तो-

ऽन्याधिदैवं किम्। अध्यात्मादयस्तु हीना एव तेषां ज्ञान किं प्रयोजनकम्। सेवा च कथं कार्येत्यादि व्यंजितम्। मधुसूदनेति सम्बोधनेन त्वदीयानां मरणादि-भयाभावे तत्समये त्वं कथं स्वज्ञानमुक्तवानितिज्ञापितमितिभाव: ॥१,२॥

पूर्वोक्त ब्रह्मकर्मादि रूप के जानने की इच्छावाले अर्जुन को उत्तर देते हुए भगवान् ने स्पष्ट रूप से कहा। इससे पूर्व अध्याय के अन्त में 'ते ब्रह्म' श्लोक द्वारा भक्तों के अपदार्थ ज्ञान की बात कही।

उस स्वरूप के जिज्ञासु अर्जुन ने पूछा—हे पुरुषोत्तम ! जिस ब्रह्म को आपने बतलाया वह कौन है ? अध्यात्म कैसा कर्म है ? अधिभूत क्या है, तथा अधिदैव किसे कहते हैं ? यज्ञ का अधिष्ठाता फलदाता कौन है ? नियतात्मा लोगों के बुद्धि गम्य किस प्रकार बनते हो। हे सम्पूर्ण अनिष्टों के निवारण करने वाले ! इस देह से मृत्युकाल में किस प्रकार जाने जाते हो। भाव यह है कि पुरुषोत्तम सम्बोधन से सबसे बड़ा पुरुषोत्तम ही हुआ। तब ब्रह्म कौन हैं ? ऐसा प्रश्न किया है। आधिदैविक तो उसका स्वरूप ही है अत: तुम से बढ़कर आधिदैव भी क्या होगा ? अध्यात्म आदि तो हीन हैं उनका यहाँ प्रयोजन ही क्या है ? इससे यह स्पष्ट है कि सेवा भी कैसे होगी। मधुसूदन सम्बोधन से ध्वनित है कि जो आपके हैं उन्हें मरणादि भय होता ही नहीं। उस समय आप अपना ज्ञान कैसे व्यक्त करते हैं ॥२॥

श्रीभगवानुवाच

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥३॥

एतत्प्रश्नोत्तरं साभिप्रायज्ञानार्थं श्रीभगवानुवाच। अक्षरमितित्रयेण। न क्षरति न चलतीत्यक्षरं सदैकरसरूपं पुरुषोत्तमचरणात्मकं भक्तहृदयादचलं गृहात्मकं वा स्थिरं तत्त। परमं पर: पुरुषोत्तमो मीयत अस्मिन्निति परमं

ब्रह्मवृहत् व्यापकं च । स्वभावः स्वस्य भगवतो दास्यादिसेवासिद्धयर्थं जीव-रूपेण भवनम् । अध्यात्मं आत्मानमविकृतं सेवायोग्य देहमधिकृत्य तदनुभवे वर्त्तमानो जीवभावोऽध्यात्मशब्देनोच्यत इत्यर्थः । भूतानां जीवानां भावस्य भगवद्रसरूपस्योद्भवकरः प्रकटकारको यो विसर्गो भगवदर्थद्रव्यादिविनि-योगेन सेवारूपः स कर्मसंज्ञितः क्रियारूपः कर्मशब्दवाच्य इत्यर्थः ॥३॥

इस प्रश्न का उत्तर भगवान् ने साढ़े तीन श्लोकों से दिया है। जो सदा एक रस रहता है वह अक्षर है। वह अक्षर पुरुषोत्तम का चरणात्मक है। भक्त के हृदय से वह कभी चलायमान नहीं होता। परम पर अर्थात् पुरुषोत्तम जिसमें मापा जाय वह परम है और व्यापक होने से ही उसे ब्रह्म कहा गया है। भगवान् की दास्यदि सेवा सिद्धि के लिये जीव रूप से वह उत्पन्न होता है। सेवा योग्य देह को प्राप्त कर उसके अनुभव में वर्त्तमान जीव भाव ही अध्यात्म शब्द से कहा गया है। जीवात्माओं को भगवत् रस को प्रकट करने वाला जो विसर्ग है अर्थात् भगवान् के निमित्त द्रव्यादि का विनियोग है वह क्रिया रूप होता हुआ भी कर्म शब्द के द्वारा वाच्य है ॥३॥

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम् ।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतांवर ॥४॥

एवं ब्रह्माध्यात्मकर्मोत्तराण्युक्त्वाऽधिभूताद्युत्तराण्याह । अधिभूत-मिति । क्षरोभावो विनश्वरो देहो भगवद्विप्रयोगतापाधिक्येन नाशभावयुक्तोऽधिभूतं जीवमात्रमधिकृत्य भवतीति अधिभूतं दास्यार्थमाविर्भावितस्वांशे विप्रयोगतापार्थं प्रकटीक्रियत इति तथोच्यत इतिभावः किंच । हे देहभृतां वर ! मत्सेवौपयिक सामर्थ्ययुक्त ! अत्र जगति देहे देहनिमित्तं सेवौपयिकोपचयार्थम् अधियज्ञः यज्ञादिकर्मात्मकस्तत्प्रवर्तकश्चेत्यर्थः ॥४॥

ब्रह्म अध्यात्म और कर्म का उत्तर देकर अधिभूत का उत्तर देते हैं।

भगवान् के वियोग जनित ताप से विनश्वर देह नाश भाव युक्त हो जाता है और वह जीवमात्र को अधिकार करके होता है। अतः अधिभूत कहा गया है, दास्य के लिये प्रकटित अपने अंश में वियोगताप के लिये ही वह प्रकट किया गया है। इसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं—पुरुष मेरे जीव के हृदय में पुरुषत्व से रसात्मक भाव से है। वही अधिदैव है। उस क्रीड़ात्मक भाव को अधिकार कर होता है। यह सब मूल में स्पष्ट है। हे देहधारियों में श्रेष्ठ ! मेरी सेवा के उपयुक्त सामर्थ्यशील ! इस जगत् में देह के निमित्त सेवा के उपयुक्त अधियज्ञ अर्थात् यज्ञात्मक कर्म और उसका प्रवर्त्तक मैं ही हूँ ॥४॥

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वाकलेवरम् ।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥५॥

प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोसीत्यस्योत्तरमाह अन्तकाल इति। अन्तकाले एतद्देहावसानसमये वा अन्तरूपस्य अन्तिमजन्मनो देहस्य काले नाशसमये प्राप्ते सति मामेव स्मरन् यः प्रयाति देहं मुंचति स कलेवरं मृतदेहं भजनायोग्यं मुक्त्वा मद्भावं सेवोपयिकस्वरूपं याति प्राप्नोति। अत्रार्थे संशयो नास्ति न वर्त्तते । अतः संदेहो न कर्त्तव्य इत्यर्थः। चकारेण शुद्धावस्थादिकं न विचारणीयमिति ज्ञापितम् ॥५॥

प्रयाण काल में कैसे पहचाने जाते हो इसका उत्तर देते हैं। इस देह के अवसान के समय अथवा अन्तिम जन्म के देह के नाश के समय मुझे स्मरण करता हुआ जो देह त्याग करता है वह भजन के अयोग्य शरीर को त्यागकर मेरे भाव को प्राप्त करता है, अर्थात् सेवा के उपयुक्त शरीर को प्राप्त कर लेता है। इस अर्थ में कुछ भी संशय नहीं है। अतः तुम्हें कुछ भी सन्देह नहीं करना चाहिये। चकार से शुद्धावस्था आदि का विचार भी अनावश्यक है। 'एव' पद से यह भी ध्वनित है कि कामना द्वारा अन्य कुछ भी स्मरण करने योग्य नहीं है ॥५॥

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय ! सदा तद्भावभावितः ॥६॥

अन्याऽस्मरणे हेतुमाह यं यमिति । हे कौन्तेय ! तत्स्मरणायोग्य ! यं यं देवतान्तरमपि वा स्वमनोभिलषितजीवस्वरूपं स्मरन् अन्ते कलेवरं त्यजति स तमेव तत्सारूप्यमेति प्राप्नोतीत्यर्थः । अपीति निश्चयार्थे वा । अतएव भरतस्य अन्ते मृगस्मरणे मृगशरीराप्तिः । अयमेवार्थोऽपिशब्देन द्योतितः । यतोऽन्तकाले यत्स्मरणेन म्रियते तमेव प्राप्नोत्यतः साधारण्येनापि मत्स्मरणेन मरणे मत्प्राप्तौ न सन्देह इत्यर्थः । नन्वन्ते वैकल्ये देवतान्तरस्मरणं स्वाभिलषितस्मरणं वा कथं स्यादित्यत आह । सदा तद्भावभावितः । निरन्तरं तद्भावेन भावितो यो भवति स तमेवान्ते स्मरति ॥६॥

अन्य के स्मरण न करने पर हेतु बतलाते हैं—हे कौन्तेय ! अर्थात् उसके स्मरण के अयोग्य ! जिस-जिस देव को या स्वमनोऽभिलषित जीव स्वरूप को स्मरण करता हुआ जो जीव शरीर त्यागता है उस सारूप्य को वह प्राप्त हो जाता है। अपि अर्थात् यह बात निश्चय ही है। उस नियम के अनुसार ही भरत को मृग शरीर का स्मरण करने पर मृग शरीर प्राप्त हुआ था साधारणतः मेरा स्मरण कर मरने वाला निस्सन्देह मुझे प्राप्त होता है। यदि यह शंका हो कि अन्त समय में तो इन्द्रियों में विकलता होती है, अतः देवतान्तर का स्मरण अपने अभीष्ट का स्मरण कैसे होता है ? तो कहते हैं कि—उसके भाव से भावित होकर, अर्थात् निरन्तर जो जिसका स्मरण करता रहता हैं, उसे ही अन्त में वह स्मरण करता है ॥६॥

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युद्धच च ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्य संशयम् ॥७॥

अतः सदा त्वं मद्भावयुक्तो भवेत्याह तस्मादिति । तस्मात् पूर्वोक्तात् कारणात् सर्वेषु कालेषु लौकिकवैदिकक्रियायोग्येषु मय्यर्पितं मनश्चांचल्य-दोषनिवारणार्थं बुद्धिरन्यत्र व्यवसायदोषनिवारणार्थं येन तादृशः सन् मामनुस्मर चिन्तय । अनुस्मरणेन मया कृपया सर्वदा त्वं स्मर्यसे तस्मात्सर्वदा मत्स्मरणफलरूपं भविष्यतीति भावो व्यंजितः । युद्धच च युध्यस्व सद्भाव-नया मदाज्ञया युद्धमपि कुर्वित्यर्थः । एवमनुस्मरणेन असंशयः सदेहरहितः सन् मामेव एष्यसीत्यर्थः । असंशयः अत्र च संदेहो नास्तीति भावः ।।७।।

अतः सदा तुम मेरा आश्रय लेने वाले बनो । लौकिक या वैदिक क्रियाओं द्वारा किसी भी काल में हो, मन की चंचलता को हटा कर अपनी बुद्धि से मेरा ही चिन्तन करो । अनुस्मरण से मेरी कृपा मिलेगी । उससे सदा मेरा स्मरण करोगे । अतः मेरे स्मरण रूप फल की प्राप्ति ही होगी यह भाव है । मेरी आज्ञा से युद्ध भी करो । इस प्रकार निःसन्देह मुझे ही प्राप्त करोगे ।।७।।

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना ।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ।।८।।

अथ तव तु मत्प्राप्तिर्निःसन्दिग्धा साक्षान्मयोपदिष्टत्वात् किंतु मदाज्ञा-व्यतिरेकेणापि येऽनन्यभावेन स्मरन्ति तेऽपि मां प्राप्नुवन्तीत्याह । अभ्यासेति । हे पार्थ ! मद्भक्त ! अभ्यासो भगवत्संगानुशीलनं स एव योग उपायस्तद्युक्तेन नान्यगामिना अन्यत्रोत्तमत्वज्ञानजचांचल्यदोषरहितेन चेतसा दिव्यं क्रीडात्मकं परमं पुरुषं पुरुषोत्तमभावं निर्जितचेतसा अनुचिन्तयन् भगवत्कृतस्मरणानन्तरं चिन्तयन् स्मरन् हे पार्थ ! तमेव याति प्राप्नोतीत्यर्थः । पार्थेतिसम्बोधनेन पृथा-सम्बन्धान्मत्कृतस्मरणानन्तरस्मरणेन यथा त्वं मामाप्नोषीति बोध्यते ।।८।।

भगवान् कहते हैं कि तुझे तो मेरी प्राप्ति निश्चित ही होगी क्योंकि मैंने ही

तुझे उपदेश दिया है, किन्तु मेरी आज्ञा का उल्लंघन करने वाले भी यदि मेरा अनन्यभाव से स्मरण करते हैं तो मुझे प्राप्त करते हैं। हे पार्थ ! मेरे भक्त ! भगवान् के संग का अनुशीलन करते हुए चांचल्य दोष को त्यागकर क्रीडात्मक पुरुषोत्तम भाव को भगवत्कृत स्मरण के अनन्तर चिन्तन करते हुए उसी को प्राप्त हो जाओगे। पृथा से सम्बन्ध के कारण पार्थ यह सम्बोधन है ॥८॥

कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः ।
सर्वस्यधातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥६

प्रयाणकाले मनसाऽचलेन,
भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्
स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥१०॥

चिन्तनीयस्वरूपधर्मानाह द्वाभ्याम् । कविमिति । कविं शब्दार्थरसिकं स्वगुणानुवर्णनश्रवणानन्दसूचितानुग्रहं । पुराणं अनादिसिद्धं सर्वदैकरसम् । अनुशासितारं भावादिधर्मनियन्तारम् । अणोरणीयांसम् अणोः सूक्ष्मात् अणीयांसं सूक्ष्मम् । अयं भावः । सूक्ष्माज्जीवात् सूक्ष्मं जीवभावभावनयोग्यस्वरूपप्राकट्येन तद्हृदि बहिस्तद्दृष्टयादिस्थितियोग्यं । सर्वस्य स्वक्रीडायोग्यस्य भावादिरूपाक्षरादिरूपपदार्थस्य धातारं पोषकम् अचिन्त्यरूपं अलौकिकक्रीडाद्यपरिमेयमहिमानम् । आदित्यवर्णं रसात्मकतापतेजसा सर्वप्रकाशकम् । तमसः परस्तात् प्रकृतेः परस्ताद्वर्त्तमानम् । अत्रायं भावः । भावात्मकप्राप्तभक्तस्वरूपं प्रकटितलीलास्वरूपात् सर्वदा रसात्मकत्वेन वर्तमानमेवं पुरुषं पुरुषोत्तमम् । प्रयाणकाले अन्तकाले मनसा निश्चलेन मनसा सर्वकामरहितेन ।

च पुनः। योगबलेनैव संयोगात्मकभावेनैव भ्रुवोर्मध्ये भाग्यस्थाने सन्तं विद्यमानं योऽनुस्मरेद्भगवत्कृतस्मरणानन्तरं स्वार्थप्रकटज्ञानेन स्मरेत् स तस्मिन्नेव प्राणमावेश्य सम्यक् भावात्मकस्वरूपप्राप्त्या परं पुरुषं पुरुषोत्तमं दिव्यं क्रीडात्मकं उपैति समीपे दास्येन प्राप्नोतीत्यर्थः ॥९-१०॥

चिन्तनीय स्वरूप के धर्मों को बतलाते हैं—कवि=शब्दार्थ रसिक, पुराणम्=अनादि सिद्ध सर्वदा एक रस रहने वाले, अनुशासितारं=भावादि धर्मों के नियन्ता, अणोरणीयांसम्=सूक्ष्मातिसूक्ष्म (अर्थात् सूक्ष्म से सूक्ष्म जीव भाव की भावनायोग्य स्वरूप प्रकट द्वारा हृदय में बाहर की दृष्टि आदि से स्थिति के योग्य) स्वक्रीडा योग्य, भावादि रूप—अक्षरादि रूप पदार्थ के धारक पोषक, अचिन्त्य रूप वाले, अलौकिक क्रीडा आदि अपरिमित महिमावाले आदित्यवर्ण=रसात्मक ताप तेज से सबको प्रकाशित करने वाले तमसः परस्तात्=प्रकृति से परे वर्तमान। भाव यह है कि भावात्मक प्राप्त भक्तस्वरूप, प्रकटित लीला स्वरूप के सर्वदा रसात्मक होने से, वर्तमान पुरुषोत्तम को प्रयाण समय में निश्चल मन से सब कामनाओं का परित्याग करके योग बल द्वारा संयोगात्मक भाव से ही भ्रुकुटि मध्य में भाग्यस्थान पर जो स्मरण करते हैं, भगवद् कृत स्मरण के अनन्तर स्वार्थ प्रकट ज्ञान द्वारा जो स्मरण कहते हैं, वे उसमें ही अपने प्राणों को लगाकर सम्यक भावात्मक स्वरूप की प्राप्ति से परम पुरुष पुरुषोत्तम के दिव्य क्रीडात्मक स्वरूप का सामीप्य—उनका दासत्व प्राप्त करते है ॥९-१०॥

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥११

ननु भक्तियुक्ता अपि तदेव प्राप्नुवन्ति योगयुक्ता अपि च। तदा तयोः को विशेष ? इत्याकांक्षायां तयोः प्राप्यरूपमाह। यदक्षरमिति। वेदविदो वेदान्तज्ञा यत् अक्षरं वदन्ति। यत् वीतरागा विरागिणो यतयः सर्वत्यागादि-प्रयत्नवन्तो विशन्ति यत्रैक्यं प्राप्नुवन्ति। यदिच्छन्तो यत्स्वरूपज्ञानेन

प्राप्तीच्छवः ब्रह्मचर्यमिन्द्रियनिग्रहं गुरुकुले चरन्ति तत्पदं तेषां प्राप्यं ते तुभ्यं संग्रहेण संक्षेपेण ज्ञानार्थं प्रवक्ष्ये कथयिष्यामीत्यर्थः ॥११॥

शंका—भक्ति-युक्त और योग-युक्त दोनों को जब उसकी प्राप्ति है तो इनमें विशेष कौन है ? अतः दोनों का स्वरूप बतलाते हैं। वेदान्त जानने वाले जिसको अक्षर कहते हैं, वीतराग वैराग्यवान् जिसमें ऐक्य प्राप्त करते हैं, जिसको स्वरूप ज्ञान से चाहने वाले गुरुकुल में ब्रह्मचर्य धारण करते हैं उनके द्वारा प्राप्त तत्व संक्षेप से कहता हूं ॥११॥

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुद्ध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ॥१२॥

प्रतिज्ञातस्वरूपमाह द्वाभ्याम्। सर्वद्वाराणीति। सर्वाणि इन्द्रिय-द्वाराणि संयम्य वशीकृत्य लौकिकविषयान्मनो निरुन्धनं कृत्वा मनश्च विकल्पादिधर्मं त्यागेन हृदि निरुध्य मूर्ध्नि भ्रुवोर्मध्ये भाग्यस्थाने प्राणमाधाय आत्मनो योगधारणां आस्थित आश्रितः सन् ॥१२॥

दो श्लोकों से प्रतिज्ञात स्वरूप बतलाते हैं। सम्पूर्ण इन्द्रिय द्वारों को वश में करके लौकिक विषयों से मन को हटाकर तथा विकल्पादि धर्म के परित्याग से मन को हृदय में रोक कर भ्रुकुटियों के मध्य प्राण चढ़ाकर योग धारण करके ॥१२॥

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम् ॥१३॥

ओमिति एकाक्षरं शक्तिद्वयसंबद्धपुरुषवद्वर्णत्रयात्मकमेकं यदक्षरं ब्रह्मवाचकत्वात्तत्स्वरूपत्वाद्वा ब्रह्मात्मकं व्याहरन्नुच्चारयन्मामेवं रूपं प्रकटमनुस्मरन् यो देहं त्यजन् प्रयाति प्रकर्षेण भावात्मतया गच्छति स परमां परो मीयते यया यत्र वा तां गतिं अक्षरात्मिकां याति प्राप्नोतीत्यर्थः ॥१३॥

ओम् इस एकाक्षर को बोलकर—ओम् में तीन अक्षर उसी प्रकार हैं जिस प्रकार दो शक्तियों से सम्बद्ध पुरुष है। यही ओंकार ब्रह्म का वाचक है अथवा तत्स्वरूप है। ब्रह्मात्मक है। इसका उच्चारण कर मेरे रूप का स्मरण करता हुआ जो देह का परित्याग करता है, वह अक्षरात्मिका परमागति को प्राप्त करता है ॥१३॥

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ ! नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥१४॥

एवं योगयुक्तानां स्वांशाक्षरात्मकगतिस्वरूपमुक्त्वा भक्तियुक्तस्य स्वप्राप्तिमाह। अनन्य इति। सततं निरन्तरमव्यवच्छिन्नतया न अन्यस्मिन्लौकिकालौकिकविषये चेतो यस्य तादृशो यो मां नित्यशः प्रत्यहं स्मरति तस्य नित्ययुक्तस्य मम नित्यं संमतस्य योगिनः सकाशादहं सुलभः सुखेन लभ्यः प्राप्यः। पार्थेति सम्बोधनेन यथा त्वन्मातृस्मरणबलेन तव सुलभो जातस्तथेति व्यंजितम् ॥१४॥

इस प्रकार योगयुक्तों को भगवान् के अंश अक्षर की गति प्राप्त होती है। उसे बतलाकर भक्तियुक्त को अपनी प्राप्ति बतलाते है।

जिसका चित्त लौकिक-अलौकिक विषयों में कभी नहीं रमता, ऐसा व्यक्ति यदि मेरा प्रतिदिन स्मरण करता है तो उसे मैं अतिशीघ्र प्राप्त हो जाता हूँ। पार्थ सम्बोधन से यह स्पष्ट किया है कि जैसे तुम्हारी माता के स्मरण से तुम्हें मैं सुलभ हो गया ॥१४॥

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवन्ति महात्मनः संसिद्धिं परमां गताः ॥१५॥

नन्वेवमेव तत्तद्देवोपासकास्तत्तत्सायुज्यं प्राप्नुवन्तीति तत्तच्छास्त्रेषु निगद्यत इति भवत्प्राप्तौ को विशेष ? इत्याकांक्षायां स्वप्राप्तेर्विशेषमाह । मामुपेत्येति । महात्मनो महात्मका भक्ता परमां संसिद्धिं भावरूपां गताः सन्तो मामेकं पुरुषोत्तमं उपेत्य समीपे प्राप्य पुनः दुःखालयं संसारात्मकं अशाश्वतमनित्यं लौकिकं जन्म न प्राप्नुवन्तीत्यर्थः ॥१५॥

शंका—यदि ऐसा ही है तो तत्तत् देवों की उपासना करनेवाले उन देवों की सायुज्य गति प्राप्त कर ही लेंगे। तब फिर आपको प्राप्ति में विशेषता क्या है ? अब भगवान् अपनी प्राप्ति की विशेषता बतलाते हैं—भक्त भावरूपता को प्राप्त कर एक मुझ पुरुषोत्तम को पाकर पुनः दुःख परिपूर्ण संसारात्मक इस अशाश्वत अनित्य लौकिक जन्म को प्राप्त नहीं करते ॥१५॥

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥१६॥

अथान्येषां पुनर्जन्म भवतीत्यर्थः । आब्रह्मेति । आब्रह्मभवनाद् ब्रह्मभवनमभिव्याप्य सर्वे लोकाः पुनरावर्तिनः सर्वे पुनर्जन्मभाजो भवन्ति । मां तु उपेत्य कौन्तेय ! परमस्निग्ध ! परं जन्म न विद्यते न स्यादित्यर्थः । तु शब्देन मन्मार्गे प्रवृत्तस्य इत एव शंका न भवतीति ज्ञापितम् ॥१६॥

अन्य जीवों का तो पुनर्जन्म है, ब्रह्मा के भवन से लेकर समस्त लोक पुनर्जन्म के भाजन हैं। हे परमस्निग्ध ! मुझे प्राप्त कर पुनर्जन्म नहीं होता। तु शब्द से मेरे मार्ग में प्रवृत्त की शंका ही नहीं है ॥१६॥

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः ।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥१७॥

ननु ब्रह्मलोकगतास्तेन सह मुच्यन्ते ।'ब्रह्मणा सह मुच्यन्त' इत्यादिभ्यस्तेऽपि पुनरावृत्तिरहिता भवन्त्येवेत्याशंक्य तेषां तदभावमाह। सहस्रेति। सहस्रयुगपर्यन्तं चतुर्युगसहस्रं पर्यन्तोऽवसानं यस्य तत् ब्रह्मणो यदहर्दिनं तद्ये विदुर्जानन्ति युगसहस्रान्तां चतुर्युगसहस्रं अन्तो यस्यास्तादृशीं रात्रिं ये विदुस्ते अहोरात्रविदः। तत्र कालगणने मनुष्याणां यद्वर्षं तद्देवानामहोरात्रस्तादृगहोरात्रगणितद्वादशवर्षसहस्रेण चतुर्युगं तच्च तद् ब्रह्मणो दिनं तावत्येव रात्रिस्तद्गणनक्रमेण वर्षशतं तद् ब्रह्मणः परमायुरित्युच्यते तदवसाने तत्सहितमुक्तानामक्षरप्राप्तिः परंपरया भवति ॥१७॥

ब्रह्मलोक गये हुए उसी के साथ मुक्त हो जाते हैं। लिखा भी है कि 'ब्रह्म के साथ मुक्त हो जाते हैं।' इत्यादि से पुनरावृत्ति रहित हो जाते हैं। उनका अभाव बतलाते हैं। सहस्र चतुर्युगी तक ब्रह्मा का दिन है। इसे जानने वाले अहोरात्र विद् कहलाते हैं। काल गणना में मनुष्यों का जो वर्ष है, वही देवों का अहोरात्र है। ऐसे द्वादश वर्ष सहस्र से चतुर्युग होगा है। वह ब्रह्मा का दिन है और इतनी ही रात्रि होती है। इस गणना के क्रम से जब सौ वर्ष हो जाते हैं तब ब्रह्मा की परमायु होती है। इस परमायु के पूर्ण होने पर ब्रह्मा के साथ ही मुक्तों की अक्षर प्राप्ति परम्परा से होती है ॥१७॥

अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥१८॥

पुनस्तत्प्रकटसमये तत्सहितानामागमनमित्याह। अव्यक्तादिति। अव्यक्तादक्षराद्भगवच्चरणरूपाद् व्यक्तयः स्थावरजंगमादयः सर्वाः देवादिकीट-

तृणादयः । अहरागमे ब्रह्मादिनोद्गमे प्रभवन्ति उत्पद्यन्ते । तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके अक्षरे राज्यागमे राज्युद्गमे प्रलीयन्ते लीना भवन्तीति तद्विदो जनास्तत्र प्रविशन्तीत्यर्थः ॥ १८ ॥

उसकी उत्पत्ति के समय उसके सहित आगमन का प्रयोजन बतलाते हैं। अक्षर= अर्थात् भगवच्चरण रूप से व्यक्ति स्थावर जंगम आदि समस्त देव-कीट-तृण आदि ब्रह्मा के उद्गम के दिन ही उत्पन्न होते हैं । अव्यक्त संज्ञक अक्षर में रात्रि के आगम में लीन हो जाते हैं और उसके जानने वाले उसमें ही प्रविष्ट हो जाते हैं ॥ १८ ॥

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।

रात्र्यागमेऽवशः पार्थ ! प्रभवत्यहरागमे ॥१९॥

तत्र प्रलीनाश्च पुनरुत्पद्यन्त इत्याह । भूतग्राम इति । स एव पूर्वोक्त एवायंपरिदृश्यमानो मत्सम्बन्धरहितो भूतग्रामश्चराचर समूहो भूत्वा उत्पद्योत्पद्य राज्यागमे दिवसावसाने अवशः परवशः सन प्रलीयते । हे पार्थेति । सावधानः शृण्वित्यर्थः, तथैव अहरागमे दिनागमेऽवश एव प्रभवति उत्पद्यत इत्यर्थः ॥१९॥

प्रलीन हुए पुनः उत्पन्न होते हैं अतः कहते हैं—वही परिदृश्यमान मेरे सम्बन्ध से रहित भूतग्राम चराचर समूह बार-बार उत्पन्न होकर दिन की समाप्ति पर परवश होकर प्रलीन हो जाते हैं। हे पार्थ ! अर्थात् सावधान होकर सुन । दिन के आगमन पर परवश होकर ही वे उत्पन्न हो जाते हैं ॥ १९ ॥

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः ।

यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥२०॥

एवं तेषां पुनरुद्गममुक्त्वा स्वप्राप्तौ तदभावाय स्वस्यानस्वरूपमाह ।

परस्तस्मादिति । तु शब्देन पूर्वस्य परत्वं व्यावर्त्तयति । तस्मात्पूर्वोत्पत्ति-कारणात्मकादन्यो भावः अव्यक्तस्तस्यापि मूलभूतः इत्यर्थः । अव्यक्तात्सनातनः अनादिसिद्धः परः सर्वोत्तम इत्यर्थः । तत्स्वरूपमाह । यः सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु सत्सु न विनश्यति न विकारमाप्नोतीत्यर्थः ॥२०॥

इस प्रकार ब्रह्मलोक में स्थितों का उद्गम बतलाकर अपनी प्राप्ति के लिये जन्मादि के अभाव के लिये स्व स्थान का स्वरूप बतलाते है। तु शब्द से पूर्व और परत्व का व्यावर्तन करते हैं। पूर्वोत्पत्ति कारणात्मक से अन्य भाव अव्यक्त है। उसका भी मूलभूत है। अव्यक्त से सनातन अनादि सिद्ध ही सर्वोत्तम है। उसका स्वरूप बतलाते हैं। जो सम्पूर्ण भूतों के नष्ट होने पर भी नष्ट नहीं होता अर्थात् विकार को प्राप्त नहीं होता ॥२०॥

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥२१॥

एवमव्यक्तपरस्वरूपमुक्त्वा ज्ञानार्थं विशिनष्टि । अव्यक्त इति । अव्यक्तः अप्रकटः ज्ञातुमशक्यो यो भावः स अक्षरः न क्षरति न चलति मच्चरणांशरूप इत्युक्तः । तं अक्षरं वेदादिविदः परमां परस्य अनुमेयां गतिं आहुः । ननु ते तस्य परमगतित्वं कुतो वदन्तीत्याशंक्याह । य प्राप्य न निवर्तन्ते इति । यत्स्थानं प्राप्य न निवर्तन्ते पुनर्जन्मानो न भवन्ति । अतस्तथा वदन्तीत्यर्थः । तथात्वं तस्य स्वसम्बन्धादित्याह । तदिति तदक्षरात्मकं मम परमं उत्कृष्टं धाम गृहमित्यर्थः । मद् गृहत्वात् पुनरावृत्तिर्न भवतीति भावः ॥२१॥

अव्यक्त पर स्वरूप को बतलाकर ज्ञान के लिये व्यक्त किया जाता है।

अव्यक्त=अप्रकट को जाना नहीं जा सकता। वह भाव अक्षर है अर्थात् चलायमान नहीं, मेरे चरण का अंश रूप है। वेदवेत्ता उस अक्षर परम को अनुमेया

गति कहते हैं। वे उसकी परम गति को कहाँ से जानते हैं इस आशंका से कहते हैं, जिस स्थान को प्राप्त कर पुनर्जन्म ग्रहण नहीं करते, अतः वैसा कहते ह। वह अक्षरात्मक ही परम उत्कृष्ट धाम है। मेरा घर होने के कारण पुनरावृत्ति नहीं होती है, यह भाव है ॥२१॥

पुरुषः स परः पार्थ ! भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥२२॥

ननु यद्धामगता न निवर्तन्ते स त्वं कथं प्राप्य इत्याकांक्षायामाह। पुरुष इति। हे पार्थ ! मद्भक्त ! सोऽहं परः पुरुषोत्तमः अनन्यया ऐहिकपारलौकिकयोर्मच्छरणंकरूपया मदितरज्ञानरहितया भक्त्या स्नेहेन लभ्यः प्राप्यः। स कीदृश इत्यत आह। यस्येति। यस्य अन्तःस्थानि भूतानि चराचराणि रमणकारणात्मकानि यस्य मध्ये स्वरूपे तिष्ठन्ति। येन इदं परिदृश्यमानं सर्वं जगत् ततं व्याप्तम्। अत्रायं भावः। लौकिकाः सर्वे क्रीडोपयुक्ता न भवन्ति। आवरणस्थितत्वात् अतस्ते ज्ञानादिना मद्धाम प्राप्य लीनाःसन्त्रैव मुक्ता भवन्तीत्यर्थः। येन क्रीडार्थमाविर्भूतेन तदधिष्ठानत्वादिदं मयि जगद् व्याप्तं सत् ततं विस्तृतं विभातीति भावः ॥२२॥

तुम्हारे धाम में गये हुए के लिये तुम्हारी प्राप्ति कैसे होती है। हे पार्थ ! मेरे भक्त ! मैं ही परम पुरुषोत्तम ऐहिक-पारलौकिक से मेरी शरण को ग्रहण करने वाला मेरे इतर ज्ञान से रहित भक्ति द्वारा स्नेह से ही प्राप्त होता हूँ। वह कैसा है ? उत्तर – जिसके अन्तःकरण में स्थित चराचर भूत जिसके मध्य में स्वरूप से स्थित है, और जिससे परिदृश्यमान सम्पूर्ण जगत व्याप्त है। भाव यह है कि वे सम्पूर्ण लौकिक क्रीडा के उपयुक्त नहीं होते। आवरण में स्थित होने के कारण वे ज्ञानादि के द्वारा मेरे धाम को प्राप्त कर मुझमें लीन होकर मुक्त हो जाते हैं। क्रीडार्थ आविर्भूत यह जगत् मुझमें व्याप्त होकर विस्तृत होता है ॥२२॥

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः।

प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥२३॥

नन्वितो गता य आवर्तन्ते निवर्तन्ते वा ये तेऽत्र कथं ज्ञेया? इत्याशंक्याह। यत्रेति। यत्र काले यस्मिन् काले प्रयाता योगिनः अनावृत्तिं यान्ति प्राप्नुवन्ति। च पुनः। यस्मिन् काले प्रयाता आवृत्तिमेव प्राप्नुवन्ति। हे भरतर्षभ! ज्ञान योग्य कुलोत्पन्न! तं कालं वक्ष्यामि कथयामीत्यर्थः ॥२३॥

शंका—यहाँ से जो गये हैं, वे आते हैं, जाते हैं यह कैसे जाना जाय? जिस काल में गये हुए योगी अनावृत्ति को प्राप्त करते हैं, कुछ गये हुए आवृत्ति को प्राप्त करते हैं। हे भरतर्षभ! ज्ञान योग्य कुल में उत्पन्न! उस काल को बतलाता हूँ। अनावृत्ति ज्ञापक काल स्वरूप बतलाते हैं ॥२३॥

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।

तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥२४॥

तत्र पूर्वमनावृत्तिज्ञापककालस्वरूपमाह। अग्निरिति। अग्निर्ज्योतिः तापयुक्त ज्योतिर्युक्तः। अहः दिवसः। शुक्लः शुक्लपक्षः। षण्मासा उत्तरायणं प्राप्य भवन्ति। तत्र तस्मिन् काले प्रयाता ब्रह्मविदो जना भक्ताः। ब्रह्म भगवत्स्वरूपमनावृत्यात्मकं गच्छन्ति। अत्रायं भावः। आयुर्भोगपूर्णतया कालवशेनोत्तरायणादिविशिष्टकालमृताः सर्व एव न तत् प्राप्नुवन्ति। किन्तु भगवद्भक्ता भीष्मवत् तत्काल आगते भगवन्निष्ठैकतया ये प्राणांस्त्यक्त्वा यातास्ते प्राप्नुवन्तीत्यर्थः। एतज्ज्ञापनार्थैव ब्रह्मविद् इत्युक्तम्। एतदेव तज्ज्ञापकमित्यर्थः ॥२४॥

ताप ज्योति से युक्त दिन शुक्लपक्ष उत्तरायण को प्राप्त कर होते हैं। उस

काल में गये हुए ब्रह्मवेत्ता जन भगवत्स्वरूप को—अनावृत्ति स्वरूप को जाते हैं। भाव यह है कि भोग पूर्ण होने के कारण कालवश से उत्तरायण विशिष्ट काल में मृत हुए सब उसे प्राप्त नहीं करते। किन्तु भगवान् के भक्त भीष्म पितामह की तरह उस काल के आने पर भगवन्निष्ठा से युक्त होने के कारण प्राणों को त्यागकर जो चले गये वे उन्हें प्राप्त करते हैं। इसे बतलाने के लिये ही ब्रह्मविद् कहा है ॥२४॥

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् ।

तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ॥२५॥

आवृत्तिकालरूपमाह । धूम इति धूमस्तापरूपाग्न्यात्मकप्रतिबन्धरूपः रात्रिर्निशा कृष्णः पक्षः एवं षण्मासा दक्षिणायनम् । तत्र योगी सकामः प्रयातः सन् चान्द्रमसं स्वर्गादिसुखं शीतलात्मकं प्राप्य सुखभोगं कृत्वा निवर्तते पुनर्जन्म प्राप्नोतीत्यर्थः ॥२५॥

आवृत्तिकाल निरूपण—तापरूप अग्न्यात्मक प्रतिबन्धरूप धूम तथा रात्रि, कृष्णपक्ष, दक्षिणायन के छः मास इनमें सकाम योगी पहुँचता है तथा स्वर्गादि शीतल सुख प्राप्त कर पुनर्जन्म को प्राप्त कर लेता है ॥२५॥

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।

एकया यात्यनावृत्तिमन्यया वर्त्तते पुनः ॥२६॥

एवं कालस्वरूपद्वयमुक्त्वोपसंहरति । शुक्ल इति । शुक्लकृष्णे पूर्वोक्ता शुक्ला इतरा कृष्णा एते गती ज्ञानप्रकाशकगमनात्मके जगतस्तत्तदधिकारिणः शाश्वते सनातने अनादी मते मन्मत इत्यर्थः । एकया पूर्वोक्तया अनावृत्तिं याति अन्यया कृष्णया पुनः वर्तते आवर्तते । अनेन प्रकारेण गमनादिना स्वरूपमत्रं व ज्ञेयमित्यर्थः ॥२६॥

इस प्रकार दोनों उत्तरायण दक्षिणायन कालों का स्वरूप बतलाकर उपसंहार करते हैं। पूर्वोक्त शुक्लगति तथा कृष्णगति जगत् में सनातन हैं, यह मेरा मत है। शुक्ल गति से अनावृत्ति तथा कृष्णगति से आवृत्ति होती है। इस प्रकार से गमनादि स्वरूप समझना चाहिये ॥२६॥

नैते सृती पार्थ ! जानन् योगी मुह्यति कश्चन् ।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ॥२७॥

एतज्ज्ञानफलं वदन्नुपसंहरति। नैते इति। एते सृती मार्गौ हे पार्थ ! मद्भक्त ! जानन् कश्चन योगी मत्सम्बन्धियोगं बिना केवल योगीभूत्वा न मुह्यति न मोहं प्राप्नोति। स कामी भूत्वा केवलयोगाद्यासक्तो न भवतीत्यर्थः। यत एतज्ज्ञानिनो मोहो न भवति तस्मात् मदुक्तज्ञानयुक्तः सर्वत्र मोहरहितः सर्वेषु कालेषु लौकिकालौकिकेषु पूर्वोक्तेषु वा अर्जुन ! मोक्षजातीयनामयुक्त ! योगयुक्तो मद्योगयुक्तो भवेत्यर्थः ॥२७॥

उस ज्ञान का फल—हे मेरे भक्त अर्जुन ! मेरी भक्ति को त्यागकर केवल योगी पद पाकर कोई व्यक्ति इन दोनों मार्गों में मोह को प्राप्त नहीं करता। सकाम होकर वह केवल योगादि में आसक्त नहीं होता। क्योंकि ऐसे ज्ञानी को मोह नहीं होता। अतः मदुक्त ज्ञान से युक्त हो सर्वत्र मोह रहित होकर सब कालों में, लौकिक-अलौकिकों में मेरे योग वाला बन ॥२७॥

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव,
दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम् ।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा,
योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥२८॥

एवमष्टप्रश्नोत्तरमुक्त्वैतज्ज्ञानयुक्तयोगिनः सर्वकाल प्राप्तिमुक्त्वोप-संहरति । वेदेष्विति । वेदेषु अध्ययनादिभिः । यज्ञेषु यज्ञानुष्ठानादिभिः । तपः-सु परमसंतापेन क्लेशसहनादिभिः । दानेषु तुलापुरुषादिभिर्यत्पुण्यफलं प्रदिष्टं उक्तमिति यावत् । तत्सर्वं फलमिदं समस्ताध्यायार्थं विदित्वा लभ्येति प्राप्नोति ततोऽधिकमपि योगी मद्योगयुक्तः सन् परं मत्सेवारूपं आद्यं सकल-कारणरूपं मच्चरणात्मकं उपैति मत्समीपे प्राप्नोतीति भावः ॥२८॥

इस प्रकार आठ प्रश्नों के उत्तर देकर ज्ञान युक्त योगी को सर्वकाल में प्राप्ति होती है यह बतलाते हुए उपसंहार करते हैं —

वेदों में अध्ययनादि से, यज्ञ अनुष्ठानादि से, परम संताप से, तुला-पुरुष आदि दान से जो फल प्राप्त होता है, वह समस्त फल इस अध्यायार्थ को जानकर मिलता है, उससे भी अधिक मेरे योग से युक्त होकर मेरे चरणात्मक सकल कारण रूप को प्राप्त करता है ॥२८॥

शुद्ध आत्म-भक्ति के द्वारा भक्त पुरुषोत्तम में संयोग प्राप्त कर लेता है । श्रीकृष्णदेव ने यह अष्टम अध्याय में कहा है ।

जीवों को महापुरुष का संयोग जैसे होता है वह कृपा पूर्वक भगवान् श्रीकृष्ण ने अष्टमाध्याय में अर्जुन को बतलाया है ।

इति श्रीभगवद्गीता रूप उपनिषद् के ब्रह्मविद्या विषयक योगशास्त्र के श्रीकृष्णार्जुन संवाद में पुरुषोत्तम योग का आठवां अध्याय, संस्कृत की अमृततरङ्गिणी टीका तथा उसकी श्रीवरी नामक हिन्दी टीका समाप्त हुई ॥ ८ ॥

॥ श्रीकृष्णायनमः ॥

नवम अध्याय

श्रीभगवानुवाच

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥१॥

प्रोवाच कृष्णः कृपया नवमे पाण्डवं प्रति ।
राजविद्याराजगुह्यं योगं स्वैश्वर्यबोधकम् ॥

एवं पूर्वाऽध्याये स्वस्वरूपं भक्त्यैकलभ्यमुक्त्वा भक्तिस्वरूपज्ञानमाह कृष्णः कृपया । इदं त्विति । इदं तु गुह्यतममत्यन्तं गुप्तं भगवद्विषयकभक्त्यात्मकं ज्ञानं विज्ञानसहितमनुभवसहितं भक्तिप्रतिफलनरूपं अनसूयवे=प्रतिक्षणमुत्तरोत्तरमतिकाठिन्यभक्त्यैकलभ्यस्वरूपकथनेऽपि दोषरहितश्रवणैकपरचित्ताय ते तुभ्यं प्रवक्ष्यामि प्रकर्षेण स्वरूपदानसहितं कथयिष्यामीत्यर्थः । यज्ज्ञात्वा यत्स्वरूपं ज्ञात्वा अशुभात् स्वरूपाज्ञानात्मक संसारात् मोहाद्वा मोक्ष्यसे मुक्तो भविष्यसीत्यर्थः । तु शब्देन सर्वेषामकथनीयत्वं ज्ञापितम् । ते इति कथनेन कृपया वक्ष्यामीति व्यंजितम् ॥१॥

नवम अध्याय में कृष्ण ने राजविद्या और राजगुह्य योग को ऐश्वर्य का बोधक बतलाया है । पूर्वाध्याय में भगवान् ने अपने स्वरूप को भक्ति द्वारा ही लभ्य बतलाया है । अब भक्ति-स्वरूप ज्ञान का उपदेश देते हैं । यह भगवद्विषयक ज्ञान अनुभव सहित (भक्ति प्रतिफलन स्वरूप) उत्तरोत्तर अति कठिन भक्त्यैकलभ्य स्वरूप कथन होने पर भी दोष रहित श्रवण मात्र से एक चित्त होने के कारण तुझे स्वरूप दान सहित समझाता हूँ । जिस स्वरूप के जान लेने पर तू अज्ञानात्मक संसार या मोह से मुक्त

हो जायगा। यहाँ तु शब्द यह व्यक्त करता है कि यह ज्ञान सर्व साधारण को सुलभ नहीं है। ते शब्द से ऐसे रहस्यात्मक ज्ञान को कृपा पूर्वक कहूँगा यह व्यंजित होता है ॥१॥

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥२॥

गुह्यतमत्वज्ञापनायोच्यमानस्य सर्वोत्तमत्वमाह । राजविद्येति । इदमुच्यमानं राजविद्या विद्यानां राजा ब्रह्मविद्यात्मकमित्यर्थः । राजगुह्यं गुह्यानां गोप्यानां राजा । विद्यासु मुख्यत्वाद्गोप्येषु मुख्यत्वात् कस्यापि न वक्तव्यमिति भावः । पवित्रं परमपावनमित्यर्थः । उत्तमं सर्वोत्कृष्टं प्रत्यक्षावगमं साक्षात्फलात्मकं दृष्टफलरूपमित्यर्थं । धर्म्यं धर्मोत्पादकं कर्तुं सुसुखं सुखेन कर्तुं योग्यं अव्ययं अविनाशि । यद्वा । अव्ययं कर्तुं स्वसुखं सुसुखं परमसुखमित्यर्थः ॥२॥

श्रीकृष्ण गुह्यतमत्व ज्ञापन के लिये प्रमाण देते हैं। यह कहा गया ब्रह्मविद्यात्मक उपदेश गोपनीय ज्ञानों का भी राजा है। यह सर्व साधारण से कहने योग्य नहीं है। यह परम पवित्र है तथा साक्षात् फलात्मक है। धर्मोत्पादक सुख से किये जाने योग्य तथा अविनाशी है अथवा यही परम सुख है ॥२॥

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परन्तप !
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥ ३ ॥

एवं पूर्वं ते प्रवक्ष्यामीत्यनेन श्रद्दधानाय तुभ्यं कथयामीति प्रतिज्ञाय एतदश्रद्दधानाः संसारं प्राप्नुवन्तीति कथनेनैतस्योत्तमत्वं प्रतिपादयति । अश्रद्दधाना इति । हे परन्तप ! मत्प्रसादात्मकोत्कृष्टतपोयुक्त ! इदं ज्ञानं महावाक्यरूपमश्रद्दधानाः पुरुषाः योगज्ञा अपि अस्य धर्मस्य फलरूपं मां अप्राप्य मृत्युयुक्ते संसारमार्गे निवर्तन्ते परिभ्रमन्ति 'जायस्व म्रियस्वेति' तृतीयमार्गाऽ-

भिनिविष्टा भवन्तीत्यर्थः । अश्रद्दधाना इति कथनेन श्रद्धामात्रेणापि संसाराभावो व्यंजितः ।।३।।

इसमें अश्रद्धा करने वालों को ही संसार की प्राप्ति होती है । हे मेरी कृपा रूपी उत्कृष्ट तप युक्त अर्जुन ! इन मेरे कहे हुए वाक्य रूप ज्ञान में अश्रद्धा करने वाले पुरुष चाहे वे योग ज्ञाता ही क्यों न हों, इस धर्म के फल रूप मुझे न पाकर मृत्यु युक्त इस संसार में जन्म ग्रहण और मृत्यु दोनों के चक्र में फँसे रहते हैं । भाव यह है कि संसार की निवृत्ति भगवान् मे केवल श्रद्धा करने से भी हो जाती है ।।३।।

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ।। ४ ।।

एवं प्रतिज्ञाय तत्स्वरूपं च स्तुत्वा ज्ञानमेवाह द्वाभ्याम् । मयेति । अव्यक्तातिरिक्तेषु लौकिकेन्द्रियाऽगोचरा स्वक्रियेच्छैकदृश्या मूर्तिः स्वरूपं यस्य । वक्ष्यति चाग्रे 'दिव्य ददामि ते चक्षुः', 'भक्त्या त्वनन्यये'त्यादि । एतादृशेन मया इदं जगत् सर्वं जडजंगमात्मकमातृणस्तम्बान्तं सर्ववस्तुषु तत्तत्स्वरूपोऽहमेवास्मि । अव्यक्तत्वात्तया मयैव न ज्ञायते । एवं चेत्सर्वेषु भूतेषु तद्रूपः प्रविष्टो भवानाधिदैविकन्यायेन भविष्यतीत्यत आह मत्स्थानीति । मत्स्वरूपस्थानि सर्वाणि सन्ति सर्वाधारत्वात् । क्रोडेच्छया पृथक् तत्तद्रूपं प्रकटयामीति भावः । अपरिच्छिन्नत्वात् प्रकटमपि जगन्मय्येव तिष्ठति । तेषु न च अहम् । तेषु परिच्छिन्नतया न तिष्ठामीत्यर्थः ।।४।।

इस प्रकार उक्त ज्ञान की प्रशंसा करके दो श्लोकों से ज्ञान फिर कहा है । अर्जुन ! मैं लौकिक इन्द्रियों द्वारा अगोचर हूं । अपनी इच्छा द्वारा ही किसी को दिखलाई पड़ता हूं । यह बात 'दिव्यं ददामि ते चक्षुः' तथा 'भक्त्यात्वनन्यया' श्लोक में कही जायगी । मैंने इस जड़-जंगम जगत् की सृष्टि क्रीडा के लिये ही की है । अथवा मैंने इस जगत् को अपनी अव्यक्त मूर्ति से व्याप्त कर रखा है । तृण से लेकर स्तम्ब पर्यन्त सब वस्तुओं में उन-उन स्वरूपों में मैं ही विद्यमान हूं । अव्यक्त होने के कारण किसी के द्वारा जाना नहीं जाता ।

सम्पूर्ण भूतों में तद्रूप से प्रविष्ट आप आधिदैविक न्याय से होंगे। अतः कहा है कि मेरे स्वरूप स्थानीय सब हैं। क्रीडा की इच्छा से ही तत्तद्रूप प्रकट करता हूं। अपरिच्छिन्न होने के कारण प्रकट हुआ भी जगत् मुझमें ही रहता है, मैं उन-उन पदार्थों में नहीं हूं क्योंकि वे पदार्थ असीमित नहीं हैं ॥४॥

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥ ५ ॥

मत्स्थानि सर्वभूतानीत्युक्त्या भगवतस्ते भिन्ना भविष्यन्तीति ज्ञानेन व्यापकत्वे भ्रमो मा भवत्वित्यत आह। न च मत्स्थानीति। च पुनः। तानि भूतानि जातान्यपि भिन्नतया मत्स्थानि न किंतु मदात्मकान्येवेत्यर्थः। ननु तर्हि कथं भेदप्रतीतिरित्यत आह। पश्य मे योगमैश्वरमिति। मे ऐश्वरं कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थत्वरूपं क्रीडात्मकं योगं पश्य। अयमर्थः। मया क्रीडार्थमभेदेऽपि भेदो बोध्यते। एतदेव विशदयति। भूतभृदिति। भूतानि आधारत्वेन धारयति स्वरमार्थं पोषयतीति भूतभृत्। भूतानि पालयति तथा भावयति स्वभाव भावितानि करोतीति भूतभावनः। एतादृशोऽपि सन् ममात्मा मदात्मस्वरूपं भूतस्थो न भवति। अयं भावः। तेषु क्रीडां कुर्वन्नपि यथा ते क्रीडार्थं सृष्टास्तत्र स्थिताः स्वाभिमानेन भिन्नतया तिष्ठन्ति तथाऽहं न तिष्ठामि ॥५॥

समस्त भूत मुझमें स्थित हैं अतः वे भिन्न हैं ऐसा बोध न हो अतः कहते हैं— भूत उत्पन्न होकर भी मुझ से भिन्न नहीं हैं। फिर यह प्रतीति कैसे होगी, अतः कहा है, मेरे करने न करने अन्यथा करने वाले सामर्थ्य (क्रीडात्मक योग) को देखो। भाव यह है कि मैं क्रीडा के लिये ही अभेद में भेद प्रतीति करा देता हूं। अपने रस के लिये पोषण करने वाला भूतभृत् कहा गया है, वह मैं भूतों का पालक होता हुआ भी मेरी आत्मा भूतों में स्थित नहीं है। भाव यह है कि उनमें क्रीडा करता हुआ भी जैसे वे क्रीडा के लिये रचे हैं, वहां स्थित भी वे अपने अभिमान से भिन्न-से रहते हैं वैसे मैं नहीं रहता ॥५॥

यथाऽऽकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान् ।

तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ।। ६ ।।

तर्हि भवतो व्यापकत्वाज्जीवस्याणुत्वादव्यापकत्वाच्च मत्स्थानीत्याधाराधेयभावः कथमित्यत आह सदृष्टान्तम् । यथेति । यथा सर्वगो महानपि वायुर्नित्यमाकाशस्थितो भवति आकाशेन च न स्पृश्यते । नित्यपदेनाकाश एव सर्वत्र गतियुक्तो भवतीतिव्यंजितम् । तथा सर्वाणि भूतानि सर्वत्रगतियुक्तानि मत्क्रीडेच्छयैव मत्स्थानीत्युपधारय जानीहि । उप=समीपे मत्समीपे धारय पश्येत्यर्थः ।।६।।

शङ्का—आप में और जीव में बहुत अन्तर है । आप व्यापक हैं, जीव अव्यापक है, अणु है, तब आधार आधेय भाव नहीं बन सकता, पर आपने तो कहा है कि वे मेरे आधार पर हैं । इसे दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं कि जैसे सर्वत्र विचरण करने वाला महान् वायु नित्य आकाश में स्थित होते हुए भी आकाश से स्पृष्ट नहीं । उसी प्रकार सम्पूर्ण भूतों की जो सर्वत्र गति है वह मेरी क्रीडेच्छा के कारण है अतः 'मत्स्थानि' कहा गया है । नित्य पद से यह भी ध्वनित है कि आकाश ही सर्वत्र गति युक्त होता है । इसे मेरे समीप देख ।।६।।

सर्वभूतानि कौन्तेय ! प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ।

कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ।। ७ ।।

ननु भगवद्गतानां भवति स्थितानां नाशः कथमित्याशंक्याह । सर्वभूतानीति । हे कौन्तेय! कृपैकपात्र ! कल्पक्षये कल्पसमाप्तौ सर्वभूतानि मामिकांप्रकृतिं स्वरतीच्छारूपां यान्ति । पुनस्तानि कल्पादौ प्रपंचक्रीडेच्छया अहं विसृजामि विशेषेण नीचोच्चप्रकारेण वैचित्र्यार्थं सृजामि ।।७।।

शङ्का — जो आप में ही स्थित हैं, उनका नाश कैसे संभव है ? उत्तर देते हैं कि हे कौन्तेय ! कृपा पात्र ! कल्प की समाप्ति होने पर समस्त भूत मेरी प्रवृत्ति (इच्छा रूप) को प्राप्त करते हैं। उन्हें मैं कल्प के आदि में प्रपंच क्रीडा की इच्छा से ही रच देता हूं। नीच उच्च यह वैचित्र्य मात्र है ॥७॥

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥ ८ ॥

ननु त्वयि लीनानामानन्दनिमग्नानां पुनः सृष्टौ किं तात्पर्यमित्याशंक्याह । प्रकृतिमिति । स्वां प्रकृतिं असाधारणीं रमणात्मिकां अवष्टभ्य अधिष्ठाय रमणभावमंगीकृत्य पुनः पुनः वारं वारं मम क्रीडायोग्यं मद्दर्शनयोग्यं च भूतग्रामं चतुर्विधं कृत्स्नं पूर्णं अवशं मदिच्छाधीनं प्रकृतेर्वशात् क्रीडात्मकस्वरूपवशात् सृजामि । अन्यथा सृष्टानां पूर्वोक्तदूषणं स्यात् स्वक्रीडार्थं सृष्टानामप्यानन्दरूपत्वेतिभावः ॥८॥

शङ्का —जो तुम में लीन हैं, आनन्द में मग्न हैं, उनका सृष्टि में तात्पर्य ही क्या ? अतः कहते हैं कि अपनी रमण स्वरूपिणी असाधारणी प्रकृति को अङ्गीकार कर मेरे क्रीडा योग्य इस भूत ग्राम को, जो चार प्रकार का है और जो सर्वात्मना वश में है,उसे क्रीडात्मक स्वरूप के वश से ही रचता हूं । यदि भूतग्राम स्वक्रीडार्थ रचित न होता तो पूर्वोक्त दोष प्राप्त होता, अतः वह तो आनन्द रूप ही है ॥८॥

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥ ९ ॥

ननु रमणात्मकशक्तिवशसृष्टानि तानि त्वां वशीकृत्य प्रपंचरमणं एवं कथं न स्थापयन्तीत्याशंक्याह । न च मानिति । हे धनंजय ! लौकिकपरवशैकचित्त ! तानि भूतानि उदासीनवत् आसीनं तेषु, परमकृपया कृतार्थीकरणार्थं

तेषु तिष्ठन्तं मां न निबध्नन्ति न वशीकुर्वन्ति । न पुनः । कर्माणि क्रीडात्मकानि च मां न वशीकुर्वन्ति । कुतः । तेषु कर्मसु क्रीडात्मकेष्वपि असक्तं अनासक्तं आत्माऽऽरामत्वात् शक्तिषु रसदानार्थं क्रीडाकरणात् । एतदेवोक्तं —

'रमया प्रार्थ्यमानेन देव्यास्तत्प्रियकाम्यया ।
वैकुण्ठः कल्पितो येन लोको लोकनमस्कृत ॥' इति ॥९॥

शङ्का—यदि रमणात्मक शक्ति वश ही समस्त भूतों की रचना की गई है तो वे तुम्हें वश में करके प्रपंच में ही स्थापित क्यों नहीं करते ?

उत्तर—हे धनंजय=लौकिक परवशीकवित्त ! मैं उन भूतों में उदासीन की भाँति रहता हूँ । उन पर कृपा करना मात्र मेरा लक्ष्य है, अतः उनमें रहते हुए भी वे मुझे वश में नहीं करते । क्रीडात्मक कर्म भी मुझे वश में नहीं करते । क्योंकि उन क्रीडात्मक कर्मों में मेरी आसक्ति ही नहीं है । मैं तो आत्माराम हूं, शक्तियों में रसदान के निमित्त क्रीडा करता हूं । यह बात अन्यत्र भी कही है कि—

देवी लक्ष्मी की प्रार्थना से उसके प्रिय करने के हेतु वैकुण्ठ लोक की रचना की गई जो सम्पूर्ण लोकों द्वारा नमस्कृत है ॥९॥

मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनाऽनेन कौन्तेय ! जगद्विपरिवर्त्तते ॥१०॥

ननूदासीनस्तेषु त्वं चेत्तदा प्रकृतिवशोत्पन्ना जीवाः कथं क्रीडायोग्या भवन्ति कथं वा त्वं कर्त्तेत्याशङ्क्याह । मयेति । मया परिदृश्यमानेन अध्यक्षेण अधिष्ठात्रा सकलकर्त्रा क्रीडाधिष्ठिता सती प्रकृतिः सचराचरं जडजीवसहितं जगत् सूयते जनयति । अनेन क्रीडात्मकेन हेतुना कारणेन जगत् विशेषेण परिवर्त्तते जायते च । अतो योग्या भवन्तीत्यर्थः ॥१०॥

शङ्का—यदि आप उदासीन हैं तो प्रकृति वश उत्पन्न हुए जीव क्रीडा योग्य कैसे ? अथवा उनका कर्तृत्व आप में कैसे घटित होगा ?

उत्तर—मैं इस जगत् का अध्यक्ष हूं, कर्त्ता हूं, मेरे द्वारा प्रेरित इस क्रीडा की अधिष्ठातृ प्रकृति जड़-जीव सहित जगत् को उत्पन्न करती है। क्रीडात्मक कारण से ही जगत् विशेष रूप से उत्पन्न होता है। अतः वे जीव भी क्रीडा की योग्यता प्राप्त कर लेते हैं ॥१०॥

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥११॥

नन्विदं स्वरूपं सर्वाधिष्ठातृ सर्वे कथं न जानन्तीत्यत आह। अवजानन्तीति। द्वयेन। मूढा असुराः केवलमिच्छयैव सृष्टाः, मम भूतमहेश्वरं सर्वाधिष्ठातृ सर्वाधिदैविकरूपं परं भावं पुरुषोत्तमात्मकं अजानन्तो मानुषीं तनुं मायिन स्वाज्ञानेन मां ज्ञात्वा अवजानन्ति अवमन्यन्ते। अत्रायं भावः। पुरुषोत्तमोऽयं येन स्वरूपेण वदति तदेव स्वरूपं ब्रह्मरूपमानन्दमयं तमेव मानुषीं तनुमाश्रितं जानन्ति अज्ञत्वात् ॥११॥

शङ्का—आपके सर्वाध्यक्ष रूप को समस्त जीव नहीं जानते ऐसा क्यों ?

उत्तर—मूढ़ (जिनकी रचना इच्छा से ही की है ऐसे असुर) मुझको समस्त भूतों का ईश्वर पुरुषोत्तम हूं, ऐसा न जानकर, मनुष्य शरीर को पाकर अपने अज्ञान से मुझे न जानकर, मेरा अपमान करते हैं। भाव यह है कि यह पुरुषोत्तम जिस स्वरूप से उपदेश देता है, वही स्वरूप ब्रह्मरूप आनन्दमय है, वही मनुष्य तनु को धारण करता है, ऐसा अज्ञ होने के कारण जानते हैं ॥११॥

मोघाऽशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः ।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥१२॥

तेषां मूढत्वं विशदयति। मोघाशा इति। मोघाशाः मोघं निष्फलं असमर्पितान्नं केवलं देहपोषार्थं अश्नन्ति भक्षयन्तीति तथा। मोघ निष्फल-

मेव। भगवत्सेवातिरिक्तकर्मकर्त्तारः। मोघज्ञानाः। मोघं निष्फलं। मोहक-शास्त्रोक्त भगवत्स्वरूपज्ञानातिरिक्तज्ञानयुक्ताः। विचेतसः अव्यवस्थित मनसः। राक्षसीं स्वदेहपोषणरूपां। च पुनः। आसुरीं परोपद्रवकरणरूपां मोहिनीं मद्विस्मारिकां प्रकृतिमेव मायामेव स्वभावं आश्रिताः। अतएव मां मानुषीं तनुमाश्रितं ज्ञात्वा अवमन्यन्त इति पूर्वेणान्वयः ॥१२॥

उनकी मूढ़ता इस श्लोक में कही है। वे मूढ़ असमर्पित अन्न को खाने वाले, भगवत्सेवा के अतिरिक्त कर्म करने वाले, मोहक शास्त्रोक्त भगवत्स्वरूप ज्ञान के अतिरिक्त ज्ञान से युक्त या केवल अक्षर ज्ञान युक्त, अव्यवस्थित मन वाले, स्वदेह को पुष्ट करने वाली राक्षसी परोपद्रवकरणरूपा आसुरी, मुझे विस्मृत कराने वाली मोहिनी माया स्वभाव को धारण करके मुझे मनुष्य शरीरधारी जानकर ही मेरा अपमान करते हैं ॥१२॥

महात्मानस्तु मां पार्थ ! दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥१३॥

एवमासुराणां स्वाज्ञानमुक्त्वा दैवानां स्वज्ञानमाह। महात्मानस्त्विति। हे पार्थ! भक्तस्वरूपश्रवणैकयोग्य! महात्मानस्तु महान् अहमेव आत्मा येषां ते महात्मानः। तु शब्दः प्रकरणान्तरज्ञापनाय। तदेवाह दैवीं क्रोडात्मिकां देवरूपां वा प्रकृतिं स्वभावं आश्रिताः। अनन्य मनसः। न विद्यते अन्यत्र मद्व्यतिरिक्ते मनो येषां ते मां भूतादिं सकलजगत्कारणं अव्ययं नित्यं यथार्थ-रूपं ज्ञात्वा भजन्ति ॥१३॥

इस प्रकार असुरों का अज्ञान बतलाकर देवों का ज्ञान बतलाते हैं।

हे पार्थ ! भक्तस्वरूप श्रवणैक योग्य ! मैं ही हूं आत्मा जिनकी ऐसे आत्मा वाले, देवरूपा प्रकृति को जानकर अनन्य मन से मुझे ही सकल जगत् का कारण अव्यय नित्य यथार्थ रूप वाला मानकर भजते हैं ॥१३॥

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥१४॥

ते च द्विविधाः, भक्ता ज्ञानिनश्च । तत्र प्रथमं भक्तानां भजनप्रकारमाह । सततमिति । सततं निरन्तर मां कीर्तयन्तः । लीलास्वरूपज्ञानेन श्रीभागवतोक्तप्रकारेण गुणगानं कुर्वन्तः । सर्वत्र मदुत्कर्षं कथयन्तः । यतन्तश्च कीर्तने यत्नादिकं कुर्वाणाः । इन्द्रियनिग्रहं वा कुर्वन्तः । च कारेण श्रवणादिकं ज्ञाप्यते । पुनः कीदृशाः । दृढव्रताः दृढं ऐहिकपारलौकिकमंदेकनिष्ठं मोहशास्त्राद्यपरिभूतं व्रतं निश्चयो येषां तादृशाः । किं च नमस्यन्तश्च 'किमासनं ते गरुडासनाये' त्यादिना परमकाष्ठापन्नवस्तुरूपनमस्कारं कुर्वन्तः स्वदैन्याविर्भावपूर्वकं च कारेण नृत्यादिकमपि कुर्वन्तः । पुनः कीदृशाः । नित्ययुक्ताः सावधानाः मदेकपरचित्ताः । भक्त्या स्नेहेन न तु विहितत्वेन मां उपासते सेवन्त इत्यर्थः ॥१४॥

वे दो प्रकार के हैं--भक्त और ज्ञानी ! भक्तों का भजन क्रम यही है कि वे मेरा भजन अहर्निश करते रहते हैं, लीला स्वरूप ज्ञान से श्री भागवत में कहे गये प्रकार से गुणगान करते हैं । सर्वत्र मेरी प्रशंसा करते हैं । कीर्तन में यत्न करते हैं अथवा इन्द्रियों का निग्रह करते हैं । श्रवणादि करते हैं । उनका व्रत दृढ़ होता है । इस लोक और परलोक में केवल मुझमें ही उनकी निष्ठा होती है । वे मोह शास्त्रों से प्रभावित नहीं होते । 'हे गरुडासन, आपको क्या आसन दें' इस भावना से नमस्कार करते हुए अपने दैन्य भाव को प्रकट करते हुए नृत्यादि करते हैं । वे सावधान रहते हैं, मुझमें ही उनका चित्त होता है और बड़े स्नेह पूर्वक ही वे मेरी सेवा करते हैं ॥ १४ ॥

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते ।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥१५॥

एवं भक्तानां भजनप्रकारमुक्त्वा ज्ञानिनामाह। ज्ञानयज्ञेनेति। अन्ये ज्ञानिनो ज्ञानयज्ञेन चापि ज्ञानात्मकयजनप्रकारेण चापि यजन्तो हृद्येव मां पूजयन्त उपासते भजन्त इत्यर्थः। अपिशब्देन चकारेण च पूर्वोक्तभजनापेक्षया हीनत्वं व्यज्यते। ज्ञानभजने बहवः प्रकाराः सन्ति तानाह। एकत्वेन सोऽहं ब्रह्मास्मीति प्रकारेण पृथक्त्वेन योगेन शरणागमनरीत्या बहुधा सर्वत्र तद्रूपेण विश्वतोमुखं सर्वात्मकं मां एवमनेकप्रकारेण मां उपासते भजन्त इत्यर्थः॥ १५॥

ज्ञानियों का भजन प्रकार यह है कि वे ज्ञानात्मक यजन प्रकार से ही मेरी उपासना करते हैं। 'च' कार शब्द ध्वनित करता है कि यह प्रकार पूर्वोक्त भजन प्रकार से हीन है। ज्ञान भजन में अनेक प्रकार है। 'सोऽहम्' 'ब्रह्मास्मि' आदि एकत्व विधायक तथा योग से शरणागति तथा सर्वत्र आप ही हो 'विश्वतोमुखम्' 'सर्वात्मक' आदि वाक्यों से वह सर्वत्र है इस प्रकार अनेक रूप से मेरा भजन करते हैं॥१५॥

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्॥१६॥

नन्वेकमेव त्वां बहुधा ये भजन्ति ते च ज्ञानिन एव तेषां अज्ञाने ज्ञाने कथं प्रवेश इत्याशंक्य तत्तदात्मकं मां ज्ञात्वैव भजन्तीति ज्ञापनाय स्वस्य सर्वात्मत्वं प्रकटयति। अहं क्रतुरित्यादि। चतुर्भिः। क्रतुः यज्ञाधिष्ठात्री देवता अहम्। आधिदैविकरूपस्तत्फलदातेत्यर्थः। यज्ञो धर्मात्मकोऽग्निहोत्रादिर्यज्ञात्मकोऽहम्। स्वधा पित्रर्थं श्राद्धादि पितृयज्ञरूपोऽहम्। औषधं सकल रोगनिवर्तनात्मकभैषज्यरूपोऽन्नरूपो वा अहम्। मन्त्रः ऋगादिरहम्। आज्यं होमद्रव्यं हविः। अग्निराहवनीयादिः। हुतं होमः॥१६॥

आप एक हैं और ज्ञानी ही आपका भजन करते हैं तो उनका अज्ञान में प्रवेश क्यों होता है। भगवान् इस शङ्का का उत्तर देते हुए कहते हैं कि उन-उन में

मेरा स्वरूप देखकर ही वे भजन करते हैं इसे ज्ञापित करने के लिये चार श्लोकों में सर्वात्मत्व का प्रकटन करते हैं। वे कहते हैं—यज्ञ का अधिष्ठाता देव मैं हूं। आधिदैविक रूप और उसका फलदाता मैं हूं। अग्निहोत्रादि यज्ञ का स्वरूप भी मैं ही हूं। श्राद्धादि द्वारा जो पितृ-यज्ञ किया जाता है वह भी मैं हूँ। सकल रोगों की नाश करने वाली औषधि अथवा अन्न मैं हूँ। ऋगादि मन्त्र, घृत, होम का द्रव्य हवि, आहवनीय अग्नि और हवन भी मैं हूँ ॥१६॥

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ।
वेद्यं पवित्रमोंकारं ऋक्साम यजुरेव च ॥१७॥

किं च। अस्य जगतो मदात्मकस्य अहमेव पिता उत्पादकः। माता योनिः। धाता कर्मफलदाता। पितामहो ब्रह्मा। वेद्यं सर्वज्ञानादिसाधनैर्वेद्यवस्तु। पवित्रं पावनम्। ॐकारं अक्षरात्मकब्रह्मबीजम्। ऋगादिवेदत्रयात्मा ॥१७॥

यह जगत् मेरा ही स्वरूप है। इसका उत्पादक पिता भी मैं हूँ। और इसकी माता अर्थात् योनि, धाता=कर्म फलदाता, पितामह=ब्रह्मा सम्पूर्ण ज्ञानादि द्वारा जानने योग्य, पवित्र, अक्षरात्मक ब्रह्म बीज, ऋग्वेदादि तीनों वेद भी मैं हूँ ॥ १७ ॥

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥१८॥

गतिर्मोक्षादिफलरूपः। भर्त्ता पोषकः। प्रभुः समर्थः सर्वनियन्ता। साक्षी द्रष्टेत्यर्थः। निवासः स्थानं सर्वदेहस्वरूपात्मक इति। शरणं अभयदाता मृत्युप्रभृतिभयरक्षकः। सुहृत् अप्रार्थितहितकर्त्ता। प्रभवः प्रकर्षेण भवत्यस्मादिति जगत्स्रष्टा। प्रलयः प्रकर्षेण लीयतेऽस्मिन्निति लयस्थानम्। स्थानं तिष्ठत्यस्मिन्निति स्थानं सकलाधारः। निधानं निधीयते स्थाप्यतेऽनेनेति

निधानं रक्षक इत्यर्थः । अव्ययं बीजं अविनाशि बीजं मूलकारणमित्यर्थः ॥ १८ ॥

मोक्षादि फल रूप गति, पोषक, सबको नियन्त्रित करने में समर्थ, साक्षी, देह स्वरूपात्मक स्थान, मृत्यु प्रभृति भयों से भी रक्षा करने वाला, बिना प्रार्थना किये हितकारी, जगत रचयिता, लयस्थान, स्थान=सकलाधार, निधान=रक्षक, अविनाशी बीज=मूलकारण मैं हूँ ॥१८॥

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च ।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥१९॥

तपामि रसास्वादनार्थं सर्वेषां तापं करोमि । यदा तपामि तदा वर्षं रसात्मकं निगृह्णामि आकर्षामि स्वस्मिन् स्थापयामि । च पुनः । तद्दानसमये पुनरुत्सृजामि । अमृतं जीवनं अक्षयम् । मृत्युश्च मृत्युरूपः । सत् स्थूलं परिदृश्यमानम् । असत् सूक्ष्मं अदृश्यम् । हे अर्जुन ! एतत्सर्वं पूर्वोक्तं अहमेवेत्यर्थः । एवं बहुधा मामुपासत इति पूर्वेणैव सम्बन्धः ॥ १९॥

रसास्वादन के लिये सबको तापदायी, जब तपता हूँ रसात्मक वर्षा को आकर्षित करता हूँ, दान के समय उसे छोड़कर वर्षा करता हूँ । जीवन-मृत्यु, दृश्यमान—स्थूल, अदृश्य—सूक्ष्म, मैं ही हूँ । हे अर्जुन ! इस प्रकार मेरी उपासना अनेक प्रकार से लोग करते हैं ॥१९॥

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा,
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक—
मश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान् ॥२०॥

एवं बहुप्रकारकं यत्स्वस्वरूपमुक्तं तदज्ञात्वा ते यज्ञादिकमन्यथा कुर्वन्ति सकामास्ते जन्ममरणात्मके संसारे तिष्ठन्तीत्याह द्वाभ्याम्। त्रैविद्या इति। त्रैविद्याः वेदत्रयीनिरूपितकर्मकर्त्तारः। सोमपाः यज्ञशेषामृतपातारः। पूतपापाः कर्मिणां पापसंभवाद्विधूतकल्मषाः। यज्ञैरेव वा विधूतकल्मषाः। मां यज्ञैरिष्ट्वा मदाज्ञारूपत्वेन भक्तिप्रतिबन्धनिवर्तकत्वमज्ञात्वा तत्स्वरूपं चाज्ञात्वा स्वर्गतिं इन्द्रादिलोकं प्रार्थयन्ति ॥२०॥

तीनों वेद के अनुसार कर्म करने वाले, यज्ञावशेष अमृत का पान करने वाले, पाप दूर करने वाले अथवा यज्ञों द्वारा पापों को निवारण करने वाले, मेरी आज्ञा से ही यज्ञों को करके यज्ञ भक्ति के प्रतिबन्धक नहीं हैं—यह जानकर, उसके स्वरूप को न जानकर इन्द्रादि लोकों की प्रार्थना करते हैं ॥२०॥

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना,
गतागतं कामकामा लभन्ते ॥२१॥

ते पुण्यात्मकं सुरेन्द्रलोकमासाद्य प्राप्य दिवि स्वर्गे स्वर्गलोकं विशालं सकलविषयभोगयोग्यं भुक्त्वा भोगेन पुण्ये क्षीणे सति मर्त्यलोकं विशन्ति प्राप्नुवन्तीत्यर्थः। एवं प्रकारेण त्रयीधर्ममिष्टं परित्यज्य कामकामाः सन्तोऽनुप्रपन्नाः गतागतं जन्ममरणात्मकप्रवाहं लभन्ते प्राप्नुवन्तीत्यर्थः ॥२१॥

वे पुण्यात्मक सुरेन्द्रलोक को प्राप्त कर स्वर्गलोक में सकल विषय भोग योग्य वस्तु को भोगकर पुण्यों के क्षीण हो जाने पर मृत्युलोक में आ जाते हैं। इस प्रकार त्रयी धर्म को त्याग कर कामकामी बनकर जन्म-मरणात्मक प्रवाह को प्राप्त करते हैं ॥ २१ ॥

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।

तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥२२॥

अथ ये पूर्वोक्तासंस्वरूपं मदंशत्वयुक्तं ज्ञात्वा सर्वं परित्यज्य मां भजन्ति तेषां सर्वमहमेव करोमि त उत्तमा इति तत्स्वरूपमाह । अनन्या इति । अनन्याः न विद्यते अन्यो लौकिकाऽलौकिकादिषु प्रार्थनीयेन येषां, वा मत्सेवनातिरिक्तं फलं येषा ते तथाभूताः सन्तो मां एकं चिन्तयन्तः सर्वतो मनोनिरोधेन मां स्मरन्तो ये दुर्लभा जनाः जन्मभाजो मत्सेवार्थकजन्मज्ञानवन्तः पर्युपासते परितः सर्वात्मभावेन सेवन्त इत्यर्थः । तेषां नित्याभियुक्तानां नित्यस्वरूपस्य मम सेवनपराणां मम नित्यं अभियुक्तानां समतानां योगं सेवार्थधनादिसम्पत्तिलाभं सेवने मद्योगं वा, क्षेमं तत्पालनं भक्त्युन्मुखीकरणात्मकं मद्भावरूपं वा अहं पुरुषोत्तमः वहामि पालयामीत्यर्थः । वहनोक्त्या तदशक्तौ स्वशक्त्याऽविर्भावेन तत्करोमीति व्यंजितम् ॥२२॥

पूर्व जो स्वरूप बतलाया है वह मेरे ही अंश का बल है । यह जानकर जो सबका परित्याग कर मेरा भजन करते हैं उनका मनोरथ मैं पूर्ण करता हूँ । वे उत्तम हैं, उनका स्वरूप बतलाते हैं ।

जिनको लोक व परलोक में अन्य कुछ भी इच्छित नहीं है, ऐसे अनन्य जन, मेरी सेवा के अतिरिक्त जिन्हें कभी किसी अन्य फल की इच्छा ही नहीं, 'जिन्होंने अपने मन को सब जगह से हटाकर मेरा स्मरण करते हुए मेरी सेवा के लिये ही जन्म ग्रहण किया है वे ऐसा ज्ञान धारण कर मेरी सर्वात्मक भाव से सेवा करते हैं । उन सेवा परायण व्यक्तियों की सेवा के लिये धनादि सम्पत्ति का धारण अथवा सेवन में उद्योग, योगक्षेम = उनका पालन या भक्ति की ओर उन्मुखीकरण (मद्भाव रूप) मैं पुरुषोत्तम ही करता हूँ । वहन का तात्पर्य यह है कि उनकी आसक्ति होने पर अपनी शक्ति से उन्हें शक्ति सम्पन्न बनाता हूँ ॥२२॥

येऽप्यन्यदेवताभक्ता भजन्ते श्रद्धयान्विताः ।

तेऽपि मामेव कौन्तेय ! यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥२३॥

नन्वन्यदेवभजनकर्त्तारोऽपि त्वदंशत्वात् त्वद्भजनमेव कुर्वन्तीति कथं न तेषु त्वत्कृपा तद्भजनं च कथं भोग एव क्षीयत इत्यत आह । येऽपीति येऽपि श्रद्धयाऽन्विताः श्रद्धायुक्तास्तदासक्तत्वधर्मयुक्ता अन्यदेवता यज्ञादिसाधनैस्तदधिष्ठातृरूपेण मदंशाज्ञानेन भजन्ति तेषु मदंशत्वात् मामेव भजन्ति परन्तु मत्स्वरूपाज्ञानादविधिपूर्वकं भजन्त्यतस्तेषां तद्भजनानुरूपं क्षयिष्ण्वेव फलं भवति अहं च न कृपां करोमीत्यर्थः । अतएव स्मृतिष्वविधिकरण निषेधः ।

विधिहीनं भावदुष्टं कृतमश्रद्धया च यत् ।
तद्धरन्त्यसुरास्तस्य मूढस्याऽकृतात्मन ॥ इति ॥ २३ ॥

शङ्का—अन्य देवों की उपासना करने वाले भी तो तुम्हारे ही अंश हैं। अतः तुम्हारा ही भजन तो करते हैं। उन पर आप कृपा क्यों नहीं करते? उनका भोग क्षीण क्यों होता है?

उत्तर—जो श्रद्धालु यज्ञादि साधनों से उनके अधिष्ठाताओं का यजन करते हैं और उनमें मेरा अंश है ऐसा नहीं जानते, वे भी भजन तो मेरा ही करते हैं क्योंकि उन देवों में भी तो मेरा अंश है। परन्तु मेरे स्वरूप के ज्ञान के अभाव में वे अविधि पूर्वक भजते हैं अतः उनको भजन के अनुरूप क्षीण होने वाला ही फल मिलता है, इसीलिये मैं उन पर कृपा नहीं करता। इसीलिये स्मृतियों में बिना विधि के कुछ भी करने का निषेध किया गया है। लिखा भी है कि—विधि से रहित भावना से दूषित अश्रद्धा पूर्वक किया गया मूढ का सुकृत असुरों द्वारा अपहृत हो जाता है ॥२३॥

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥२४॥

विधिहीनरूपमाह । अहमिति । हि निश्चयेन सर्वयज्ञानां भोक्ता तदधिष्ठातृदेवानां मदंशत्वात्तद्रूपेण अहं भोक्ता । चकारेण तद्रूपोऽपि । प्रभुरेव च । फलदाता चेत्यर्थः । एवकारेण द्वितीय चकारेण च सर्वप्रभुत्वेन भोक्तृत्वेपि मदेकांशप्रीणनमेव भवति न तु सर्वप्रभुमत्प्रीतिरितिज्ञापितम् । एतादृशं मां तु पुनस्तत्त्वेन मूलरूपेण न अभितः सर्वप्रकारेण जानन्ति यावान् 'यश्चास्मि यादृश' इति । अतस्ते च्यवन्ति पर्यावर्तन्ते । मत्तो वा च्यवन्ति भ्रश्यन्ति । अत्रायं भावः । भगवदंशदेवताभजनत्वेन यज्ञादिना वा यत्फलं भवति तन्महाप्रभुभजनेन भवति 'मूलनिषेकः शाखायानप्नोति' न्यायेन प्रभुभजने तेऽपि प्रसीदन्ति तद्भजने त एव प्रसीदन्ति तदंशप्राकट्यं च भवेत् । अतएव युधिष्ठिरेण श्रीभागवते—

> 'क्रतुराजेन गोविन्द ! राजसूयेन पावनीः ।
> यक्ष्ये विभूतीर्भवतस्तत्सम्पादय नः प्रभो ॥'

इति विज्ञापितं । तेन भगवदिच्छया भगवद्भजनं कुर्वता तदिच्छां ज्ञात्वा तदंशप्राकट्यं चेतरा तत्प्रीत्यैव कार्यमन्यथा न कार्यमेतदज्ञानात्तत्र ज्ञानाभावः ॥२४॥

यज्ञों के अधिष्ठाता भी मेरे अंश हैं अतः उनमें भी बैठकर मैं यज्ञीय पदार्थों का भोक्ता हूँ और उनका रूप भी हूँ। प्रभु हूँ, फलदाता हूँ। सबका प्रभु होने के कारण भोक्ता होने पर भी मेरे एक अंश का ही प्रीणन होता है। मुझे वह सम्पूर्ण रूप में नहीं जानता। अतः वह नष्ट हो जाता है अथवा मुझसे भ्रष्ट हो जाता है। भाव यह है कि देवता में भगवान् का अंश है,अतः उसके भजन से, यज्ञादि के करने से जो फल होता है वह महाप्रभु के भजन से होता है। एक न्याय है, 'मूल को सींचने से शाखा का सींचना भी हो जाता है। इस न्याय से प्रभु के भजन में

अन्यों का भी भजन हो जाता है और केवल देवता के भजन से उतना भगवदंश ही प्रसन्न होता है जितना देवता में विद्यमान है। अतएव युधिष्ठिर ने भागवत में कहा है कि 'हे गोविन्द ! राजसूय यज्ञ के द्वारा आपकी विभूतियों को तृप्त करना चाहता हूँ अतः आप उसे सम्पादित करें ।' अतः भगवान् की इच्छा से भगवद्-भजन करते हुए उसकी इच्छा को जानकर तदंश प्राकट्य हो (जिस देव का भजन किया है उसका यदि स्फुरण हो) तो उसकी रीति से ही वह कार्य करना चाहिये । अन्यथा तत्वज्ञान के अज्ञान के कारण उसे नहीं करना चाहिये ।।२४।।

यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन् यान्ति पितृव्रताः ।

भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्।।२५।।

ननु स्वरंशाऽज्ञाने यजनकर्त्तारश्च्यवन्ति येषां तु त्वदंशज्ञानेन तद्देवयजनकर्तृत्वं तेषां किं फलमित्यत आह । यान्तीति । देवव्रताः इन्द्रादिषु मदंशज्ञानेन तद्रूपेषु सनियमाः। देवान् तानेव यान्ति प्राप्नुवन्ति । पितृव्रताः श्राद्धादिविधिभिः पितृपूजकाः पितॄन् यान्ति प्राप्नुवन्ति । भूतेज्याः विनायक-दुर्गादिपूजकाः भूतानि तान्येव यान्ति । अत्रायमर्थः । तत्तद्देवान् प्राप्य तत्संगेन परंपरया मां प्राप्नुवन्ति । मद्याजिनः कर्मादिभिस्तदाधिदैविकरूपं मद्यजन-कर्त्तारोऽपि मां प्राप्नुवन्ति । ते परंपरया मां प्राप्नुवन्ति । एते साक्षादिति विशेषः । अपिशब्देन कर्त्तांङ्गत्वेन भजनेऽपि मुक्त्यात्मकस्वप्राप्तिरूपविशेषो व्यजितः ।।२५।।

शङ्का—आपके अंश की बात को न जानकर जो यज्ञादि करते हैं वे तो च्युत हो जाते हैं, किन्तु आपके अंश के ज्ञान को जानकर जो यजन करते हैं उन्हें किस फल की प्राप्ति होती है ?

उत्तर--इन्द्रादि में मेरा अंश जानकर नियम करने वाले उन्हीं को प्राप्त करते हैं, श्राद्धादि विधि से पितृ यजन करने वाले पितरों को प्राप्त करते है, विनायक दुर्गा आदि के पूजक उनको पाते हैं। भाव यह है कि उन-उन देवों को प्राप्त

कर परम्परा द्वारा वे मुझे ही प्राप्त होते हैं। मेरा भजन करने वाले भी मुझे प्राप्त करते हैं। वे परम्परा द्वारा मुझे पा जाते हैं और ये साक्षात्। अपि शब्द द्वारा कर्माङ्ग भजन से भी मुक्त्यात्मक स्वरूप प्राप्ति विशेष रूप से व्यंजित है ॥२५॥

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।

तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥२६॥

भक्तेषु विशेषमाह। पत्रमिति। पत्रं तुलस्यादीनां प्रियरूपम्। पुष्पं अलङ्कारात्मकम्। फलं सामग्रीरूपम्। तोयं सामग्रीभेदरूपं। यो मे मम भक्त्या स्नेहेन ननु विहितत्वेन प्रयच्छति प्रकर्षेण भावात्मकतया समर्पयति। तत् पूर्वोक्तं सर्वं भक्त्युपहृतं स्नेहेन समर्पितं प्रयतात्मनः मदेकपरतया वशीकृतचेतसः। अहं पुरुषोत्तमः। अश्नामि भुंजामीत्यर्थः। अनायासप्राप्त्यर्थं पत्रादिकमुक्तम्। अशनोक्त्या तदङ्गीकारेणाग्रे स्वभोगयोग्यसर्वसामग्रीसंपादनं व्यज्यते। अतएव सुदामार्थं स्वसंपद्दाने पृथुकमुष्टिमङ्गीकृतवान् ॥२६॥

भक्तों का वैशिष्ट्य बतलाते हैं—

जो तुलसी आदि पत्र, अलंकारात्मक पुष्प, सामग्रीरूप फल, सामग्री भेदरूप जल, भावना द्वारा समर्पित करता है, उस स्नेह से समर्पित द्रव्य को मैं पुरुषोत्तम ग्रहण करता हूँ। अनायास प्राप्ति के कारण पत्रादि कहे हैं। 'अश्नामि' क्रिया के द्वारा उसके अङ्गीकार से स्वभोग योग्य सर्वसामग्री सम्पादन व्यक्त है। इसीलिये तो सुदामा के लिये अपनी सम्पत्ति दान के समय तण्डुल की मुष्टि ग्रहण की थी ॥२६॥

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।

यत्तपस्यसि कौन्तेय ! तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥२७॥

यतोऽहं भक्त्युपहृतमंगीकरोम्यतः पूर्वकृतानां कुर्वतां च कर्मणां फलभोगरूपप्रतिबन्धनिवृत्त्यर्थं तत्सर्वं मदर्पितं कुर्वित्याह । यत्करोषीति । यत् लौकिकं वैदिकं करोषि । यत् अश्नासि भुङ्क्षे । यत् जुहोषि होमं करोषि । यत् ददासि दानं करोषि । तत्सर्वं मदर्पणं मत्समर्पितं कुरुष्व । देहादिधर्मान् विवाहपुत्रोत्पत्त्यर्थकामादीन् निद्राजागरणमूत्रपुरीषादिकांस्तानपि भगवत्सेवाद्यर्थंप्रतिबन्धाभावार्थविचारेण कुर्यात् नतु स्वसुखेच्छया । तथा भोजनादिकमपि । तत्र प्रसादजपुष्ट्या सेवार्थबलाप्त्यर्थम् । होमश्च तद्वियोगजदुःखास्ये । दानं च तदीयत्वेन द्रव्यशुद्धया भगवद्विनियोगप्रतिबन्धनिवृत्त्यर्थम् । तपश्च भगवतः कारुण्योदयार्थम् । एवमेतत्सर्वं भगवत्समर्पितं भवति ॥ २७ ॥

अर्जुन ! मैं भक्ति द्वारा प्रदत्त सामग्री अङ्गीकार करता हूँ । अतः पूर्वकृत कर्मों के फल भोग की निवृत्ति के लिये सब कुछ मेरे अर्पित कर ।

"जो भी लौकिक वैदिक कर्म करते हो, जो भोजन करते हो तथा जो हवन करते हो, जो दान देते हो, वे सब मेरे ही अर्पण करो । देहादि के धर्म जैसे 'विवाह' पुत्रोत्पत्ति के हेतु करो, काम का सेवन भी भगवत्सेवार्थ करो, निद्रा, जागरण, मूत्र-पुरीष आदि का त्याग भी अपनी सुख प्राप्ति की बुद्धि से न करो । भोजन भी प्रसाद से उत्पन्न होने वाली पुष्टि से सेवा में बल प्राप्ति की इच्छा से करो । हवन भी उसके वियोगज दुःखमुख में करे । भगवान् के प्रतिबन्धक की निवृत्ति के लिये द्रव्य शुद्धि के लिये दान दे । तपस्या भगवान् में करुणा उत्पन्न करने के लिये करे । इस प्रकार यह सब भगवान् को ही समर्पित होती है ॥ २७ ॥

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः ।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥२८॥

एवं मत्समर्पितेषु तत्कृतबन्धो न भविष्यतीत्याह । शुभाशुभफलैरिति ।

एवं मत्समर्पणेन शुभाशुभफलैः शुभानि शुभपुत्रादीनि । अशुभानि क्लेशदारिद्र्यादीनि यानि कर्मजानि फलानि तैर्मोक्ष्यसे मुक्तो भविष्यसीत्यर्थः । तानि फलानि मत्सेवौपयिकान्येव भविष्यन्तीतिभावः । ततः संन्यासयोगयुक्ताऽऽत्मा संन्यासः कर्मणां मत्समर्पणं तेन यो योगो मद्भक्त्यात्मकस्तेन युक्त आत्मा अन्तःकरणं यस्य तादृशः सन् कर्मबन्धनैर्विमुक्तो मामुपैष्यसि प्राप्स्यसीत्यर्थः ।।२८।।

इस प्रकार समस्त क्रिया मुझे समर्पित करने पर बन्धन कभी नहीं होगा। मुझे समर्पित करने से शुभ पुत्रादि, अशुभ क्रोध-दारिद्र्य आदि कर्म से उत्पन्न होने वाले फलों से मुक्ति हो जाती है। वे फल मेरी सेवा के उपयुक्त बन जाते हैं। तब कर्मों का समर्पण करके मेरी भक्ति से युक्त होकर कर्म-बन्धनों से मुक्त होकर मुझको ही प्राप्त करोगे ।।२८।।

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ।।२९।।

एवं कर्मसमर्पणेन तद्बन्धनिवृत्युक्त्या, असमर्पकाणां च बन्ध एव पर्यवसितस्तेन स्ववैषम्यमाशंक्मानमाह । समोऽहमिति । अहं सर्वभूतेषु समः । न मे द्वेष्यः कोपि । न प्रियः । अत्राय भावः । स्वक्रीडार्थं सर्वभूतानि मया सृष्टान्यतस्तेषु सर्वेष्वहं समः, ये क्रीडार्थकत्वमज्ञात्वाऽन्यथाकर्मादिकर्तारो मयि विषमत्वं कुर्वन्त्यतस्तेषां स्वात्मदोषेणैव बन्धादिकं भवति । ये तु मां भक्त्या स्नेहेन क्रीडारूपं ज्ञात्वा भजन्ति ते स्वभजनात्मकधर्मेण मयि तिष्ठन्ति, तेष्वहं तत्कृतितुष्टस्तिष्ठामि तेन न वैषम्यमितिभावः ।।२९।।

कर्म समर्पण से बन्धन निवृत्ति तथा असमर्पण से बन्धन होता है तो भगवान् में वैषम्य बुद्धि आयेगी । अतः कहते हैं—

मैं सब भूतों के लिये सम हूँ, मेरा न तो कोई शत्रु है और न प्रिय ।

भाव यह है कि अपनी क्रीडा के लिये समस्त भूतों को मैंने ही रचा है अतः मैं सबके लिये सम हूं। जो क्रीडार्थकता के तत्त्व को न जानकर अन्यथा कर्म करते है' मुझमें विषमता की बुद्धि करते है, उनका बन्धन उनके आत्मदोष के कारण ही होता है। जो भक्ति से, स्नेह से, मेरे क्रीडा रूप को जानकर मेरा भजन करते हैं, वे भजनात्मक धर्म से मुझमें ही स्थित रहते हैं। मैं उनमें उनके कर्त्तव्य की तुष्टि से—तुष्ट भाव से रहता हूं. अतः वैषम्य का प्रश्न ही नहीं ॥२६॥

अपिचेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥३०॥

ननु ये त्वां भजन्ति तेषु चेत्त्वं तिष्ठसि कथं तदा ते विषयाद्यभिभूता भवन्तीत्यत आह। अपीति। चेत् सुदुराचारोऽपि, अनन्यभाक् मां भजते स साधुरेव मन्तव्यः। अत्रायं भावः। विषयादिमहापापौघाचरणशीलस्तन्निवृत्तिनिमित्तान्यदेवभजनप्रायश्चित्तादिधर्माज्ञानेन अन्यभजनरहितस्तत्त्यागाशक्तस्त्वत्तुकामः स्वदैन्याविर्भावेन यो मां भजते स साधुरेव मान्यः। त्वयेतिशेषः। अपिचेदित्यनेन तादृशाचारस्यानन्यभजनत्वे दुर्लभत्वं ज्ञापितम्। कुत इत्यत आह। सम्यग्व्यवसितः। स पूर्वोक्तः सम्यगध्यवसायं निश्चयं यतः कृतवान्। यन्मम महापातकनिवारकः श्रीकृष्णं विना नान्य इति। हीति निश्चयार्थम्। अत्र सन्देहो नास्तीत्यर्थः ॥३०॥

यदि यह कहें कि जिनमे आप रहते हैं उनकी विषयात्मिका बुद्धि क्यों होती है। अतः कहा है कि—दुराचारी भी यदि अनन्यता से मेरा भजन करता है तो वह साधु ही है। भाव यह है कि—विषयादि बड़े पापों को आचरित करने वाला, उसकी निवृत्ति के निमित्त अन्य देवों का भजन प्रायश्चित्त नहीं है। इस अज्ञान के कारण अन्य के भजन से रहित भी उस देव को त्यागने में अशक्त हुआ, दैन्य के आविर्भाव से भजन करने वाला भी साधु ही है ऐसा तुझे मानना चाहिये। ऐसा

व्यक्ति अन्य का भजन नहीं करता, वह पहले ही निश्चय कर लेता है कि मेरे पातकों को दूर करने वाले केवल श्रीकृष्ण ही हैं, इसमें सन्देह नहीं है ॥३०॥

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।

कौन्तेय ! प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥३१॥

एवं प्रवृत्तस्य दुराचारादिकं नश्यतीत्याह । क्षिप्रं भवति । क्षिप्रं शीघ्रं धर्मात्मा मत्सेवनयोग्यो भवति, ततः शश्वच्छान्तिं शाश्वतीं शान्तिं मद्रूपां नितरां भावात्मकत्वेन गच्छति प्राप्नोतीत्यर्थः । तस्मात् हे कौन्तेय ! मत्कृपापात्र ! तथादुराचरणशीलेऽपि मद्भक्ते निर्दोषभावेन साधुत्वं मत्वा मद्भक्ते दोषदृष्टिषु प्रतिजानीहि प्रतिज्ञां कुरु यन्मे भक्तो दुराचारादि-दोषेन प्रणश्यति दोषा एव नश्यन्तीत्यर्थः । एवं मद्भक्ताधिक्यवर्णनेनाहं तुष्टो भविष्यामीतिभावः ॥३१॥

इस प्रकार प्रवृत्त हुए व्यक्ति के दुराचार आदि नष्ट हो जाते हैं, शीघ्र ही वह धर्मात्मा मेरे पास सेवा करने का अधिकारी हो जाता है। इसके अनन्तर मेरी रूप भूत शान्ति को प्राप्त करता है।

हे कौन्तेय ! मेरी कृपा के पात्र ! इस प्रकार के दुराचारी मेरे भक्त को निर्दोष भाव से साधु मानकर प्रतिज्ञा करलो कि मेरा भक्त दुराचार आदि दोषों से नष्ट नहीं होता, बल्कि उसके दुराचार ही नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार अपने भक्त के वैशिष्ट्य से मैं प्रसन्न होता हूँ ॥३१॥

मां हि पार्थ ! व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।

स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥३२॥

नन्वेव भक्ते हीनाधिकारित्वं स्यादित्यत आह । मां हीति । हे पार्थ ! मातृसम्बन्धेनोत्पन्नभक्तिरूप ! हीति निश्चयेन मां व्यपाश्रित्य विशेषेण आश्रित्य संसेव्य ये पापयोनयोऽपि स्युः नीचयोनयः अन्त्यजादयो म्लेच्छादयश्च स्त्रियः परतन्त्रैकयोनयो, वैश्याः केवलं कृष्यादिपरा उदरम्भराः, तथा शूद्राः शोकेन द्रवीभूता अनुपदेश्यास्तेऽपि परां गतिं मोक्षं सायुज्यं यान्ति प्राप्नुवन्तीत्यर्थः । तत्र ये इतिपदेन स्वसेवार्थोत्पादिताऽतिरिक्ता इति ज्ञापितम् ॥ ३२ ॥

शङ्का—इस प्रकार भक्त में हीन अधिकारित्व आ जायगा, अतः कहते हैं— हे पार्थ ! मातृ सम्बन्ध से उत्पन्न भक्तिरूप ! मेरा आश्रय लेकर पाप-योनि म्लेच्छ आदि, परतन्त्रैक योनि स्त्री, कृषि आदि में परायण उदर पोषक वैश्य, शोक से द्रवीभूत होने वाले शूद्र उपदेश के योग्य नहीं हैं तथापि वे भी सायुज्य प्राप्त करते हैं । यहाँ ये शब्द से जो स्वसेवा के लिये उत्पन्न हुए हैं उनसे अतिरिक्त की सूचना दी गई है ॥३२॥

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥३३॥

यत्र हीनाधिकारिणः परमां गतिं प्राप्नुवन्ति तत्रोत्तमाधिकारिणां किं वक्तव्यमित्याह । किं पुनरिति । पुण्याः वेदोक्तमत्स्वरूपज्ञानार्थं पूर्वं वेदाध्ययनकारिणो ब्राह्मणाः, तथा पुण्यधर्मादिकरणेन प्रजाप्रतिपालकाः राजर्षयः राजानः क्षत्रिया भूत्वा ऋषयः ब्रह्मकर्मनिष्ठा उत्तमाधिकारिणो भक्ताः सन्तः परां गतिं प्राप्नुवन्तीति किं पुनर्वक्तव्यम् । तेषां तु साक्षाद्भजनौपयिकत्वमेव भवतीति भावः । एतेन उत्तमाधिकारिणां तु भवत्येव यत्र हीनाधिकारिणामपि भवतीत्यनेन "अधिकं तत्रानुप्रविष्टं नतु तद्धानिरित्ययं" न्यायः प्रदर्शितः । ऐतेनोत्तमानामेतदभावे हीनत्वमेवेति व्यजितम् । यत उत्तमाधिकारिणामावश्यकमतस्तव क्षत्रियत्वात् स्वधर्मनिष्ठत्वाद् भक्तपुत्रत्वाच्चोत्तमाधिकारित्वेना-

वश्यं कर्त्तव्यमित्याह । अनित्यमिति । इमं लोकमधिकरणं देहं प्राप्य अनित्यं असुखं संसारं त्यक्त्वा ज्ञात्वा वेतिशेषः, मां भजस्व ॥३३॥

हीनाधिकारियों की उत्तम गति कही, फिर उत्तम अधिकारियों की महिमा का तो कथन ही क्या है ?

वेदोक्त मेरे स्वरूप के ज्ञान के लिये वेदाध्ययन परायण ब्राह्मण, पुण्य धर्मादि करने से प्रजापालक राजर्षि, ब्रह्मकर्म में निष्ठ उत्तमाधिकारी भक्त परमगति प्राप्त करते ही हैं । वे साक्षात् भजन के उपयोगी हैं । यहां यह न्याय दिखलाया है कि—'जो वहां अधिक अनुप्रविष्ट है उसकी हानि नहीं है ।' उत्तमों में इसके अभाव में हीनत्व ही है, यह व्यङ्ग्य है । उत्तम अधिकारी होने के कारण, क्षत्रिय होने के कारण स्वधर्म में निष्ठा, भक्त पुत्र होने के कारण उत्तमाधिकारित्व से अवश्य करना चाहिये, अतः कहा है—इस देह को प्राप्त कर अनित्य दुःखपूर्ण संसार का परित्याग कर या जानकर मेरा भजन कर ॥३३॥

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।

मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥३४॥

भजने प्रकारमाह । मन्मना इति । मय्येव मनो यस्य तादृशो भूत्वा मद्भक्तो मयि स्नेहयुक्तश्च सन् मद्याजी मत्पूजकः परिचर्याकरणशीलो मां नमस्कुरु । मनोनिवेशनेन मनोभजनमुक्तम् । पूजनेन कायिकम् । नमनोक्त्या वाचिकम् । ततः कायवाङ्मनोभिर्भजनं कुर्वित्युक्तम् । एवं मत्परायणः सन् आत्मानं मयि युक्त्वा युक्तं कृत्वा अवश्य मामेव पुरुषोत्तमम् । एष्यसि प्राप्स्यसि । एवकारेणाक्षरांशादिप्राप्तिर्निवारिता ॥३४॥

एवं स्वभक्तिमाहात्म्यं भजनार्थं ससाधनम् ।
प्रोवाच नवमेऽध्याये श्रीकृष्णो ह्यर्जुनाय तु ॥

इति श्रीभगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-संवादे भक्तियोगो नाम नवमोऽध्यायः ॥९॥

इति श्रीभगवद्गीताऽमृततरंगिण्यां नवमोऽध्यायः ॥९॥

भजन का मार्ग—मुझ में मन लगाकर, मुझसे स्नेह कर, पूजा कर, नमस्कार कर। यहां मनोनिवेशन से मन का भजन बतलाया है तथा पूजन से कायिक, नमन से वाचिक भजन कहा है। काया-वाणी और मन से भजन कर। मुझ में लीन होकर मुझमें अपनी आत्मा को युक्त कर अवश्य मुझ पुरुषोत्तम को प्राप्त कर लेगा। एवकार शब्द से अक्षरांशादि की निवृत्ति कही गई है ॥२४॥

का०—नवमाध्याय में कृष्ण ने अर्जुन को साधन सहित भक्ति का माहात्म्य भजन के हेतु वर्णित किया है।

श्रीभगवद्गीता रूप उपनिषद् के ब्रह्मविद्या विषयक योगशास्त्र के श्रीकृष्णार्जुन संवाद में भक्ति योग का नवम अध्याय, संस्कृत की अमृततरङ्गिणी टीका तथा उसकी श्रीवरी नामक हिन्दी टीका समाप्त हुई ॥९॥

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

दशम अध्याय

श्रीभगवानुवाच

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः ।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥१॥

नवमे भक्तिरूपं यदुक्तं तत्सिद्धये हरिः ।
स्वविभूतिस्वरूपं च कृपया दशमेऽब्रवीत् ॥

पूर्वाध्याये सर्वकर्मसमर्पणमुक्तं ततश्च भक्तिकरणमाज्ञप्तं । तच्च स्वरूपाज्ञानेन कृतमप्यकृतप्रायमिति स्वरूपज्ञानार्थं स्वस्वरूपं स्वविभूतिरूपं वदन् पार्थं श्रवणार्थं सावधानतया सन्मुखीकुर्वन् प्रतिजानीते । श्रीभगवानुवाच । भूय एवेति । हे महाबाहो ! भजनोपयिककृपाशक्तिमन् ! भूय एव पुनरपि मम वचनश्रवणेन प्रीयमाणाय परमानन्दं प्राप्नुवन्ते ते हितकाम्यया यदहं वक्ष्यामि तत् परमं परो मीयते ज्ञायतेऽनेनेति परमार्थरूपमुत्कृष्टं मे वचः शृणु ! प्रीयमाणायेति पदेनान्येभ्योऽवक्तव्यत्वं गोप्यत्वं च ज्ञापितम् । हितकाम्ययेतिपदेन परमकृपा दर्शिता ॥१॥

कारिका—भगवान् हरि ने नवमाध्याय में भक्तिरूप को बतलाया था, अब उसकी सिद्धि के लिये विभूति स्वरूप को बतलाते हैं। पूर्वाध्याय में सर्व कर्म समर्पण तथा भक्तिकरण बतलाया था, उस स्वरूप को बिना जाने कृत भी अकृतप्राय है। अतः स्वरूप ज्ञानार्थ अपनी विभूतियों को बतलाते हुए अर्जुन को सावधान किया है। वे कहते है—हे महाबाहो ! भजनोपयोगी कृपाशक्तिधारक ! मेरे वचनों से आनन्द प्राप्त करने वाले, तुझे हित की कामना से पुनः उपदेश देता हूँ, उसे

सावधानी पूर्वक सुन। प्रीयमाण पद यह व्यक्त कर रहा है कि यह ज्ञान योग्य है। 'हितकाम्यया' पद द्वारा अपनी कृपा भी प्रदर्शित की है ॥१॥

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः ।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ॥२॥

अथ स्वकृपां विना अस्योक्तस्वस्वरूपस्यातिदुर्ज्ञेयत्वेन दुर्लभत्वमाह। न मे इति। मे मम प्रभवं प्रकृष्टं भवं जन्म प्रादुर्भावमिति यावत् सुरगणा ब्रह्मेन्द्रादयः, महर्षयो भृग्वादयो न विदुः न जानन्ति। अहं देवानां ब्रह्मादीनां सर्वशः सर्वप्रकारैः आधिदैविकत्वेन देवत्वेन च आदिः मूलभूतः। च पुनस्तथैव महर्षीणाम्। हीति निश्चयेन सन्देहाभावार्थं देवत्वाद् ऋषित्वात् स्वमूलभूतत्वेन ज्ञानमावश्यकं तथापि भूभारहरणार्थं स्वरक्षार्थं धर्मरक्षार्थं प्रादुर्भावं जानन्ति परं यदर्थं यद्रूपश्च प्रादुर्भावस्तं मत्कृपां विना न जानन्तीति भावः ॥२॥

भगवान् की कृपा के बिना यह ज्ञान अत्यन्त दुर्लभ है, अतः कहा है कि— मेरे जन्म को ब्रह्मा, इन्द्र आदि देव, भृगु आदि महर्षि भी नहीं जानते। मैं ब्रह्मादि देवों से भी पुरातन हूँ, उनका मूलभूत हूँ। और महर्षियों का भी। वे लोग भू भार हरणार्थ, स्वरक्षार्थ, धर्म रक्षार्थ मेरा प्रादुर्भाव जानते हैं, परन्तु भक्तियोग प्रसारार्थ जो मेरा रूप है उसे मेरी कृपा के बिना नहीं जान सकते ॥२॥

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥३॥

एवं स्वकृपां विना स्वाज्ञानात् देवानां देवत्वमपि जातं व्यर्थमेवेत्युक्त्वा स्वकृपया ज्ञानेन मनुष्याणामप्युत्तमत्वं भवतीत्याह। यो मामजमिति। यो मां मनुष्येषु च अजं जन्मादिदोषरहितं, अनादिं, लीलादिभिर्नित्यमेवं-

भूतमेव लोकमहेश्वरं लोकानां परमेश्वरं कर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थम् । असंमूढः प्रमादरहितः सन् जानाति स सर्वपापैः मद्भक्तिप्रतिबन्धरूपैः प्रमुच्यते प्रकर्षेण मुच्यते मनुष्यभावरहितो देवरूपो भवतीत्यर्थः ॥३॥

बिना भगवान् की कृपा के देवों का देवत्व भी व्यर्थ है और कृपापात्र मनुष्यत्व भी श्रेष्ठ है। अतः कहा है—मुझे मनुष्यों में जो जन्मादि दोष रहित, अनादि, लीला द्वारा नित्यभूत, लोक महेश्वर परमेश्वर, कर्तुं अन्यथाकर्तुं समर्थ जानता है वह प्रमाद रहित व्यक्ति मेरी भक्ति में आने वाले प्रतिबन्धों से मुक्त हो जाता है। अर्थात् मनुष्य भाव को परित्याग कर देवरूप हो जाता है ॥३॥

बुद्धिर्ज्ञानमसम्मोहः क्षमा सत्यं दमः शमः ।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च ॥४॥

एवं ये जानन्ति तेषामन्येषामजानतां च सर्वेश्वरत्वात् मत्त एव नानाविधा भावास्तत्तज्ज्ञानानुरूपा भवन्तीत्याह द्वयेन । बुद्धिर्ज्ञानमसम्मोह इति । बुद्धिः धर्मज्ञानकौशलं, ज्ञानं स्वरूपात्मकं, असम्मोहो मायाविलासेषु, क्षमा दुष्टादिकृतिसहिष्णुता, सत्य आपदादिष्वपि यथार्थभाषणं, दम इन्द्रियनिग्रहः, शमः परमानन्दाप्तिरूपा शान्तिः, सुखं मद्भावानन्दरूपं, दुःखं आनन्दतिरोधानात्मकं, भवः संसारात्मकः, अभावो नाशः, भयं मृत्युकालादीनां, चकारेण यमयातनादयः, अभयं मच्चरणाप्त्या कालादिभयाभावः ॥४॥

जो मुझे इस प्रकार जानते हैं, उनमें सर्वेश्वर होने के कारण मुझसे ही अनेक प्रकार के ज्ञानानुरूप भाव होते हैं। इसे वे दो श्लोकों से स्पष्ट करते हैं—धर्म ज्ञान कौशल बुद्धि, स्वरूपात्मक ज्ञान, मायाविलास में मोहाभाव, दुष्टकृत सहिष्णुता, क्षमा, आपत्ति में भी यथार्थ भाषणरूप सत्य, इन्द्रिय-निग्रह वाला दम, परमानन्द प्राप्तिरूप शान्ति वाला शम, मेरे भाव का आनन्दरूप सुख, आनन्दतिरोधानात्मक दुःख, संसारात्मक भव, अभाव रूप नाश, मृत्युकालादि जनित भय,

चकार से भयाभाव आदि, मेरे चरणों को प्राप्त कर कालादि के भय का अभाव वाला अभय ॥४॥

अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः ।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥५॥

अहिंसा दयात्मिका, समता सर्वत्र मद्भावः, तुष्टिः सदामद्भावसन्तोषः, तपो मदर्थक्लेशसहनं, दानं मदुपदेशादीनां, यशो मत्सेवकत्वेन् सत्कीर्तिः, अयशो दुष्टत्वादिलक्षणात्मिकाऽपकीर्त्तिः, भूतानाम् एते भावाः पृथग्विधाः भिन्नाः मत्कृपाविशिष्टमज्ञानवतां बुद्ध्यादयः सर्वे भवन्ति । अन्येषामयशः सहितदुःखादिचतुष्टया भावा भवन्तीतिभावः ॥५॥

दयात्मिका अहिंसा, सर्वत्र मद्भाव वाली समता, मद्भाव सन्तोष वाली तुष्टि, मेरे लिये कष्ट सहन रूप तप, मेरे उपदेशों का दान, मेरी सेवा करने से उपलब्ध कीर्ति रूप यश, अपकीर्ति रूप अयश आदि भाव भिन्न-भिन्न ज्ञान वालों की बुद्धि में होते हैं, परन्तु उन पर मेरी कृपा होना आवश्यक है। जो मेरी दया रहित हैं, उनको दुःख, भव—अभाव—भय सहित अयश ही मिलता है ॥५॥

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥६॥

ननु कृष्यादिप्रयुक्तधर्माचरणादिभिः सर्वेषां तत्तत्फलरूपा भावा भवन्ति तत्कथं भवत एवेत्याकांक्षायामाह । महर्षय इति । महर्षयः सप्त भृग्वादयस्ततः पूर्वे अन्ये चत्वारो महर्षयस्तथा स्वायंभुवादयो मनवः, हिरण्यगर्भात्मनो मम मानसा मद्भावा मदीयोऽनुभावो मत्क्रीडार्थरूपो येषु तादृशा जाताः । येषां लोके इमाः प्रजास्तदुक्तप्रवर्तमाना भवन्तीत्यर्थः । अतोऽपि मत्त एव भवन्तीतिभावः ॥६॥

शङ्का— ऋषि आदि भी धर्माचरण में हैं और उनसे तत्तत् फल रूप भाव भी होते हैं तो आप से ही क्यों होते हैं ? कहते हैं—भृगु आदि सात महर्षि अन्य चार ऋषि तथा स्वायंभुव आदि मनु, हिरण्यगर्भात्म मेरे ही मानस-भाव से, मेरी ही क्रीडा के लिये उत्पन्न हुए हैं। लोक की प्रजा के प्रवर्तक भी वही हैं। ये सब मुझसे ही हैं ॥६॥

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः ।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ॥७॥

एतन्निरूपणप्रयोजनमाह। एतामिति। एतां मदनुभावरूपां भृग्वादि-लक्षणां तां मम विभूतिं क्रीडार्थकप्रकटितां। च पुनः क्रीडार्थप्रकटित-सामग्र्या मम योगं तत्त्वतः मल्लीलारूपेण यो वेत्ति सः, अविकम्पेन निश्चलेन मद्वियोगादिरहितेन योगेन मत्संयोगेन भक्तिरूपेण युज्यते युक्तो भवतीत्यर्थः। नात्र संशयः, अत्र सन्देहो नास्तीत्यर्थः। अनेन संदेहे सति न भवतीति ज्ञापितम् ॥७॥

निरूपण का प्रयोजन बतलाते हैं—इस भृगु आदि वाली विभूति को जिसे मैंने क्रीडार्थ प्रकट किया है, क्रीडार्थ प्रकटित मेरी सामग्री से युक्त करके जो तत्वतः जानता है, वह निश्चय ही मेरे संयोग रूप भक्ति रूप को प्राप्त करता है। इसमें संशय नहीं है। सन्देह होने पर यह भाव नहीं होता ॥७॥

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥८॥

एवंज्ञानिनो भक्तियुक्तत्वं विशदयति। अहमिति। चतुर्भिः। अहं सर्वस्य जगतः प्रभवः उत्पत्तिस्थानं, सर्वं जगत् मत्तः 'बुद्धिर्ज्ञानि'त्यादिरीत्या भृग्वाद्युक्तधर्मादिरीत्या च प्रवर्तते मत्क्रीडार्थकभावयुक्तं भवतीत्यर्थः।

भावसमन्विताः मत्सेवनैकप्रयत्नवन्तः सन्तो बुधाः पण्डिता विवेकिनः इति= अमुना प्रकारेण क्रीडात्मकतया प्रकटीभूतरूपं मां भजन्ते सेवन्ते ॥८॥

इस प्रकार ज्ञानी की भक्तियुक्तता चार श्लोकों से दिखलाते हैं। मैं इस सम्पूर्ण जगत् का उत्पत्ति स्थान हूँ, यह सम्पूर्ण जगत् बुद्धि ज्ञान इत्यादि रीति से, भृगु आदि उक्त धर्मादि रीति से प्रवृत्त होता है। मेरे क्रीडार्थक भाव से युक्त होता है, यह अर्थ है। भाव समन्वित मेरी सेवा से ही प्रयत्नशील पण्डित लोग इस प्रकार क्रीडात्मकता से प्रकटीभूत रूप वाले मुझको भजते हैं ॥८॥

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥९॥

भजने प्रकारमाह। मच्चित्ता इति। मय्येव चित्तं येषां ते मच्चिन्तनपराः। लीलावस्थमत्स्वरूपविचारणपराः। मद्गतप्राणाः मय्येव गताः प्राप्ताः प्राणा येषां ते, मद्दुःखदुखिता मत्सुखसुखिता इत्यर्थः। तादृशाः सन्तः परस्परं तादृशानेव मामेतादृशं स्वानुभवप्रमाणादिभिर्बोधयन्तस्तदनुकथयन्तः कीर्तनरीत्या कीर्तयन्तः। चकारेणाऽन्यकीर्त्तनं शृण्वन्तः। च पुनः। तद्भाने सति तुष्यन्ति ज्ञानेन वा रमन्ते च। स्वयं कीर्त्तनेनानन्दयुक्ता भवन्ति रमन्ते वा। तोषमानन्दं च प्राप्नुवन्तीतिभावः। यद्वा मां विप्रयोगादिलीलावस्थासु नित्यं कथयन्तः सततं परस्परं बोधयन्तः ॥९॥

भजन प्रकार बतलाते हैं—मेरे चिन्तन में लीन, लीलावस्था में भी मेरे स्वरूप विचार में तत्पर, मुझमें ही प्राण रखनेवाले, मेरे दुःख में दुःखी, मेरे सुख में सुखी होते हुए मेरे लीलावस्था में उन-उन अनुभव प्रमाण आदि के द्वारा बोध कराते हुए रमण करते है। आनन्द प्राप्त करते हैं। अथवा मुझको विप्रयोग आदि लीलावस्था में नित्य विज्ञप्त करते हुए परस्पर ज्ञान प्राप्त करते हैं ॥९॥

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ।।१०।।

एवंभावेन भजतामहं फलं ददामीत्याह । एवमिति । एवं अमुना प्रकारेण सततयुक्तानां निरन्तरं मत्कृपाविशिष्टानां प्रीतिपूर्वकं अनुद्वेगेन भजतां तं बुद्धियोगं मत्स्वरूपानुभवात्मकभक्त्युपायरूपं ददामि येन ते माम् उपयान्ति प्राप्नुवन्ति । उपसर्गेण तथा यान्ति यथा तद्भावच्युतिः कदापि न भवतीतिज्ञापितम् ।।१०।।

इस प्रकार भजन करने वालों को मैं फल प्रदान करता हूँ । अर्थात् मेरे कृपा विशिष्ट व्यक्ति प्रीति पूर्वक उद्वेग रहित होकर मेरे स्वरूपानुभव वाली भक्ति उपाय स्वरूप प्राप्त करते हैं जिससे वे मुझे प्राप्त कर लेते हैं । उपसर्ग का 'उप' इसका द्योतन कराता है कि वे इस प्रकार प्राप्त करते हैं कि बाद में कभी च्युत ही नहीं होते ।।१०।।

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ।।११।।

नन्वन्यबोधने तेषामज्ञत्वाद्बहुकालव्यासंगेन सेवावियोगक्लेशः स्यादिति कथं बोधनं स्यादित्याशंक्याह । तेषामेवेति । तेषामेव भक्तानामेव अनुकम्पार्थं मत्सेवाविप्रयोगक्लेशाभावार्थम्, आत्मभावस्थेषु तेषु स्वीयत्वभावयुक्तोऽहमन्येषामज्ञानजं तमः संसारात्मकं भास्वतास्फुरद्रूपेण ज्ञानदीपेन नाशयामि । ततः संसाराऽज्ञानविमुक्तानां शीघ्रं स्वरूपबोधात् पुनः परस्परं मद्गुणकथनेन परमानन्द एव भवति नतु क्लेश इतिभावः ।।११।।

अन्यों को ज्ञान देने से सेवा वियोग का क्लेश भी तो होगा इस आशंका से कहते हैं—भक्तों पर कृपा करने के हेतु ही अनुकम्पा करता हूँ जिससे उनको सेवा

वियोग का क्लेश न हो। उनकी आत्मा में स्थित हुआ मैं अज्ञानज तम को ज्ञान रूपी दीप से नष्ट कर देता हूँ। संसार के अज्ञान से जो छूट जाते हैं, उन्हें शीघ्र ही स्वरूप बोध हो जाता है फिर मेरे गुणों का मान करने से परम आनन्द ही प्राप्त होता है। क्लेश प्राप्त नहीं होता ॥११॥

अर्जुनउवाच

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥१२॥

एवं 'न मे विदुः सुरगणा' इत्यादिना सर्वेषां स्वाऽवेदनमुक्तानां 'यो मामजमनादिं चे'त्यादिना स्वज्ञानस्योत्तमत्वं प्रतिपादितम्। ततः सर्वभावोत्पत्तिः स्वत उक्ता स्वरूपा या। स्वस्वविभूतिज्ञस्य स्वभजने स्वप्राप्तिमुक्तवान्। एतत्सर्वं जिज्ञासुरर्जुनः प्रभुं विज्ञापयति सप्तभिः। विज्ञप्तेरपि भगवदात्मत्वाय षड्गुणधर्मिसमसख्यैः श्लोकैर्विज्ञापयति। अर्जुन उवाच। परं ब्रह्मेति। परं पुरुषोत्तमाख्यं ब्रह्म बृहद्व्यापकं पर धाम पुरुषोत्तमात्मकतेजोरूपं रमणात्मगृहात्मकं वा। परमं पवित्रं सर्वोत्कृष्टं सर्वपावनम्। एतत्सर्वरूपो भवान् सत्यमेवेत्यर्थः। कथमेवमवगतमित्यत आह। पुरुषमिति। पुरुषं पुरुषोत्तमम्। अन्यत्रापि तथात्वमाशङ्क्य शाश्वतं नित्यमिति। अक्षरादिष्वपि नित्यत्वमाशंक्य दिव्यमित्याह क्रीडनैकरूपम्। अवतारादिष्वपि तथात्वमाशक्याह। आदिदेवमिति। मूलरूपमित्यर्थः। परिदृश्यमानजन्माद्याशंकायामाह। अजमिति। जन्मरहितम्। जन्माऽभावे जन्मप्रतीतिः कथमित्यत आह। विभुमिति। समर्थमित्यर्थः। तथाप्रतीतिकरणसमर्थमितिभावः ॥१२॥

"न मे विदुः सुरगणा" से अपने को देवों द्वारा न जानने तथा 'यो मामजमनादिं च' से अपने ज्ञान की उत्तमता का वर्णन किया और सर्वभाव की उत्पत्ति भी निरूपित की। विभूति के भजन द्वारा भी भगवान् ने अपनी प्राप्ति बतलाई। इस सबको जानने के लिये अर्जुन ने सात श्लोकों द्वारा भगवान् से पूछा। भगवान् षड्गुण सम्पन्न हैं अतः छः श्लोक कहे तथा विज्ञप्ति भी भगवदात्मक है अतः सात श्लोकों से प्रश्न किया है। अर्जुन ने कहा—आप पुरुषोत्तमाख्य व्यापक ब्रह्म हैं,

पुरुषोत्तमात्मक तेजोरूप हैं, सबसे पवित्र हैं, शाश्वत है, क्रीडनेक रूप हैं, सब देवों के मूलभूत हैं, जन्म रहित, समर्थ भी हैं। समर्थ का तात्पर्य यह है कि जब आपका जन्म ही नहीं होता तो तयःप्रतीति कैसे होगी? यहां अप्रतीतिकरण समर्थ को भी जानना चाहिये ॥१२॥

आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे ॥१३॥

एवंविधं त्वां सर्वे वदन्तीत्यनेनावगतमित्याह। आहुरिति। सर्वे ऋषयो भृग्वादयः तथा देवर्षिः देवानामपि मन्त्रद्रष्टा नारदः सर्वमोक्षदः। असितः भगवद्धर्मरूपः। देवलः देवानुग्रहकृत्। व्यासः ज्ञानावतारः। च पुनः स्वयमेव त्वमेव साक्षान्मे मह्यम् 'अहमादिर्हि देवानामि'त्यादिना ब्रवीषि। अतस्त्वां तथा जानामीत्यर्थः ॥१३॥

इस प्रकार आपको सब बतलाते हैं—भृगु आदि ऋषि, देवर्षि, मन्त्र द्रष्टा, नारद मोक्षदाता, भगवद्धर्म रूप असित, देवानुग्रहकृत् देवल, ज्ञानावतार व्यास भी आपको ही जानते हैं, 'अहमादिर्हि देवानाम्' से आपने उपदेश दिया है अतः मैं भी आपको जानता हूं ॥१३॥

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव।
न हि ते भगवन् व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः ॥१४॥

परोक्ते स्वानुभवाभावे न विश्वासः स्यादित्यत आह। सर्वमेतदिति। सर्वं पूर्वोक्तं 'परब्रह्म'त्यादि अहं स्वानुभवात् ऋतं सत्यं मन्ये। किंच। न मे विदुरित्यादिनां देवाः क्रीडारूपाः। दानवाविरोधेऽपि मोक्षदातुः हे भगवन्! ते व्यक्तिं प्राकट्यं स्वरूपं वा न विदुरिति केशव! दुष्टगुणव्याप्त-योरपि मोक्षदायक! यत् मां वदसि एतत्सर्वं हि निश्चयेन ऋतं मन्ये ॥१४॥

अपने अनुभव के बिना विश्वास नहीं होता अतः अर्जुन कहता है—परब्रह्म आदि श्लोक में जो आपने अपना रूप बतलाया है, मैं अनुभव रहित होकर भी उसे सत्य मानता हूँ। 'न मे विदुः' श्लोक से आपने देवों को क्रीडा रूप माना है। दानवों के अविरोध में भी मोक्षदायी भगवान् आपके प्राकट्य को नहीं जानते। हे केशव! दुष्ट गुणों से व्याप्त को भी मोक्ष देने वाले, आप जो भी मुझसे कह रहे हैं, मैं उसे सत्य मानता हूँ ॥१४॥

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम ।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ॥१५॥

यतोऽन्ये न विदुरतः स्वस्वरूपं स्वयमेव जानासीत्याह। स्वयमेवेति। स्वयं स्वेच्छयैव, न केनचित् प्रेरितः। आत्मना स्वस्वरूपेणैव आत्मानं यादृशोऽसि तादृशं त्वमेव वेत्थ जानासीत्यर्थः। अन्यथाज्ञानहेतुभूतत्वेन सम्बोधयति। हे पुरुषोत्तम! केन कथं वा ज्ञातुं योग्य इत्यर्थः। अतएव ब्रह्माण्डपुराणे 'नैव भावयितुं योग्यः केनचित् पुरुषोत्तम' इत्युक्तम्। ननु तर्हि 'यो मामजमनादिं च वेत्तीति'कथमुक्तमित्याशंक्य तत्कृपया स्ववेदनात्मकस्वशक्तिदानेन ज्ञापयतीति 'ददामि बुद्धियोगं तमित्यादिनोक्तम्। तथात्वेनैव सम्बोधयन्नाह। भूतभावनेत्यादिभिः। हे भूतभावन! भूतानि भावयसि स्वभावयुक्तानि करोषीति तथा। कथमेव करोतीत्यत आह। भूतेश! तेषां स्वामी नियामकः तेन स्वीयत्वेन करोतीतिभावः। ईशत्वेऽपि कथमेवं करोतीत्यत आह। देवदेव! पूज्यानामपि पूज्य! तत्पूजादिसन्तुष्टस्तथा करोतीतिभावः। तर्हि देवेष्वेव तथोचितं न तु सर्वेष्वित्यत आह। जगत्पते इति। जगतः सर्वस्यैव पतिः पालको रक्षक इति यावत्। रक्षार्थं तथा करोतीतिभावः ॥१५॥

अन्य लोग आपके स्वरूप को नहीं जानते, आप ही अपने स्वरूप को जानते हैं। हे पुरुषोत्तम! कौन आपको कैसे जाने? इसलिये ब्रह्माण्ड पुराण में लिखा है कि 'पुरुषोत्तम को कोई नहीं समझ सकता है।' यदि यह कहें कि तब तो विरोध बढ़ेगा

क्योंकि अभी गीता में भगवान् ने कहा है कि 'योमामजमनादिं च' आशय यह है कि भगवान् को उनकी कृपा द्वारा ही समझा जा सकता है, अन्यथा नहीं। क्योंकि यह भी तो लिखा है कि "ददामि बुद्धियोगतं" बुद्धिदाता होने के कारण ही अर्जुन सम्बोधन देता है—हे भूतभावन! भूतों को स्वभाव से युक्त करने वाले, भूतों के स्वामी, पूज्यों के भी पूज्य, सबके पालक, रक्षा के लिये ही ऐसा करते हो। यह भाव है ॥१५॥

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि ॥१६॥

एवं सम्बोध्य जगत्पतित्वेन स्वस्यापि पतित्वं सम्पाद्येदानीं स्वीयत्वेनानुग्रहं कुरु यथाऽहं पूर्वोक्तं त्वत्स्वरूपं ज्ञात्वा प्रपन्नो भवामीत्याह ॥ वक्तुमर्हसीति । दिव्याः क्रीडारूपाः । आत्मविभूतयः स्वविभूतयः कार्यार्थं स्वयमेवांशरूपाः । अशेषेण वक्तुं त्वमेवार्हसि योग्योऽसि । योग्यत्वोक्त्या विभूतिज्ञानमपि नान्यस्य यत्र तत्र साक्षात् त्वदज्ञाने किं वाच्यमिति व्यञ्जितम् । यतस्त्वमेव योग्योऽस्यतः कृपया वदेतिभावः। याभिर्विभूतिभिः इमान् लोकान् व्याप्य स्वीयत्वेनाङ्गीकृत्य तिष्ठसि ता वक्तुमर्हसीत्यर्थः ॥१६॥

भगवान् जगत्पति हैं, अतः वे अर्जुन के भी स्वामी हैं, इसे स्पष्ट करके अपनेपन के कारण वह अनुग्रह कामना करता है कि मैं आपके पूर्वोक्त स्वरूप को जान सकूँ और शरण में आऊँ। अतः 'वक्तुम्' इत्यादि कहा है। दिव्य क्रीडारूप अपनी विभूतियों को पूर्ण रूप से आप ही कह सकते हो। विभूति ज्ञान भी अन्य को सुलभ नहीं है। तुम्हारे न जानने पर और वाच्य ही क्या है। आप उन विभूतियों के सम्बन्ध में कहें, जिनसे आप लोकों को व्याप्त करके स्थित हैं ॥१६॥

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन् ।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन् मया ॥१७॥

विस्तरेणाऽऽत्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन।

भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ॥१८॥

कथनप्रयोजनमाह । कथमिति । हे योगिन् ! सर्वव्यापक ! सर्वकरण-समर्थ ! अहं प्रकटरूपमानन्दमयं त्वां सदा परिचिन्तयन् परितो बाह्याभ्यन्तर-भेदेन चिन्तयन् विभूतीः कथं विद्यां जानामीत्यर्थः । अत्रायं भावः । साक्षाद्भग-वच्चिन्तने विभूतिज्ञाने तत्र मनोनिवेशने चिन्तनविच्छेदो भविष्यतीति कथं जानामि । ननु तर्हि प्रश्नः किमर्थमित्याशंक्य यत्पूर्वमुक्तम् 'एतां विभूति-मित्यारभ्य येन मामुपयान्ति ते' इत्यन्तं तेन त्वत्प्राप्त्यर्थं पृच्छामि तत्रापि स्वाधिकारानुसारेण यत्स्वस्याश्रयकं तत्कथयेति विज्ञापयति । केष्विति । केषु लोकेषु । च पुनः । केषु भावेषु पदार्थेषु भगवन् ! षड्गुणैश्वर्य ! पूर्णगुणैः सर्वव्यापक ! मया चिन्त्यौयोऽसि । यच्चिन्तनात् त्वां प्राप्नोमि याथातथ्येन जानामि तादृशमात्मनो योगं पदार्थेषु क्रीडात्मकं योगं । च पुनः । तादृशीमेव विभूतिं हे जनार्दन ! सर्वाऽविद्यानाशक ! पूर्वं संक्षेपकथितामपि भूयो विस्तारेण कथय । हि यस्मात् अमृतं मोक्षात्मकं मरणनिवर्तकमानन्दरूपं त्वद्वाक्यं शृण्वतो मे तृप्तिः अलंभावो न भवतीत्यर्थः ॥१७-१८॥

कथन का प्रयोजन आगे के श्लोक में स्पष्ट किया है—'कथमिति' हे योगिन् ! हे सर्वव्यापक ! सर्वसमर्थ ! मैं प्रत्यक्ष आनन्दमय आपका ध्यान करता हुआ विभूतियों को कैसे जान सकूँगा । भाव यह है कि भगवान् के चिन्तन में विभूति ज्ञान की बात जब आ जायगी तो चिन्तन धारा अवरुद्ध हो जायगी, तब आपको कैसे समझ सकूँगा । यहाँ प्रश्न व्यर्थ होगा तो कहा है कि 'एतां विभूतिमारभ्य' श्लोक से 'येन मामुपयान्ति ते' यहाँ तक तो भगवान् आपको ही जानने के लिये पूछता हूँ, तथा अधिकार के अनुसार ही आप कहें । अतः अर्जुन कहता है—किन लोकों में किन पदार्थों में हे छः गुण सम्पन्न ! सर्वव्यापक ! आप चिन्तन योग्य हैं । जिस चिन्तन से आपको निश्चित जान लूँ, ऐसे अपने पदार्थों में विद्यमान क्रीडात्मक योग को और वैसी ही विभूति को हे सर्व अविद्याओं को दूर करने वाले भगवन् ! पूर्व कही गई

बात को विस्तार से कहें। क्योंकि मरण निवर्तक आनन्दरूप आपके वाक्यों को सुनकर मुझे अरुचि नहीं हो रही ॥१७–१८॥

श्रीभगवानुवाच

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः।

प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ॥१९॥

एवं जिज्ञासुनाऽर्जुनेन प्रार्थित आह। हन्तेति। स्वस्वरूपज्ञानार्थकताद्दृक्प्रार्थनया हन्तेतिहर्षे। हे कुरुश्रेष्ठ! भक्तवंशोद्भव! दिव्याः क्रीडारूपा विभूतयः ते प्राधान्यतस्त्वद्योग्यास्त्वदर्थं कथयिष्यामि। ननु विस्तरेण कथं नोच्यत इत्यत आह। नास्तीति। मे विभूतीनां विस्तरस्य अन्तो नास्ति। अतस्त्वत्पृष्टत्वाद्योग्या एव कथयिष्यामीतिभावः ॥१९॥

इस प्रकार जिज्ञासु अर्जुन की प्रार्थना सुनकर प्रसन्न मन श्रीकृष्ण ने कहा — हे कुरुश्रेष्ठ अर्थात् भक्तवंश में उत्पन्न! दिव्य क्रीडारूप विभूतियां सुनाता हूँ। किंतु अधिक विस्तार से अपनी विभूतियों को नहीं कहूँगा, क्योंकि मेरी विभूतियों के विस्तार का अन्त नहीं है। अतः तुम्हारे प्रश्न के अनुसार जो योग्य होगा वही कहूंगा ॥१९॥

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।

अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥२०॥

एवं कथनं प्रतिज्ञाय प्रथमं सर्वत्र स्वयोगमाह। अहमिति। अनन्द्रितभावेन श्रवणार्थं सम्बोधयति। हे गुडाकेश! सर्वभूतानामाशयेषु अन्तःकरणेषु स्थितः आत्मा अहं तेन मदात्मकात्मसम्बन्धेन सर्वेषां जीवानां विषयानन्दमारभ्य ब्रह्मानन्दाऽनुभवान्ताऽऽनन्दानुभवो भवतीत्यर्थः। त्वयाऽपि तेषु आनन्दानुभवार्थकमदंशात्मकसंयोगात्मकोऽहं चिन्तनीय इतिभावः। एतच्चिन्तनं च [illegible]। ननु [illegible]संयोगे नाशः कथं

भव ीत्याकांक्षायामाह् । अहमिति । भूतानां आदिः उत्पत्तिस्थानं चाहम् । च पुनः मध्यं स्थिि: । अन्तश्च लयस्थानमहमेव । यतो मदिच्छया मत्क्रीडार्थमुत्पादिताः यावत्क्रीडनं च रक्षिताः क्रीडोपसंहारेच्छायां च लयं प्रापिता अतो न दोष इति भावः। मदोत्पादितानां मदात्मांशसंयुक्तानामन्यतो नाशेऽन्यलीनत्वे दोषः स्यात् न तु मयि लीनानाम् । इदमेवैवकारेण द्योतितम् । अतएव निर्दोषभावेन मदंशात्मसंयोगं सर्वेषु चिन्तयेतिभावः ॥२०॥

सर्वत्र अपने अंग को प्रथम कहा—आलस्य छोड़कर सावधानी पूर्वक श्रवण के लिये सम्बोधित किया कि हे गुडाकेश ! (अर्जुन) मैं सम्पूर्ण जीवों के अन्तः-करण में स्थित हूँ । अतः मेरे आत्मा के सम्बन्ध से सम्पूर्ण जीवों को विषयानन्द से लेकर ब्रह्मानन्द अनुभव तक आनन्द का अनुभव होता है । हे अर्जुन ! आनन्द अनुभव अर्थ वाले मेरे अंश संयुक्त आत्मा का चिन्तन तुम भी करो । यह चिन्तन माहात्म्य ज्ञान के लिये उपयोगी है । यदि यह शंका हो कि आपके संयोग होने पर नाश क्यों होता है तो कहा है कि—मैं ही जीवों का उत्पत्ति स्थान, मध्य स्थान तथा प्रलय स्थान हूँ. क्योंकि मेरी इच्छा से ही मेरी क्रीडाओ के लिये जीव उत्पन्न होते हैं, अतः जब तक क्रीडा होती है, रहते है, क्रीडा के उपसंहार की इच्छा होने पर लय को प्राप्त हो जाते हैं अत. कोई दोष नहीं है । मेरे द्वारा उत्पन्नों का मेरी आत्मा से संयुक्त जीवों का अन्य से नाश होने पर या अन्य में लीन होने पर दोष सम्भव है, मुझमें लीन होने पर कोई दोष ही नहीं है, यह तथ्य 'एवकार' पद से व्यंजित है । अतएव निर्दोष भाव से मेरे अंश संयोग का सबमें चिन्तन करना चाहिये । श्रीकृष्ण अब योग युक्त विभूतियों को 'आदित्यानाम्' श्लोक से अध्याय समाप्ति पर्यन्त कहते हैं ॥२०॥

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान् ।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥२१॥

योगयुक्ता विभूतीः कथयति । आदित्यानामित्यारभ्य यावदध्याय-समाप्ति । आदित्यानां द्वादशानां मध्ये विष्णुः व्यापकधर्मात्मको विम्बप्रकाशको-

ऽहम् । ज्योतिषां वहिर्जगत्प्रकाशकानां मध्ये अंशुमान् सर्वप्रकाशकरश्मियुक्तो रविः सूर्योऽस्मीत्यर्थः । मरुतां वायूनां मध्ये मरीचिर्नाम कश्चन सर्वसुखोत्पादनरूपो वायुरस्मि । नक्षत्राणां मध्ये शशी चन्द्रोऽस्मि । शशीतिनाम्ना रोहिण्यासक्तिजलाञ्छनवत्त्वेन रसात्मकाऽऽसक्तिधर्मरूपशृङ्गाररसात्मकत्वं व्यंजितम् ॥२१॥

द्वादश आदित्यों के मध्य व्यापकधर्मा बिम्ब प्रकाशक विष्णु हूँ। सम्पूर्ण जगत् को प्रकाशित करने वाली ज्योतियों में सर्वप्रकाशक किरण युक्त सूर्य हूँ। पवनों के मध्य सबको सुख देने वाला मरीचि नाम का वायु हूं। नक्षत्रों के मध्य चन्द्रमा मैं हूं। शशी नाम से रोहिणी में आसक्ति के कारण जो लांछन लगा था वह काम है, इससे रसात्मक आसक्ति तथा शृङ्गार रसात्मकता की अभिव्यक्ति है ॥२१॥

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः ।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥२२॥

वेदानां चतुर्णामपि मध्ये सामवेदोऽस्मि । गानात्मकमाधुर्यरसवत्त्वेनाऽधिक्यं तत्रेतिभावः । देवानां मध्ये वासवः इन्द्रोऽस्मि । शतमखत्वेन सर्वक्रियांशभोक्तृत्वेन राज्यभोक्तृत्वेन च । इन्द्रियाणाम् आधिदैविकेन्द्रियरूपोऽस्मि । च पुनः । सर्वप्रेरकत्वान्मनोऽस्मि । भूतानां चेतनानां चेतना ज्ञानशक्तिरस्मि ॥२२॥

चारों वेदों में मैं सामवेद हूं। सामवेद में गानात्मक माधुर्य रसवत्व है, अतः वेदों में उसका आधिक्य है। देवों के मध्य इन्द्र हूँ। इन्द्र शत यज्ञ करता है अतः समस्त क्रियाओं के अंश का भोक्ता है, राज्य भोक्ता भी है। इन्द्रियों के मध्य आधिदैविक इन्द्रियरूप सबका प्रेरक मन हूँ। प्राणियों में चेतना ज्ञान शक्ति हूँ ॥२२॥

रुद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम् ।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम् ॥२३॥

रुद्राणां तामसानामेकादशानां च मध्ये शंकरः सुखकरः सर्वेषां भक्ति-ज्ञानोपदेशकोऽस्मि। यक्षरक्षसां वित्तेशः कुबेरोऽस्मि। वसूनां मध्ये मुख्यतया द्रोणोऽस्मि। अतएव 'द्रोणो वसूनां प्रवर' इति श्रीभागवते उक्तम्। च पुनः। पावकः अग्निरस्मि। शिखरिणां शिखरवताम् उच्चानां मध्ये मेरुरहमस्मि ॥२३॥

तामस एकादश रुद्रों के मध्य सुख देने वाला शंकर हूँ। सबको भक्ति ज्ञान का उपदेशक हूँ। यक्ष और राक्षसों में कुबेरनामक देव हूँ। वसु नामक देवों में द्रोण नामक वसु हूँ। भागवत में भी आता है कि 'द्रोण वसुओं में श्रेष्ठ था।' और पावक भी मैं हूँ। उच्च शिखर वालों में सुमेरु पर्वत हूँ ॥२३॥

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ ! वृहस्पतिम्।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः ॥२४॥

हे पार्थ ! पुरोधसां[1] च मध्ये मुख्यं वृहस्पतिं मां विद्धि। पार्थेति-संबोधनेन पृथासंबन्धेन त्वयि कृपां करोमि। तथा निन्दिते पौरोहित्येऽपि देवक्रियया तस्मिन् बुद्ध्यादिशक्तिरूपेण तिष्ठामि। तेन मत्स्वरूपं विद्धीति-व्यञ्जितम्। सेनानीनां सेनामध्ये देवसेनापतित्वात् स्कन्दोऽस्मि। सरसां रसयुतानां स्थिरजलानां मध्ये सागरः समुद्रोऽस्मि रत्नाकर इत्यर्थः ॥२४॥

हे पार्थ ! पुरोहितों के मध्य वृहस्पति मुझे जानो। पार्थसम्बोधन साभिप्राय है कारण पृथा के सम्बन्ध से तुझ पर कृपा करता हूँ। निन्दायुक्त पौरोहित्य में भी देवक्रिया से उनमें बुद्धि आदि शक्ति रूपसे रहने वाला मैं हूँ। इससे यह सिद्ध है कि मेरा स्वरूप जानो। सेनानियों के मध्य स्कन्द मैं हूँ। स्थिर जलवालों में समुद्र हूँ ॥२४॥

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम्।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ॥२५॥

महर्षीणां सर्ववेदाऽऽत्मको भृगुरस्मि। गिरां पदात्मकानां[2] मध्ये एकाक्षरम् ओंकारात्मकमहमस्मि। यज्ञानां कर्मणां मध्ये जपयज्ञोऽस्मि। स्थावराणामचलानां हिमालयोऽस्मि ॥२५॥

---

१. पुरोहितानाम्। २. सुप्तिङन्तं पदम्।

महर्षियों में सर्व वेदात्मक भृगु हूँ। पदों में एकाक्षर 'ओ३म्' हूँ। यज्ञ कर्म के मध्य जप यज्ञ हूँ। अचलों में हिमालय नामक पर्वत हूँ ॥२५॥

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः ।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥२६॥

सर्ववृक्षाणां मध्ये अश्वत्थ: पिप्पलोऽस्मि । देवर्षीणां देवमन्त्रद्रष्टृणां मध्ये मदिङ्गितोपदेशकत्वान्नारदोऽस्मि । गन्धर्वाणां गायकाना मध्ये चित्ररथोऽस्मि । सिद्धानाम् अधिगतपरमार्थानां मध्ये स्वतोऽधीतपरमार्थरूप: कपिलो मुनिरस्मि ॥२६॥

वृक्षों में पीपल वृक्ष हूँ। देवर्षियों में अर्थात् देवमन्त्र द्रष्टाओं में मेरे इङ्गित उपदेश से नारद हूँ। गायक गन्धर्वों में 'चित्ररथ' नामक गन्धर्व हूँ। परमार्थ प्राप्त सिद्धों में स्वत: अधीत परमार्थ रूप कपिल नामक मुनि हूँ ॥२६॥

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम् ।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम् ॥२७॥

अश्वानाम् अमृतमथने अमृतसंगोत्पन्नम् उच्चै:श्रवसं मदंशं विद्धि । गजेन्द्राणाम् ऐरावतं विद्धि । नराणां मध्ये पालकं नरं राजानं विद्धि ॥२७॥

अश्वों में अमृत के साथ उत्पन्न उच्चै:श्रवा नामक अश्व हूँ। गजेन्द्रों में ऐरावत मैं हूँ। मनुष्यों के मध्य उनका पालन करने वाला नृपति हूँ ॥२७॥

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक् ।
प्रजनश्चास्मि कंदर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥२८॥
अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहं ।
पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ॥२९॥

आयुधानां शस्त्राणां मध्ये वज्रम् अस्मि । धेनूनां दोग्ध्रीणां कामधुक् कामधेनुरस्मि । प्रजन: प्रजोत्पादक: कंदर्पश्च कामोऽस्मि । चकारेण केवल

सम्भोगहेतुर्निवारितः। सर्पाणां विषधराणां गतिमतां[1]वा वासुकिरस्मि ।।२८।।

नागानाम् अविषाणां स्थिराणां[2] मध्ये अनन्तस्तेषामधीशः शेषोऽस्मि। यादसां जलचराणां पतिर्वरुणोऽस्मि । पितॄणां मुख्यः अर्यमा चास्मि। चकारेण सर्वेषां पितृरूपत्वमपि ज्ञापितम्। संयमतां नियमं कुर्वतां मुख्यो यमोऽस्मि।।२६।।

शस्त्रों के मध्य वज्र हूँ, गायों में कामधेनु हूँ। प्रजा का उत्पादक काम हूँ। चकार से केवल संभोग हेतु का निवारण किया है। विषधरों अथवा गतिशीलों में वासुकि सर्प हूँ। विषरहित स्थिरों के मध्य अनन्तों का ईश शेष हूँ। जलचरों का पति वरुण हूँ। पितरों में मुख्य अर्यमा हूँ। चकार से सबका पितृरूपत्व भी ज्ञापित किया है। नियम करने वालों में मैं यमराज हूँ ।।२८-२६।।

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम्।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ।।३०।।

दैत्यानां च असंभावितत्वात् मध्ये दैत्यकुलोद्धारकः प्रह्लादोऽस्मि। कलयतां व्याकुर्वतां कालोऽहमस्मि। मृगाणां मृगेन्द्रः सिंहः। पक्षिणां पक्षवतां मध्ये वैनतेयस्तेषां राजा गरुडोऽस्मि ।।३०।।

दैत्यों में दैत्य कुल उद्धारक प्रह्लाद हूँ। गणना करने वालों में काल हूँ। मृगों में सिंह हूँ। पक्षियों में पक्षिराज गरुड़ हूँ।।३०।।

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम् ।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी ।।३१।।

पवतां वेगवतां मध्ये पवनः वायुरस्मि। शस्त्रभृतां रामः दशरथात्मजोऽस्मि। झषाणां मध्ये मकरः मत्स्यजातिविशेषोऽस्मि। स्रोतसां प्रवहज्जलानां मध्ये जाह्नवी गङ्गाऽस्मि ।।३१।।

वेग वालों में पवन हूँ। शस्त्रधारियों में श्रीराम हूँ। झष (जलचरों) में मत्स्य हूँ। बहते जलों में गङ्गा हूँ।।३१।।

---

१. अजगरातिरिक्तानामित्यर्थः। २. न गच्छन्तीतिव्युत्पत्त्याऽयमर्थः।

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन ! ।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ॥३२॥

सर्गाणामिति ॥ सृज्यन्त इति सर्गाः भूतादयश्च स त्रिविधः कार्यसर्गः, कारणसर्गः । तत्रकार्यसर्गो लौकिको बहिःसृष्टिरूपः । स च जीवनाशरूपत्वात् प्रलयात्मकः । कारणसर्गस्तु मोक्षात्मकत्वादलौकिकः । तृतीयो भगवल्लीलात्मकः । तत्राऽप्यवान्तरभेदास्तत्त्वकालजीवादिरूपाः सन्ति तेषां सर्गाणां मध्ये आदिः कारणरूपोऽहम् । च पुनः । अन्तः रजोगुणात्मकब्रह्मकृतोऽन्तात्मकोऽप्यहम् । मध्यं लीलात्मसर्गोऽहमेव । च मत्स्वरूपमेवेत्यर्थः । हे अर्जुन ! मुक्त्यधिकारजातीय ![1] असतामभुक्त्यर्थमेवं सर्गत्रयं मद्रूपत्वेन चिन्तयेत्यर्थः । अध्यात्मेति । विद्यानां सर्वासां मध्ये अध्यात्मविद्याऽहमस्मि । प्रवदतां वादिनां वादवितण्डाजल्पपक्षत्रयमध्ये वादस्तत्त्वस्वरूपनिर्णयात्मकोऽहमस्मि ॥३२॥

भूतादिसर्ग तीन प्रकार का है—कार्यसर्ग-कारणसर्ग-लीलात्मकसर्ग । कार्यसर्ग लौकिक बाह्य सृष्टिरूप है । जीवनाश रूप होने से वह प्रलयात्मक है । कारणसर्ग मोक्षात्मक है अतः अलौकिक है । तृतीय भगवल्लीलात्मक । अवान्तर भेद से सर्ग के मध्य तत्त्व-काल जीवादिरूप भी आते हैं । उन सर्गों के मध्य आदि अर्थात् कारणरूप मैं हूँ । अन्त रजोगुणात्मक ब्रह्मा द्वारा सम्पादित अन्त भी मैं हूँ । मध्य लीला सर्ग भी मैं हूँ अर्थात् लीला सर्ग मेरा स्वरूप है । अर्जुन सम्बोधन मुक्त्यधिकार जातित्व बोधनार्थ है । दुष्टों के बन्धन के लिये ही तीनों सर्गों को मेरा रूप समझके चिन्तन करो । सम्पूर्ण विद्याओं के बीच में मैं अध्यात्म विद्या हूँ । वादियों में वाद हूँ—वाद-वितण्डा-जल्प—इन तीन पक्षों में तत्त्व स्वरूप निर्णयात्मक मैं हूँ ॥३२॥

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च ।
अहमेवाक्षयः कालो धाताऽहं विश्वतोमुखः ॥३३॥

अक्षराणां वर्णानां मध्ये अकारोऽस्मि । सर्वाक्षरगतत्वात् । सामासिकस्य समाससमूहस्य मध्ये द्वन्द्वः गोपीमाधवावित्यादिरस्मि । अक्षयः

---

१. बलक्षोधवलोऽर्जुन इतिशुद्धत्वादित्यर्थः ।

लीलात्मकोऽलौकिकः कालोऽहमेवास्मि । एवकारेण तस्य साक्षात्स्वरूपात्मकत्वाद्विभूतित्वे किं वाच्यमितिज्ञापितम् ; विधातॄणां मध्ये विश्वतोमुखः सर्वतोमुखश्चतुर्मुखो धाता अलौकिकसृष्टिकर्त्ताऽहमस्मीत्यर्थ. ।।३३।।

अक्षरों में अकार हूँ । अकाराक्षर सम्पूर्ण अक्षरों में विद्यमान है । समास तत्पुरुष—बहुव्रीहि आदि में द्वन्द्व समास हूँ । यथा "गोपीमाधवौ" । लीलात्मक अलौकिक काल मैं हूँ । एवकार से उसके साक्षात् स्वरूपात्मक से विभूतिमत्ता में तो कहना ही क्या है ? विधाताओं के मध्य चतुर्मुख धाता अलौकिक सृष्टिकर्ता मैं हूँ ।।३३।।

मृत्युः सर्वहरश्चाऽहमुद्भवश्च भविष्यताम् ।
कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा ।।३४।।

मृत्युरिति । संहारिणां मध्ये सर्वसंहारकोऽहम् । च पुनः मृत्युरपि । भविष्यतां निखिलानां प्राणिनां पदार्थानाम् उद्भवः अभ्युदयः भाग्यरूपोऽहम् । कीर्तिरिति । कीर्तिः धर्मस्य स्त्री । श्रीः लक्ष्मीः । वाक् सरस्वती श्रीभागवतादिरूपा । स्मृतिर्भगवत्स्मरणात्मिका । मेधा बुद्धिः भगवद्गुणैकनिष्ठा । धृतिः आपत्सु धर्मैकनिष्ठता । क्षमा सर्वाऽतिक्रमसहनरूपा । नारीणां मध्ये एता मद्विभूतिरूपाः ।।३४।।

संहारकों के मध्य सब का संहार करनेवाला मैं हूँ । मृत्यु भी हूँ । सम्पूर्ण प्राणियों का भाग्य मैं हूँ । धर्म की स्त्री कीर्ति, लक्ष्मी, सरस्वती, भागवतादिरूपा श्री, भगवत्स्मरणात्मिका स्मृति बुद्धि, भगवान् के गुणों में एक निष्ठा, आपत्ति में धर्म में एक निष्ठा, सम्पूर्ण अतिक्रमण सहन रूप क्षमा, ये नारियों के मध्य मेरी विभूति है ।।३४।।

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छंदसामहम् ।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ।।३५।।

साम्नां सामऋचां मध्ये बृहत्साम मद्विभूतिरित्यर्थः । छंदसां मध्ये गायत्री मद्विभूतिः । मासानां मध्ये मार्गशीर्षोऽहम् । ऋतूनां मध्ये कुसुमाकरो वसन्तोऽस्मि ।।३५।।

सामों के मध्य बृहत्साम हूँ, छन्दों के मध्य गायत्री छन्द हूं । चैत्रादि मासों के मध्य मार्गशीर्ष मास हूँ, ऋतुओं के मध्य वसन्त हूँ ।।३५।।

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम् ।।३६।।

द्यूतमिति । छलयतां वञ्चकानां मध्ये द्यूतमस्मि येन क्रीडाक्षात्रादिधर्म ज्ञानेन मोहितो जानन्नपि वञ्चति । तेजस्विनां प्रभावतां मध्ये तेजः प्रभा अहमस्मि । जयतां मध्ये जयोऽस्मि । व्यवसायिनामुद्यमवतां निश्चयवतां वा व्यवसायः उद्यमः निश्चयो वाऽस्मि । सत्त्ववतां सात्त्विकानां मध्ये सत्त्वमहम् ।।३६।।

वञ्चकों के मध्य जूआ हूँ जिससे क्रीड़ा, क्षात्रादि धर्म ज्ञान से मोहित होकर जानता हुआ भी ठग जाता है । तेजस्वियों के मध्य प्रभा हूँ । जय करनेवालों में जय हूँ, उद्यम करनेवालों में व्यवसाय हूँ या निश्चय हूँ । सात्त्विकों के मध्य सत्त्व हूँ ।।३६।।

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनञ्जयः ।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः ।।३७।।

वृष्णीनामिति । वृष्णीनां यादवानां सर्वेषां मध्ये हृदये वासुदेवः सर्वमोक्षदाता क्रीडार्थम् अंशैरस्मि । सर्वे यादवा मद्विभूतिरूपा इत्यर्थः । पाण्डवानां मध्ये धनञ्जयस्त्वमेवास्मि । मुनीनां ब्रह्ममननशीलानां मध्ये व्यासः कृष्णद्वैपायनोऽस्मि । कवीनां निर्दुष्टस्वरशब्दप्रदर्शिनां मध्ये उशना कविः शुक्रोस्मि ।।३७।।

वृष्णियों के मध्य हृदय में वासुदेव हूँ । सर्वमोक्षदाता क्रीडार्थ अंशों से हूँ । सम्पूर्ण यादव मेरी विभूति हैं । पाण्डवों के मध्य धनञ्जय तू भी मैं हूँ । ब्रह्म मननशीलों के मध्य कृष्णद्वैपायन व्यास हूँ । निर्दुष्ट स्वर शब्द प्रदर्शकों के मध्य शुक्राचार्य हूँ ।।३७।।

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम् ।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ।।३८।।

दण्ड इति । दमयतां दमकारिणां मध्ये दण्डोऽस्मि सर्वदोपहरत्वेनेतिभावः । जिगीषतां जेतुमिच्छतां नीतिरस्मि । गुह्यानां गोप्यानां मध्ये मौनम् अवचनमस्मि । ज्ञानवतां ज्ञानिनां मध्ये ज्ञानमहमस्मि ।।३८।।

दमनकारियों में दण्ड हूँ, क्योंकि सम्पूर्ण दोषों का हरण करता हूँ जीतने की इच्छावालों में नीति हूँ। गोप्यों के मध्य मौन हूँ। ज्ञानियों के मध्य ज्ञान हूँ ॥३८॥

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥३९॥

यदिति । यत्सर्वभूतानां बीजम् उत्पत्तिकारणं तदपि अहमेव । अपिशब्देन योनिस्तद्रूपं चाऽहमेवेतिव्यञ्जितम् । यत् चराचरं भूतं तज्जातं तन्मया विना किंचिन्नास्ति ॥३९॥

जो सम्पूर्ण भूतों की उत्पत्ति का कारण है वह भी मैं हूँ। अपि शब्द से योनि तद्रूप भी मैं हूँ। जो कुछ चराचर जगत् में है, मेरे बिना कुछ भी नहीं है ॥३९॥

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप ।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ॥४०॥

एवं विभूतिमुक्त्वोपसंहरति । नान्तोऽस्तीति । मम स्वच्छन्दचारिणः दिव्यानां क्रीडात्मिकानां विभूतीनाम् अन्तो नास्ति । परन्तपेतिसंबोधनं विश्वासार्थम् नन्वन्ताऽभावे कथमेता एवोक्ता इत्याकांक्षायामाह । एष इति । एष तूद्देशतः संक्षेपतो विभूतेर्विस्तरो मया प्रोक्तः । प्रोक्तत्वेनान्येषामेतावज्ज्ञानेऽप्यसामर्थ्यं द्योतितम् ॥४०॥

इस प्रकार विभूति बतलाकर उपसंहार करते हैं—मेरी स्वतन्त्र विचरण करनेवाली विभूतियों का अन्त नहीं है। परन्तप सम्बोधन विश्वासार्थ है। यदि अनन्त है तो इतनी ही क्यों कही इसका उत्तर देते हैं—यह विभूति वर्णन संक्षेप से कहा है अन्यथा इनका भी ज्ञान सर्व साधारण को हो नहीं सकता ॥४०॥

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवाऽवगच्छ त्वं मम तेजोंशसंभवम् ॥४१॥

ननु मया सर्वस्वरूपज्ञानेन सर्वत्र त्वच्चिन्तनार्थं विभूतिविस्तारः पृष्टस्तस्यान्ताभावोक्त्या मया कुत्र कथं चिन्तनीय इत्याकांक्षायामाह । यद्यदिति । यत् यत् सत्त्वं वस्तुमात्रं विभूतिमत् ऐश्वर्ययुक्तं श्रीमत् संपत्तियुक्तम् ऊर्जितमेव केनापि प्रकारेणोत्कृष्टतां प्राप्तं रमणीयतरं वा तत् तेदवं मम तेजोंशसंभवं ममानुभावसंभूतम् अवगच्छ जानीहि ॥४१॥

यदि यह कहें कि मैंने सर्वस्वरूप ज्ञान के लिये तेरे चिन्तन के लिये विभूति विस्तार पूछा है तो मैं किसमें चिन्तन करूँ तो कहा है जो जो विभूति युक्त हैं, किसी भी प्रकार से उत्कृष्टता को प्राप्त हैं, वे मेरे अनुभव से सम्भूत समझो ॥४१॥

अथ वा बहुनैतेन किं ज्ञानेन तवाऽर्जुन ।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥४२॥
इति श्रीभगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णाऽर्जुनसंवादे विभूतियोगो नाम दशमोऽध्यायः ॥१०॥

एवं विभूत्यादिमत्सु भगवदंशज्ञानेनान्यत्र हेयत्वादिबुद्धौ सर्वस्य भगवदात्मकत्वं भज्येतेत्यन्यं प्रकारमाह । अथवेति । अथ वा पक्षान्तरेण हे अर्जुन ! तव बहुना नानाविधेन ज्ञानेन किं कार्यम्, न किमपीत्यर्थः । यत एतेन नानाज्ञानेन न किंचित् कार्यम् अतः कार्योपयोगिस्वरूपमाह । इदं परिदृश्यमानं जगत् कृत्स्नं संपूर्णम् एकांशेन क्रीडात्मकेन विष्टभ्य धृत्वा स्थितोऽस्म्यहमेवेत्यर्थः । अनेन सर्वं मत्क्रीडारूपमेव चिन्तयेतिभावो बोधितः ॥४२॥

प्रतीयते जगन्नानाविधं स्वाज्ञानभावतः ।
विभूतिरूपं श्रीकृष्णस्तन्नाशायाऽब्रवीन्नरम् ॥१॥
इति श्रीभगवद्गीताऽमृततरङ्गिण्यां दशमोऽध्यायः ॥१०॥

इस प्रकार विभूति युक्तों में भगवान् का अंश जानकर अन्यत्र हेयत्वादि बुद्धि होने पर सब भगवान् मय हैं यह बात खण्डित होगी अतः कहा है पक्षान्तर में हे अर्जुन ! तुम्हें नाना प्रकार से जानने से लाभ भी क्या है ? अतः कार्योपयोगी स्वरूप जान लो । यह दिखलाई देनेवाला जगत् क्रीडा के लिये मुझ में ही स्थित है मेरी क्रीडा रूपता का चिन्तन सर्वत्र करो ।

कारिकार्थ :—अपने अज्ञान के कारण यह जगत् नाना प्रकार का दिखलाई दे रहा है । इसके एकत्व को ज्ञापित कराने के लिये श्रीकृष्ण ने नर से यह विभूतियोग कहा है ॥४२॥१०॥

॥ दशवाँ अध्याय समाप्त ॥

श्रीकृष्णाय नमः

अध्याय ११

अर्जुन उवाच ॥

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम् ।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥१॥

श्रीकृष्णाय नमः ॥ कृष्णाऽऽत्मत्वं हि जगतो विभूतिकथनान्नरः ॥
अवगत्य च तद्रूपं द्रष्टुं हरिमथाऽब्रवीत् ।

पूर्वाध्यायान्ते विष्टभ्याऽहमित्यनेन स्वक्रीडात्मकत्वेन विश्वस्य स्वात्मकत्वं प्रतिपादितम् तद्रूपदर्शनेच्छुरर्जुनो भगवन्तं विज्ञापयति ॥ मदनुग्रहायेति । चतुर्भिः ॥ मदनुग्रहाय मम स्वीयत्वेन ग्रहणाय परमं परः पुरुषोत्तमो मीयते अनुमीयते यस्मात्तादृशम् अतएव गुह्यं सर्वेषामनाख्येयम् अध्यात्मसंज्ञितम् आत्मानात्मविवेकविषयत्वेन सर्वात्मरूपं यत् त्वया वचो 'विष्टभ्याहमिति' उक्तं तेन ममाऽयं रूपे मोहो विशेषेण गतो नष्ट इत्यर्थः ॥१॥

कारिकार्थः—जगत् की विभूति कृष्णात्मक है। यह जान उनके रूप को जानकर अर्जुन ने श्रीकृष्ण से कहा—पूर्व अध्याय के अन्त में 'विष्टभ्याहम्' इस श्लोक से क्रीडात्मक विश्व को अपना ही बतलाया था। उस रूप को देखने की इच्छासे अर्जुन भगवान् से कहता है। चार श्लोकों से कहा है—

मुझे आपने अपना बनाया है तभी पुरुषोत्तम को मैंने जाना है और तभी आपने अत्यन्त भोग अध्यात्म संज्ञित आत्मा गोप्य-अनात्मा का विवेक विषय 'विष्टभ्याहम्' से जो कहा उससे मेरा मोह नष्ट हो गया ॥१॥

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया ।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष ! माहात्म्यमपि चाव्ययम् ॥२॥

किंच। भवाप्ययाविति । भूतानां भवाप्ययौ उत्पत्तिनाशौ'अहमादिश्चे'त्यादिना हे कमलपत्राक्ष ! दृष्ट्यैव तापनाशक ! त्वत्तो मया विस्तरशः श्रुतौ ।

अव्ययं स्थितरूपं पालनरूपं माहात्म्यं महत्त्वं नाशानन्तरपालनरूपं चापि श्रुतं, तेन मोहो नष्ट इति पूर्वेणैवान्वयः ॥२॥

प्राणियों की उत्पत्ति और नाश 'अहमादिश्च' इत्यादि से सुना। हे कमलपत्राक्ष ! अर्थात् दृष्टि से ही ताप नाश करने वाले! मैंने आपसे विस्तार से सुना। स्थिति रूप माहात्म्य, नाश के पश्चात् पालन रूप भी मैंने सुना। उससे मेरा मोह नष्ट हो गया। (अन्वय पूर्व श्लोक से है) ॥२॥

एवमेतद्यथाऽऽत्थ त्वमात्मानं परमेश्वर ।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ! ॥३॥

कथं ज्ञातव्यं मोहोनष्ट इतीत्याशङ्क्य नष्टमोहानां भगवद्वाक्ये विश्वासो नियत इति तदाह ॥ एवमिति ॥ हे परमेश्वर ! सर्वाधीश ! यथा त्वम् आत्मानं स्वस्वरूपम् आत्थ वदसि 'न मे विदु'रित्यनेन सर्वाज्ञातत्वं, 'विष्टभ्याहमि'त्यनेन सर्वात्मत्वं, 'ददामि बुद्धियोगं तमि'त्यादिना स्वकृपयैव ज्ञातत्वम् एवमेतद् यथार्थमेवेत्यर्थः। यथार्थत्वोक्त्या पूर्वमज्ञातस्वरूपोऽहम्[१] अधुना विभूतिनिरूपणेन विष्टभ्याहमिति कृपोक्त्या च तच्चिन्तनेन सर्वात्मत्वज्ञानयुक्तो जात इति स्वानुभवो व्यञ्जितः ॥ अयातो ज्ञातस्वरूपस्तद्रूपं दर्शयेत्याह। द्रष्टुमिति। हे पुरुषोत्तम ! ते तवैव तत्संबन्धिनम् ऐश्वरं नानाविलासकं रूपं द्रष्टुम् इच्छामि ॥३॥

यह कैसे ज्ञात हो कि मोह नष्ट हो गया क्योंकि नष्टमोह जीवों का भगवान् के वाक्य में विश्वास नियत होता है। अतः कहा है, हे परमेश्वर ! जैसे आप अपने स्वरूप को कहते हो—'न मे विदुः' से सर्व अज्ञातत्व, 'विष्टभ्याहम्' से सर्वात्मत्व, 'ददामि बुद्धियोगम्' इत्यादि से स्वकृपा से ज्ञातत्व कहा है, यथार्थ ही है। यथार्थत्व उक्ति से भगवान् के स्वरूप को न जानकर विभूति निरूपण से 'विष्टभ्याहम्' से कृपा को उक्ति है तच्चिन्तन से सर्वात्मत्व ज्ञानयुक्त है यह अनुभव व्यंग्य है। अतः ज्ञात स्वरूप को दिखलाइये—हे पुरुषोत्तम ! आपके नाना विलासात्मक रूप को देखना चाहता हूँ ॥३॥

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो ।
योगेश्वर ! ततो मे त्वं दर्शयाऽऽत्मानमव्ययम् ॥४॥

---

१. अज्ञातं भगवत्स्वरूपं येनेत्यर्थः।

स्वेच्छायां सत्यामपि भगवदिच्छाऽभावे च द्रष्टुमपि निर्बन्धेन न फलतीति विज्ञापयति ॥ मन्यस इति ॥ हे प्रभो ! सर्वकरणसमर्थ ! यदि तद्रूपं मया द्रष्टुं शक्यं दर्शनानन्तरं फलरूपं भवति तथाचेन्मन्यसे फलरूपं भवत्विति, तदा योगेश्वर ! योगिनः स्वयोगबलेन सामर्थ्यं प्रकटयन्ति तेषां योग आगन्तुको धर्मः, त्वं तु योगस्यापीश्वरस्तेन मम दर्शनसामर्थ्यमपि कृपया दत्वा दर्शय। एवं प्रार्थनायां प्रभुस्तद्रूपं दर्शयित्वा तत्रैव लीनं कुर्यात् तदा भक्तिरसानुभूतपुरुषोत्तमरूपानुभवो न भवेदतो विज्ञापयति। तत इति। तत एतन्मनोरथपूर्त्यनन्तरम् अव्ययम् अविनाशिनम् आत्मानं पुरुषोत्तमम् आनन्दमयं दर्शयेतिभावः ॥४॥

स्वेच्छा होने पर भी भगवान् की इच्छा के अभाव में देखना भी सम्भव नहीं है। हे सर्वकरण समर्थ ! यदि वह रूप मेरे द्वारा देखने योग्य है तो दर्शन के पश्चात् फलरूप यदि मानते हों तो हे योगेश्वर ! योगी अपने योगबल से सामर्थ्य प्रकट करते हैं उनका योग आगन्तुक धर्म होता है। आप उसके भी ईश्वर हैं अतःमुझे दर्शन सामर्थ्य देकर दिखावें।

इस प्रार्थना से भगवान् रूप को दिखाकर वहीं लीन कर दे तो भक्ति रसानुभूत पुरुषोत्तम रूप का अनुभव न हो अतः कहा है कि—मनोरथ पूर्ति के अनन्तर अविनाशी आत्मा पुरुषोत्तम आनन्दमय को दिखलायें ॥४॥

श्रीभगवानुवाच ॥

पश्य मे पार्थ ! रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥५॥

एवं प्रार्थितः सन् तद्रूपं दर्शयिष्यन्नर्जुनं सावधानं करोति भगवान् ॥ पश्येत्यादि चतुर्भिः। हे पार्थ भक्तपुत्र ! कृपया दर्शयामीतिसंबोधनम्। अन्यथा पुरुषोत्तमदर्शनतोऽन्यदर्शनेच्छायामेतद्रसानुभवमपि न कारयेदिति-भावः। मे मम शतशः सहस्रशः असंख्यातानि शतशः सहस्रशः यावदिच्छसि तावद्वा नानाविधानि नानाफलकारकाणि रूपाणि यस्य नानाविधान्यपि दिव्यानि अलौकिकानि क्रीडात्मकानि ननु प्रदर्शनार्थमेव कृतानि। च पुनः।

तथैव नाना वर्णाकृतीनि नाना अनेके वर्णाः शुक्ललोहितादयः, आकृतयः अवयवादिविशेषाश्च येषां तानि ॥५॥

इस प्रकार अर्जुन की प्रार्थना सुनकर अपने रूप को दिखाने की इच्छा से अर्जुन को सावधान करते हुए ४ श्लोकों से श्रीकृष्ण ने कहा—हे पार्थ ! अर्थात् भक्त पुत्र ! मैं कृपापूर्वक दिखलाता हूँ। अन्यथा पुरुषोत्तम दर्शन से अन्य दर्शन की इच्छा में इस रस का अनुभव भी सम्भव नहीं है। मेरे असंख्य रूप हैं, अथवा जितने देखना चाहो उतने। वे रूप नाना प्रकार के हैं दिव्य हैं, क्रीडात्मक हैं केवल प्रदर्शन के लिये नहीं। शुक्ल-रक्त आदि अनेक वर्ण के हैं। नाना आकृति युक्त हैं ॥५॥

पश्याऽऽदित्यान् वसून् रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ! ॥६॥

तान्येव पश्येति नामभिर्विशेषेणाह ॥ पश्येति ॥ आदित्यान् द्वादशात्मकान् वसून् अष्टसंख्याकान् रुद्रानेकादशसंख्यान् ॥ अश्विनौ अश्विनीकुमारौ मरुतः देवगणविशेषान्। तथा बहून्यसंख्येयानि अदृष्टपूर्वाणि सर्वैः। आश्चर्याणि अलौकिकानि हे भारत ! उत्तमवंशोद्भव ! योग्यत्वात् पश्य ॥६॥

नामों द्वारा विशेष रूप कहते हैं—द्वादश आदित्य, आठवसु, एकादश रुद्र अश्विनी कुमार, मरुद्गण तथा असंख्येय अदृष्टपूर्व अलौकिकों को हे भारत ! हे उत्तम वंशोद्भव, योग्य होने से देख सकते हो ॥६॥

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याऽद्य सचराचरम्।
मम देहे गुडाकेश! यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि ॥७॥

किंच। इहेति। कोटिजन्मभिरपि संपूर्णं द्रष्टुमशक्यं कृत्स्नं समस्तं जगत् विरुद्धत्वेन अपि अदृश्यमानमपि मम देहे एकस्थम् एकत्र स्थितं सचराचरं जडजीवसहितम् इह अस्मिन्नेव जन्मनि। अद्य तत्कालमेव यच्च अन्यत् = सर्वेषां विभूतित्वेन कथं मारयामीतिविचारेण मरणमारणादिरूपं यत् द्रष्टुम् इच्छसि तत्पश्य ॥७॥

कोटि जन्मों द्वारा भी मेरे सम्पूर्ण रूपों को देखना सम्भव नहीं है, किन्तु मेरे देह में एकत्र ही चर-अचर सहित (जड़-जीव सहित) इसी जन्म में तत्काल ही देखना

चाहो वह देखो। इनसे पृथक् सब विभूति हैं तो कैसे मारूँ इस विचार से मरण-मरणादि रूप जो देखना चाहो देखो ॥७॥

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा ।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥८॥

एवमुक्ते दर्शनोद्यतं प्रत्याह ॥ नत्विति ॥ तु पुनः । एवमेव द्रष्टुं न शक्यसे न शक्तोऽसि । अतस्ते दिव्यमलौकिकं चक्षुर्ददामि । तेन स्वचक्षुषा मत्कृपादृष्ट्या मां पुरुषोत्तमं पश्य । अतो दृष्टपुरुषोत्तमेन अनेनैव मे ऐश्वरं करणाकरणाऽन्यथाकरणसामर्थ्यरूपं योगयुक्तं पश्य । पुरुषोत्तमस्वरूपज्ञान-दर्शनाभावे सर्वस्वरूपदर्शनं न स्यात् । पुरुषोत्तमदर्शनं चासाधारणदृष्ट्या भवेदितिभावः ॥८॥

अर्जुन जब देखने को उद्यत हुआ तब भगवान् ने कहा—तुम मुझे इस प्रकार नहीं देख सकते । अतः अलौकिक नेत्र देता हूँ और तब मेरी कृपा दृष्टि से ही मुझ पुरुषोत्तम को देख ! पुरुषोत्तम को देखकर करने योग्य, न करने योग्य, अन्यथा करने योग्य सामर्थ्य रूप योग युक्त को देख ! पुरुषोत्तम स्वरूप ज्ञान दर्शन के अभाव में सर्वस्वरूप का दर्शन सम्भव नहीं है। पुरुषोत्तम का दर्शन असाधारण दृष्टि से होता है यह भाव है ॥८॥

संजय उवाच

एवमुक्त्वा ततो राजन् महायोगेश्वरो हरिः ।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥९॥

एवमुक्त्वा अर्जुनाय स्वरूपं दर्शयामास भगवानिति धृतराष्ट्रं प्रति संजय आह । राजन्याभिमानेन दिव्यदृष्ट्यसुरावेशिभीष्मादिमारणेन सर्वदुःख-निराकरणार्थं महायोगेश्वरः सर्वकरणसमर्थः सर्वात्मकयोगबलेन एवम् उक्त्वा अलौकिकीं दृष्टिं दत्वा पार्थाय स्वाङ्गीकृताय परमं रूपं पुरुषोत्तमरूपं दर्शयामास । ततस्तद्दर्शनानन्तरम् ऐश्वरं रूपं दर्शयामास ॥९॥

यह कहकर भगवान् ने अर्जुन को अपना स्वरूप दिखलाया—यह बात संजय ने धृतराष्ट्र से कही । राजन्य अभिमान से दिव्य दृष्टि असुरावेशि भीष्मादि मारण से

सर्वदुःख निराकरणार्थ महायोगेश्वर सर्वकरण समर्थ सर्वात्मिक योगबल से कहकर अलौकिक दृष्टि देकर स्वाङ्गीकृत पार्थ के लिये पुरुषोत्तम रूप दिखलाया। उसे दिखलाने के अनन्तर ऐश्वर रूप दिखलाया ॥९॥

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥१०॥

उभयोः स्वरूपमाह ॥ अनेकेति ॥ अनेकानि वक्त्राणि नयनानि च यस्मिंस्तत्। निखिललीलात्मकरूपसहितम्। अनेकाद्भुतदर्शनम् अनेकानि अलौकिकानि लीलामयानि दर्शनानि यस्मिंस्तत्। अनेकानि दिव्यानि अलौकिकानि आभरणानि यस्मिंस्तत्। दिव्यानि अलौकिकानि अनेकानि उद्यतानि सकलदुःखनिवारकाणि आयुधानि शङ्खगदादीनि यस्मिंस्तत् ॥१०॥

दोनों का स्वरूप कहते हैं—अनेक मुख वाले (निखिल लीलात्मक रूप सहित) अनेक लीलामय दर्शनयुक्त, अलौकिक आभरण युक्त, सकल दुःख निवारक शङ्ख, गदा आदि आयुध युक्त (को देखा) ॥१०॥

दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम् ।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ॥११॥

दिव्यानि क्रीडोपयुक्तानि माल्यानि अम्बराणि बिभर्तीति तथा। दिव्यः क्रीडोद्भूतो गन्धो यस्य तादृशम् अनुलेपनं यस्य तत्। सर्वाश्चर्यमयं दुर्वितर्क्यं देवं सर्वपूज्यम् अनन्तम् अपरिच्छन्नं व्यापकं विश्वतोमुखं सर्वं पश्यन्तं सर्वसन्मुखम् ॥११॥

दिव्य क्रीडा के उपयुक्त अम्बर युक्त, दिव्य गन्ध अनुलेपयुक्त, दुर्वितर्क्य सर्वपूज्य अनन्त व्यापक सर्वद्रष्टा सर्व ओर मुख युक्त (को देखा) ॥११॥

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता ।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ॥१२॥

तस्य स्वरूपस्याऽप्रमेयं तेजःस्वरूपमाह ॥ दिवीति ॥ दिवि स्वर्गे सूर्यसहस्रस्य युगपत् एकदैव उदितस्य युगपदेव उत्थिता भाः प्रभाः यदि

भवेत् सा तस्य महात्मनः पुरुषोत्तमस्य अनेकात्मरूपस्य भासः सदृशी स्यात् । किंतु न स्यादेवेति काकूक्तिः । एतादृशं स्वरूपम् ।।१२।।

उस स्वरूप का अप्रमेय तेजः स्वरूप कहते हैं। यदि स्वर्ग में सहस्र सूर्य की एक साथ ही आभा हो तब कहीं पुरुषोत्तम की आभा को प्राप्त कर सकती है। परन्तु नहीं कर सकती, यह काकु ध्वनि है ।।१२।।

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा ।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ।।१३।।

तत्र तस्मिन्नेव रूपे एकस्थम् एकत्र स्थितं कृत्स्नं संपूर्णं जगत् अनेकधा प्रविभक्तं नानाप्रकारविभागयुक्तं दर्शयामासेतिपूर्वेणैवान्वयः । यदा दर्शितं तदा देवदेवस्य पूज्यानामपि पूज्यस्य शरीरे पूर्वप्रतीयमानसूक्ष्मरूप एव पाण्डवः अर्जुनः अपश्यत् दृष्टवान् ।।१३।।

उसी स्वरूप में एकत्र सम्पूर्ण जगत् को अनेकधा विभक्त नाना प्रकार से युक्त स्वरूप को दिखलाया। जब भगवान् ने रूप दिखलाया तब देवाधिदेव पूज्यों के भी पूज्य भगवान् के शरीर में पूर्वप्रतीयमान सूक्ष्मरूप में ही अर्जुन ने देखा ।।१३।।

ततः स विस्मयाऽऽविष्टो हृष्टरोमा धनञ्जयः ।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत ।।१४।।

दर्शनानन्तरं किं कृतवानित्यत आह ।। तत इति ।। ततस्तदनन्तरं स पूर्वोक्तः प्राप्तदिव्यदृष्टिः । विस्मयाविष्टः आश्चर्यरसनिमग्नः । हृष्टरोमा उत्पुलकिताङ्गः अन्तरानन्दयुक्तः धनञ्जयः प्रादुर्भूतविभूतिरूपः शिरसा मस्तकेन देवं पूज्यं नमस्करणीयं प्रणम्य नमस्कृत्य कृताञ्जलिः विनीतः सन् अभाषत विज्ञप्तिं कृतवान् ।।१४।।

दर्शन के अनन्तर क्या किया अतः कहते हैं—दिव्यदृष्टि प्राप्त अर्जुन आश्चर्य रस में निमग्न हो गया, वह रोमाञ्चित हो गया, आनन्द युक्त हुआ। विभूतिका रूप जिसमें प्रादुर्भूत हुआ, ऐसा वह सिर से कृष्ण को नमस्कार करके विनीत होकर प्रार्थना करने लगा ।।१४।।

पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान् ।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थमृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान्१५

तद्वाक्यमेवाह ।। पश्यामीति । सप्तदशभिः ।। हे देव ! पूज्य ! तव देहे उपचितस्वरूपे देवान् इन्द्रादीन् क्रीडामयान्, तथा क्रीडात्मकानेव सर्वान् भूतविशेषाणां चतुर्विधानां, संघान् समूहान् । दिव्यान् क्रीडार्थप्रकटितान् ऋषीन् नारदादीन्, पुनस्तामसान् उरगान् शेषादीन्,तन्मूलभूत कमलासनस्थं-नाभिपद्मस्थं ब्रह्माणम्, ईशं महादेवम् एवमेतान् सर्वान् पश्यामि ।।१५।।

यह प्रार्थना १७ श्लोकों से की है—हे देव ! हे पूज्य ! आपके स्वरूप में क्रीडामय इन्द्र आदि देवों को देखता हूँ । चार प्रकार के क्रीडामय सम्पूर्ण भूत विशेषों के संघ को देखता हूँ । क्रीडा के लिये प्रकट किये नारदादि ऋषियों को देखता हूँ, तामस उरगादिकों को, उनके मूलभूत नाभि में स्थितकमल में ब्रह्मा को, महादेव को तथा सबको देखता हूँ ।।१५।।

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम् ।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूपम्
।।१६।।

यस्य देहेन एतान् पश्यामि तादृशं त्वां च पश्यामीत्याह भ्रमाभावाय ।। अनेकेति ।। अनेकानि बाह्वादीनि यस्य । सर्वतोऽनन्तानि रूपाणि यस्यै-तादृशं त्वां पश्यामि । तादृशानेकरूपस्यापि तव अन्तं पूर्णभावं, मध्यं स्थिति-स्थानम्, आदिम्, उत्पत्तिस्थानं न पश्यामि । विश्वेश्वर ! विश्वपरिपालक ! किं बहुना विश्वरूपं पश्यामि ।।१६।।

जिसके देह से इनको देखता हूँ ऐसे तुमको ही देखता हूँ अतः भ्रम निवारणार्थ कहा है "अनेकबाहू०" ।

अनेकबाहु वाले, अनन्तरूप वाले तुमको देखता हूँ । अनेकरूप वाले मैं आपका अन्त=पूर्णभाव, मध्य=स्थिति स्थान, आदि=उत्पत्ति-स्थान, नहीं देखता हूँ । हे विश्व के पालक ! अधिक क्या कहूँ आपको विश्व के रूप में देख रहा हूँ ।।१६।।

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम् । पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ताद्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम्१७

किंच । किरीटिनं मुकुटालङ्कारयुक्तं रसात्मकं, गदिनं सकलप्राणाधिदैविकधर्मधारिणं, चक्रिणं तेजोरूपसुदर्शनधारिणं चकारेण तद्वत् मोक्षदानार्थमपि चक्रधारित्वं ज्ञापितम् । तेजोराशिं तेजःपुञ्जात्मकं । सर्वतो दीप्तिमन्तं परित उद्दीपककिरणयुक्तम् । तेजोयुक्तत्वे दीप्तियुक्तत्वे च दृष्टान्तमाह । दीप्तानलार्कद्युतिं । दीप्तौ यावनलार्कौ तयोर्द्युतिरिव द्युतिर्यस्य तादृशम् अप्रमेयं प्रमातुमयोग्यं त्वां समन्तात् दुर्निरीक्ष्यं पश्यामि ॥१७॥

मुकुटालङ्कार से युक्त (अतः रसात्मक) सम्पूर्ण प्राणियों के आधिदैविक धर्म को धारण करने वाले, तेजो रूप सुदर्शन धारण करने वाले । चकार से मोक्षदान के लिये भी चक्रधारण करने वाले, तेज के पुञ्ज, चारों ओर से उद्दीपक किरणों से युक्त (तेजो युक्तता में तथा दीप्ति युक्तता में दृष्टान्त)—दीप्त जो अग्नि-सूर्य उनकी धृति वाले प्रभा के अयोग्य आपको चारों ओर से दुर्निरीक्ष्य मानता हूँ ॥१७॥

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् । त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे १८

एवंभूतस्वरूपदर्शनेन स्वज्ञानार्थं निवेदयति ॥ त्वमिति ॥ अक्षरम् अक्षरस्वरूपं त्वमेव परमं ब्रह्म । त्वं वेदितव्यं भक्तानां ज्ञानिनां ज्ञेयरूपस्त्वमेव । अक्षरत्वेन सर्वोत्पत्तिकारणता निरूपिता । लयस्वरूपमाह । त्वम् अस्य विश्वस्य परम् उत्कृष्टं मोक्षरूपं निधानं निधीयतेऽस्मिन्निति लयस्थानम् । पालकत्वमाह । शाश्वतस्य नित्यस्य धर्मस्य गोप्ता पालको रक्षकस्त्वम् । एवमपि न गुणात्मकः किन्तु अव्ययः अविनाशी नित्यः । एवं सर्वधर्मानुक्त्वा मुख्यं स्वनिश्चिततामाह । सनातनः पुरुषः पुरुषोत्तमो मे मम मतः संमत इत्यर्थः ॥१८॥

इस प्रकार के स्वरूप दर्शन से अपने ज्ञान के लिये निवेदन करता हूँ—'त्वम्' । अक्षर स्वरूप आपही ब्रह्म हो । भक्तों के लिये आप ही ज्ञेय हो (अक्षरत्व कथन द्वारा

सबकी उत्पत्ति के कारण भगवान् हैं यह बतलाया है) अब लयस्वरूप बतलाते हैं— आप इस विश्व के उत्कृष्ट मोक्ष के लयस्थान हो (निधानम्=निधीयतेऽस्मिन्निति लय-स्थानम्) पालकत्व बतलाते हैं—इस शाश्वत धर्म के रक्षक आप ही हो। ऐसे होते हुए भी गुणात्मक नहीं हो किन्तु अव्यय हो अर्थात् नित्य हो। इस प्रकार सर्व धर्मो को बतलाकर मुख्य अपने निश्चय को अर्जुन बतलाता है कि मेरी संमति से आप पुरुषोत्तम हो ॥१८॥

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यमनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम् ।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम्१६

एवं पुरुषोत्तममुक्त्वा दृष्टं विश्वरूपमाह ॥ अनादीत्यादिना ॥ अनादि-मध्यान्तं न विद्यते आदिर्मध्यम् अन्तश्च यस्य उत्पत्तिस्थितिप्रलयरहितम्। अनन्तं वीर्यं पराक्रमो यस्य तम्। अनन्तबाहुम् अनन्ताः क्रियाशक्तयो यस्य। शशिसूर्यनेत्रं शशिसूर्यौ नेत्रे यस्य। दीप्तहुताशवक्त्रं दीप्तो धूमादिरहितो हुताशः अग्निर्वक्त्रेषु यस्य तम्। स्वतेजसा इदं परिदृश्यमानं विश्वं तपन्तं तेजोयुक्तं त्वां पश्यामि ॥१९॥

इस प्रकार पुरुषोत्तम भाव को बतलाकर देखे हुए विश्वरूप को बतलाता है—
अनादि····· ······ ······ ······ ······ ······

उत्पत्ति स्थिति प्रलय रहित अनन्त पराक्रमी अनन्त क्रिया शक्ति वाले चन्द्र-सूर्य नेत्र वाले, धूमरहित अग्निपूरित मुख वाले तथा अपने तेज से इस विश्व को प्रकाशित करने वाले तेजयुक्त आपको देखता हूँ ॥१९॥

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः।
दृष्ट्वाऽद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् २०

किंच। द्यावापृथिव्योरिति। इदं द्यावापृथिव्योः अन्तरम् अन्तरिक्षम् एकेन त्वया व्याप्तं। च पुनः। दिशः सर्वास्त्वया व्याप्ताः पश्यामि। किंच। हे महात्मन्! इतोऽप्यधिकप्रकटनसमर्थ! तव इदम् अद्भुतम् अलौकिकम् उग्रम् अदृष्टं रूपं दृष्ट्वा लोकत्रयं प्रव्यथितं प्रकर्षेण व्यथितं भीतं पश्यामीति पूर्वेणान्वयः ॥२०॥

इस द्युलोक और पृथ्वीलोक के मध्य स्थानीय अन्तरिक्ष लोक को एक आपने ही व्याप्त कर लिया है और सम्पूर्ण दिशाओं को भी आपने व्याप्त कर लिया है। हे महात्मन् ! (इससे भी अधिक प्रकट करने की शक्तिवाले) इस आपके अलौकिक अदृष्टरूप को देखकर तीनों लोकों को भयभीत मानता हूँ ॥२०॥

अमी हि त्वां सुरसंघा विशन्ति,
केचिद्भीताः प्रांजलयो गृणन्ति ।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाः,
स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः ॥२१॥

किंच । अमीहीति ॥ अमीसुरसंघाः देवसमूहाः त्वां त्वत्समीपे विशन्ति शरणमागच्छन्तीत्यर्थः । हीति युक्तमेव पुरुषोत्तमशरणागमनं देवानाम् । केचित् इतरे असुरा इत्यर्थः, भीताः सन्तः प्राञ्जलयो बद्धाञ्जलिपुटाः गृणन्ति रक्षेति वदन्तीत्यर्थः । महर्षिसिद्धसंघाः महर्षीणां सिद्धानां च समूहाः स्वस्ति अस्माकमस्तीत्युक्त्वा पुष्कलाभिः पूर्णाभिः स्तुतिभिः त्वां स्तुवन्ति ।२१॥

ये देवसमुदाय आपकी शरण में आ रहे हैं (किन्तु यह बात युक्त ही है कि देवता पुरुषोत्तम की शरण में आवें, यह ही शब्द का भाव है। असुर भयभीत होकर हाथ जोड़कर रक्षा करो ऐसा कह रहे हैं। महर्षि और सिद्धों का समुदाय हमारा कल्याण हो ऐसा कहकर पूर्ण स्तुतियों से आपका स्तवन कर रहे हैं ॥२१॥

रुद्राऽऽदित्या वसवो ये च साध्या
विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च ।
गन्धर्वयक्षाः सुरसिद्धसंघा वीक्षन्ते-
त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे[1] ॥२२॥

रुद्र, आदित्य, वसु साध्यगण विश्वेदेवा, अश्विनीकुमार, मरुत्देव ऊष्म पान करने वाले, गन्धर्व, यक्ष, सुरसिद्धों के वृन्द आपको विस्मित होकर देख रहे हैं ॥२२॥

---

१. एतद्व्याख्यानमादर्शे नोपलब्धम् ।

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं महाबाहो बहुबाहूरुपादम् ।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाऽहम्॥२३

किंच । रूपमिति ।। हे महाबाहो ! महत्कृपाशक्ति युक्त ! ते रूपं दृष्ट्वा लोकास्त्वत्स्वरूप एव स्थिताः प्रव्यथिताः भीता इत्यर्थः । तथा अहं च प्रव्यथितः । भयजनकत्वेन रूपं वर्णयति । बह्वित्यादिविशेषणैः । बहूनि वक्त्राणि नेत्राणि च यस्मिन् । बहवः बाहव ऊरवः पादाश्च यस्मिन् । बहूनि उदराणि यस्मिन् । बहुभिर्दंष्ट्राभिः करालं भयानकम् । वक्त्रबाहुल्येन गिलनसामर्थ्यं नेत्रबाहुल्येन सर्वतो दर्शनसामर्थ्यं । तेन निलायनाद्यशक्यत्वं । क्रियाबाहुल्येन ग्रहणसामर्थ्यम् । ऊरुपादबाहुल्येन धावनसामर्थ्यं तेनपलायनाद्यशक्तत्वम् । उदरबाहुल्येन जारणसामर्थ्यं । दंष्ट्राबाहुल्येन चर्वणसामर्थ्यं द्योतितम् । अत एवंविधं दृष्ट्वा त्वद्रूपस्थाश्चेल्लोकाः प्रव्यथितास्तदा मम कः संदेह इति तथेतिपदेन द्योतितम् ।।२३।।

हे महत्कृपा शक्ति युक्त ! आपके रूप को देखकर समस्त लोक आपके ही स्वरूप में भय से स्थित हो गये हैं । मैं भी भयभीत हूं ।

भयजनक रूप का वर्णन करता है—अनेक नेत्र वाले, अनेक चरण, उदरवाले, अनेक दंष्ट्राओं से विकराल मुख वाले, (यहाँ मुख बाहुल्य से निगरण सामर्थ्य, नेत्र बाहुल्य से चारों ओर से दर्शन सामर्थ्य विज्ञापित है) (क्रिया बाहुल्य से ग्रहण सामर्थ्य वर्णित है) पाद बाहुल्य से धावन सामर्थ्य, उदर बाहुल्य से जारण सामर्थ्य, दंष्ट्रा बाहुल्य से चर्वण सामर्थ्य । उदर बाहुल्य से जारण सामर्थ्य द्योतित है । अतः एवं विध रूप को देखकर आपके रूप में स्थित लोक यदि घबड़ा गये हैं तो मैं भयभीत हूं सन्देह ही क्या है, यह तथा पद से द्योतित है ।।२३।।

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं,
व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम् ।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा-
धृतिं न विंदामि शमं च विष्णो ।।२४।।

किंच । केवलस्वाधिष्ठितदेहाध्यासेन जीवस्यैव न भयं किंतु त्वदंशस्यान्तरात्मनोऽपि भयं समुत्पन्नमित्याह ।। नभःस्पृशमिति ।। नभ आकाशं

स्पृशति तत् आकाशव्यापि ज्ञातुमशक्यं । दीप्तं प्रज्वलत्तेजोराशिं ध्यानैकयोग्यम् । अनेकवर्णम् अनेके शुक्ललोहितादयो वर्णा यस्य तं निश्चययोग्यम् । व्यात्ताननं व्यात्तानि प्रसारितानि आननानि यस्य तं प्रार्थनायोग्यम् । दीप्तविशालनेत्रम् दीप्तानि ज्वलद्रूपाणि विशालानि नेत्राणि यस्य तं दर्शनायोग्यम् । एतादृशं त्वां दृष्ट्वा प्रव्यथितः अन्तरात्मा यस्य तादृशो हि निश्चयेन धृतिं धैर्यं शमं शान्तिं न विन्दामि न प्राप्नोमीत्यर्थः । स्वरक्षणार्थं विष्णो इति संबोधनम् ॥२४॥

केवल स्वअधिष्ठित देह के अभ्यास से जीव को ही भय नहीं है, किन्तु आपके अंश अन्तरात्मा को भी भय समुत्पन्न हो गया है। आकाश व्यापी (जानने योग्य) प्रज्वल तेजराशि (ध्यान के योग्य) अनेक शुक्ल-लोहित आदि वर्ण वाले (निश्चय योग्य) प्रसारित मुख वाले (प्रार्थना योग्य) ज्वलत् रूप नेत्रवाले (दर्शन योग्य) ऐसे आपको देखकर मेरी अन्तरात्मा व्यथित है। निश्चय से धैर्य शान्ति प्राप्त नहीं करता हूँ। अपने रक्षण के लिये विष्णो ! यह सम्बोधन है ॥२४॥

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि। दिशो न जाने न लभे च शर्म प्रसीद देवेश जगन्निवास २५

किंच भयाधिक्येन पुनर्विज्ञापयति ॥ दंष्ट्राकरालानीति ॥ हे देवेश ! सर्वपूज्य ! ते मुखानि दंष्ट्राभिः करालानि । च पुनः । कालानलसन्निभानि प्रलयाग्निसन्निभानि दृष्ट्वैव भयाद्दिशो न जाने गत्वा प्राप्यस्थानं न जानामि । शर्म त्वदवलोकनरूपं च सुखं न लभे । अतो हे जगन्निवास ! जगत्पालक ! जगतः सुखस्थितिरूप ! प्रसन्नो भव प्राप्यं स्थानं दर्शयेतिभावः ॥२५॥

भय की अधिकता से पुनः निवेदन करता हूँ—

हे देवेश ! सर्वपूज्य । आपकी दंष्ट्राओं से कराल भयोत्पादक तथा कालाग्नि को देखकर भय से गन्तव्य स्थान को नहीं जानता हूँ। आपके अवलोकन रूपीसुख को नहीं देखता हूँ। अतः हे जगन्निवास ! जगत्पालक ! जगत् के सुखस्थितिरूप ! प्रसन्न हो तथा प्राप्य स्थान को दिखलाओ ॥२५॥

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः सर्वे सहैवावनिपालसंघैः ।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथाऽसौ सहाऽस्मदीयैरपि योधमुख्यैः ॥२६॥

वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति दंष्ट्राकरालानि भयानकानि।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः ॥२७

एवं भगवत्स्वरूपस्थं जगद्दृष्ट्वा विज्ञाप्य 'यच्चान्यद्रष्टुमिच्छसीति' भगवतोक्तं तदर्थं बाह्यस्थः स्वपरसैन्यस्वरूपज्ञानदर्शनेच्छया दृष्ट्वा विज्ञापयति ॥ अमी चेति । पञ्चभिः । च पुनः । बाह्यस्थाः अमी परिदृश्यमानाः धृतराष्ट्रस्य पुत्रा आलोचनरहिताः सर्वे अवनिपालसंघैः जयद्रथादिसमूहैः सह भीष्मो योद्धा च, द्रोणः शास्त्रविशारदः, सूतपुत्रः कर्णः अस्मदीयैरपि योधमुख्यैः धृष्टद्युम्नादिभिः सह त्वरमाणा वेगवत्तराः दंष्ट्राकरालानि स्वतोऽपि भयानकानि वक्त्राणि विशन्ति प्रविशन्ति । प्रवेशानन्तरं दृष्टमाह । केचित् एके दशनान्तरेषु दन्तच्छिद्रेषु विलग्ना लम्बमानाः चूर्णितैः चूर्णीकृतैः उत्तमाङ्गैः संदृश्यन्ते ॥२६-२७॥

इस प्रकार भगवत्स्वरूपस्थ जगत् को देखकर बतलाकर "और जो कुछ देखना चाहते हो" ऐसा भगवान् का कथन उसका अर्थ स्वपर सैन्य स्वरूप ज्ञानदर्शन की इच्छा से देखकर विज्ञापित करता है ॥२६॥

५ श्लोकों से वर्णन है—ये धृतराष्ट्र के पुत्र जो इस समय नेत्ररहित हैं तथा जयद्रथ प्रभृति राजाओं के साथ यों ही भीष्म एवं शास्त्र विशारद द्रोणाचार्य, सूतपुत्र-कर्ण तथा हमारे योद्धा धृष्टद्युम्न आदि सभी वेगपूर्वक भयानक दंष्ट्राओं के भीतर प्रविष्ट हो रहे हैं । इनमें से कुछ-एक तो दांत के छिद्रों से लटक रहे हैं ॥२७॥

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः,
समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति ।
तथा तवाऽमी नरलोकवीरा विशन्ति,
वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति ॥२८॥

प्रवेशे दृष्टान्तमाह ॥ यथेति ॥ यथा नदीनां बहुधाप्रसरन्तीनां बहवः अम्बुवेगाः जलप्रवाहाः समुद्रमेव स्वलयस्थानमेव अभिमुखाः सम्मुखाः सन्तो द्रवन्ति प्रविशन्ति तथा अमी नरलोकवीराः अभिविज्वलन्ति=परितो दीप्यमानानि तव वक्त्राणि विशन्ति ॥२८॥

प्रवेश में दृष्टान्त बतलाते हैं—यथा बहुधा फैलने वाली नदियों का जलप्रवाह अपने लयस्थान समुद्र की ओर ही दौड़ता है वैसे ही ये नरलोक वीर चारों ओर से देदीप्यमान आपके मुख में प्रविष्ट हो रहे हैं ॥२८॥

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः ।
तथैव नाशाय विशन्ति लोकास्तवाऽपि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ॥२९॥

नदीदृष्टान्ते प्रकटतया नाशो न दृश्यत इति नाशार्थप्रवेशे दृष्टान्तान्तरमाह ॥ यथेति ॥ यथा पतङ्गाः सूक्ष्मकीटाः शलभाः स्वपक्षवेगमदावलिप्ताः नाशाय मरणार्थं प्रदीप्यमानं ज्वलनमग्निं विशन्ति । तथैव समृद्धवेगाः मदावलिप्ता एते लोकाः पूर्वोक्ताः नाशाय मरणाय तवापि वक्त्राणि विशन्ति ॥२९॥

नदी के दृष्टान्त से प्रत्यक्ष नाश नहीं है ऐसा सिद्ध होता है अतः दृष्टान्तर दिया है—यथा प्रदीप्तम्·································

जैसे पतङ्ग अपने पक्ष के वेग के मद से मरने के लिये जलती अग्नि में प्रविष्ट होता है वैसे ही मद से पूर्ण ये लोक मरने के लिये ही आपके मुख में प्रविष्ट हो रहे हैं । यदि यह शंका हो कि वे भले ही मुख में प्रविष्ट हो जाँय किन्तु भगवान् न मारें तो वे कैसे मरेंगे । अतः कहा है—॥२९॥

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ता-
ल्लोकान् समग्रान् वदनैर्ज्वलद्भिः ।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं-
भासस्तवोग्राःप्रतपन्ति विष्णो ॥३०॥

ननु भगवान् न नाशयेत्तदा किं तत्प्रवेशेनेत्यत आह ।।लेलिह्यस इति।। ग्रसमानः ग्रासं कुर्वन् समन्तात् सर्वतः समग्रान् लोकान् ज्वलद्भिः देदीप्यमानैर्वदनैः लेलिह्यसे भक्षयसि तवाऽपि तन्नाशेच्छैव दृश्यत इतिभावः ।। भगवानेवं कथ कुर्यादत आह। हे विष्णो!सर्वपालक सात्त्विकरक्षणार्थमेव। उग्राः प्रतपनसमर्थाः तव भासः किरणाः तेजोभिः स्फुरत्कान्तिभिः समग्रं जगदापूर्य प्रतपन्ति संतापयन्ति ।। अत्रायं भावः ।। विष्णुः सात्त्विकाधिष्ठाता सात्त्विकरक्षणार्थमेव दुष्टनाशं करोत्यत उचितमेव तथाकरणम् ।।३०।।

समस्त लोकों को ग्रास बनाकर देदीप्यमान वदन से आप भक्षण कर रहे हो, अतः आपकी भी उनके नाश करने की इच्छा दिखलाई दे रही है। भगवान् ऐसा क्यों कर रहे हैं अतः कहता है—हे सर्वपालक ! सात्विक भक्तों की रक्षा के लिये हीं तपाने में समर्थ। आपकी चमकती हुई किरणें समग्र जगत् को संतप्त करती है। भाव यह है कि विष्णु भगवान् सात्विक अधिष्ठाता हैं अतः सात्विकों की रक्षा के लिये ही दुष्टों का नाश करते हैं जो उचित ही है ।।३०।।

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद। विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं नहि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ।।३१।।

एवं समग्रजगत्तापनेन ममाऽपि संतापो भवत्यतो मयि प्रसन्नो भवेत्याह ।। आख्याहीति भवान् पूर्वरूपेण परिदृश्यमानः कः ? उग्ररूपः कः ? एतत् मे मह्यं हि निश्चयेन आख्याहि वद। तवाख्याने किं साधनमित्यत आह। हे देववर ! देवश्रेष्ठ ! देवाः पूजनेन तुष्यन्ति त्वं तु तेषामपि श्रेष्ठः प्रभुरतस्ते नमोऽस्तु। किमासनं ते गरुडासनायेत्यादिवाक्यैस्तव प्रसादे नमस्कार एव साधनमित्यर्थः। अतः प्रसीद प्रसन्नो भव। ननु प्रसादे स्वरूपाख्यानं किंप्रयोजनकमित्यत आह। विज्ञातुमिति। आद्यं पुरुषोत्तमं मूलभूतं भवन्तं विज्ञातुं विशेषेण सलीलं ज्ञातुमिच्छामि वाञ्छामि। यतस्तव प्रवृत्तिम् अत्र प्राकट्यरूपां चेष्टां लीलां हि निश्चयेन न प्रजानामि स्वरूपज्ञाने सति तज्ज्ञानमपि भविष्यतीत्यर्थः। एवं सलीलं त्वज्ज्ञानेन भजनं करिष्याम्यतो विज्ञातुमिच्छामीतिभावः ।।३१।।

इस प्रकार जब आप समग्र जगत् को संतप्त कर रहे हो तो मुझे भी संताप होगा अतः मुझ पर प्रसन्न होओ।

आप कौन हैं, यह उग्ररूप कौन है, इसे आप मुझे निश्चय ही समझाइये। यदि भगवान् शंका करें कि तुमने क्या साधन किया है तो अर्जुन कहता है कि हे देव श्रेष्ठ ! देवगण पूजा से सन्तुष्ट हो जाते हैं। आप उनसे भी श्रेष्ठ हो, प्रभु हो अतः आपको नमस्कार है। [illegible] और कौन सा आसन दिया जाय। अतः आपको प्रसन्न करने के लिये नमस्कार ही सबसे बड़ा साधन है। अतः आप प्रसन्न होओ। यदि प्रसन्न करना है तो स्वरूप की बात जानने का प्रयोजन ही क्या है ? अतः कहा है—पुरुषोत्तम ! आपको लीला सहित जानना चाहता हूँ क्योंकि आप ही तो आद्य=मूल कारण हो। आपकी प्राकट्य रूप चेष्टा को भी नहीं जानता, स्वरूप ज्ञान होने पर उसका ज्ञान भी हो जायगा। इस प्रकार लीला सहित आपके ज्ञान से भजन करूँगा। अतः जानना चाहता हूँ, यह भाव है ॥३१॥

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत् प्रवृद्धो,
लोकान् समाहर्तुमिह प्रवृत्तः ।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे,
येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥३२॥

एवं विज्ञप्तः सन् ॥ श्रीभगवान् उवाच ॥ कालोस्मीति त्रयेण । लोकक्षयकृत् लोकानां विनाशकः प्रवृद्धः ऊर्जितः लोकान् प्राणिनः इह बाह्यतः समाहर्तुं संहर्तुं स्वलीनान् कर्तुं प्रवृत्तः कालोऽस्मि । यद्दर्शनान्तरेषु योधास्त्वया दृष्टास्तत्कालात्मकं मत्स्वरूपमितिभावः । त्वां द्रष्टारं मत्कृपापात्रम् ऋते विना प्रत्यनीकेषु अनीकानि प्रत्यवस्थिताः ये योधास्ते सर्वेऽपि न भविष्यन्ति न स्थास्यन्तीति । यतोऽहं कालरूपः सर्वसंहारार्थं प्रवृत्तोऽस्मि । त्वाम् ऋते सर्वे न भविष्यन्तीत्युक्त्या त्वदर्थमेवैते मारिता इतिज्ञापितम् ॥३२॥

इस प्रकार अर्जुन के पूछने पर भगवान् ने कहा—

मैं लोकों का विनाशक हूँ, वृद्ध अर्थात् अजित हूँ। प्राणियों को बाहर से अपने में लीन करने को प्रवृत्त काल हूँ। जो दाँतों में योद्धा देखे थे वे कालात्मक मेरे स्वरूप थे। मेरे कृपापात्र केवल तेरे बिना शत्रुपक्ष में स्थित योद्धा भी नहीं रहेंगे। क्योंकि मैं कालरूप होकर सबके संहार के लिये प्रवृत्त हुआ हूँ। तेरे बिना और नहीं रहेंगे—इस कथन से यह सिद्ध किया है कि तेरे लिये ही इन्हें मारा गया है ॥३२॥

तस्मात् त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व,
जित्वा शत्रून् भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम् ।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव,
निमित्त मात्रं भव सव्यसाचिन् ॥ ३३ ॥

अतएव त्वमनायासेन यशो गृहाणेत्याह ॥ तस्मादिति ॥ हे सव्यसाचिन्! सव्येन वामेन हस्तेन सचितुं संधातुं शीलं यस्य तादृशस्त्वम् उत्तिष्ठ युद्धार्थं सज्जो भव। यशो लभस्व सव्यहस्तेनैव सर्वे मारिता इत्यादिरूपम्। शत्रून् दुर्योधनादीन् जित्वा समृद्धं राज्यं भुङ्क्ष्व। एते मया पूर्वमेव त्वन्मारणात् प्रथममेव निहताः मारिता अतो निमित्तमात्रं भव लोककथनार्थमर्जुनेन सर्वे मारिता इति ॥३३॥

तुम अनायास ही यश लाभ करो। अतः कहा है—

हे वामहस्त से लक्ष्यवेध करने वाले अर्जुन! युद्ध को खड़े हो, यश प्राप्त करो, दुर्योधनादि शत्रुओं को जीतकर राज्य भोगो। ये सब तेरे मारने से पूर्व ही मैंने मार डाले हैं, अतः निमित्त मात्र वाले! "लोक कथनमात्र के लिये कि शत्रुओं को अर्जुन ने मार डाला" इतना ही निमित्त बनो ॥३३॥

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च,
कर्णं तथाऽन्यानपि योधवीरान् ।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा,
युद्धस्व जेतासि रणे सपत्नान् ॥३४॥

द्रोणो ब्राह्मणत्वाद्भगवता कथं वध्यः, तथा भीष्मो भक्तः, तथैव जयद्रथः शिवात्प्राप्तप्रसादः, कर्णः कुन्तीपुत्रः, एतेषाममारणे कथं जयो भवेदतस्तान्नाम्ना प्राह ॥ द्रोणं चेति ॥ च पुनः। ब्राह्मणमपि द्रोणं, भीष्मं च भक्तमपि, जयद्रथं चकारेण प्राप्तवरमपि, कर्णं च कुन्तीपुत्रमपि तथाभूतानन्यानपि योधवीरान् युद्धविशारदान् मया हतांस्त्वं जहि मारय। स्वहतत्वोक्त्या 'इषुभिः कथं पूजार्हान् प्रतियोत्स्यामीति' यत् पूर्वमुक्तं स दोषोऽत्रानुकूल्यकरणेन निवारितः। यत एते मया हता अतो निःशङ्कं युद्धयस्व रणे सपत्नान् शत्रून् जेतासि जेष्यसि ॥३४॥

द्रोणाचार्य ब्राह्मण थे, भीष्म भक्त थे, जयद्रथ शिवजी का वर प्राप्त कर चुका था, कर्ण कुन्तीपुत्र कम इनका वध उचित नहीं और इनको बिना वध किये, जय कहाँ हैं? अतः कहा है—"द्रोणं च भीष्मं च" द्रोण, भीष्म, जयद्रथ, कर्ण तथा अन्य योद्धाओं को तू मार ! ये मेरे द्वारा मरे ही हैं अतः निःशंक होकर युद्ध कर।

अर्जुन ने कहा था "इषुभिः प्रतियोत्स्यामि" मैं पूज्यों पर बाण कैसे चलाऊँगा, उसका उत्तर यहाँ दिया है ॥३४॥

॥ संजय उवाच ॥

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य,
कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी।
नमस्कृत्वा भूय एवाऽऽह कृष्णं,
सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य ॥३५॥

ततोऽर्जुनः किं कृतवानित्याकांक्षायां संजयो धृतराष्ट्रं प्रत्याह ॥ एतदिति ॥ एतत् पूर्वोक्तं केशवस्य ब्रह्मशिवयोरपि मोक्षदातुः वचनं श्रुत्वा किरीटी अर्जुनः वेपमानः भगवता राजभोगे विनियुक्तस्तदयुक्तं मन्वानो मोक्षाभिलाषवत्त्वात् कम्पमानो जातः। ततो विज्ञापनार्थं कृताञ्जलिः। भीतभीत इति। भगवदाज्ञायां पुनर्विज्ञापने कदाचिदप्रसन्नो भवेदिति महाभीतः सन् प्रणम्य प्रकर्षेण मनसा नमस्कृत्य कृष्णं सदानन्दं सगद्गदं प्रेमोपरुद्धकण्ठं यथा तथा भूयः पुनः नमस्कृत्यैव अतीव दीनो भूत्वा आह विज्ञप्तिं कृतवानित्यर्थः ॥३५॥

अर्जुन ने फिर क्या किया, इस आकांक्षा में संजय ने धृतराष्ट्र से कहा…………

केशव (ब्रह्मा, शिव के भी मोक्षदाता) के वचन को सुनकर अर्जुन काँपने लगा (भगवान् ने राजभोग में विनियोग किया, यह अनुचित था, अतः अर्जुन काँपने लगा था) इसे विज्ञापित करनेके लिये ही हाथ जोड़ लिये। महाभीत भी इसलिए हुआ कि पुनः पुनः कहने से भगवान् अप्रसन्न न हो जाँय। कृष्ण को प्रणाम कर प्रेम से रुके कण्ठ वाला बार-बार नमस्कार करके अत्यन्तदीन होकर बोला ॥३५॥

॥ अर्जुन उवाच ॥

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या,
जगत् प्रहृष्यत्यनुरज्यते च।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति,
सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः ॥३६॥

किमर्जुनो विज्ञापितवानित्याकांक्षायामर्जुनवाक्यान्याह ॥ अर्जुन उवाच ॥ स्थान इत्येकादशभिः एकादशेन्द्रियैरपि शुद्धं विज्ञाप्यमित्येकादशभिर्विज्ञापयति। हे हृषीकेश यतस्त्वं सर्वेन्द्रियप्रेरकस्तस्मात् स्थाने स्थितौ तव प्रकीर्त्या तव गुणसंकीर्तनेन जगत् प्रहृष्यति हर्षमाप्नोति। च पुनः। अन्यत् कीर्तनश्रवणेन अनुरज्यते अनुरागयुक्तं भवति। ननु बाधकेषु विद्यमानेषु कीर्तनं कर्तुं कथं शक्यमित्याशङ्कय कीर्तनेनैव बाधनाशो भवतीत्याह। रक्षांसीति। तव कीर्तनेनैव भीतानि सन्ति रक्षांसि दिशः प्रति द्रवन्ति पलायन्ते। तथा सिद्धसङ्घाः सिद्धानां प्राप्तज्ञानानां समूहाः नमस्यन्ति प्रणमन्तीत्यर्थः ॥३६॥

अर्जुन ने क्या कहा इसे—११ श्लोकों से कहते हैं। भगवान् एकादश इन्द्रियों के शुद्ध होने पर ही समझे जा सकते हैं, अतः ११ श्लोकों से निवेदन किया। "हे इन्द्रिय प्रेरक! स्थिति में तुम्हारे गुण संकीर्तन से जगत् प्रसन्न होता है। कीर्तन श्रवण से अनुराग युक्त होता है। यदि यह विचार किया जाय कि बाधकों के विद्यमान रहने पर कीर्तन कैसे किया जा सकता है, अतः कहते हैं कीर्तन द्वारा ही बाधाओं का

नाश होता है, अतः कहा है—आपके कीर्तन मात्र से ही राक्षस भयभीत होकर मारे जाते हैं सिद्धों के समुदाय आपको प्रणाम करते हैं ।।३६।।

कस्माच्च ते न नमेरन् महात्मन् गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे। अनन्तदेवेश जगन्निवास त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् ।।३७।।

ननु सिद्धाः किमिति नमन्तीत्यत आह ।। कस्मादिति । हे महात्मन् महतामात्मस्वरूप यस्मात्तेषां भक्तानां स्वरूपं त्वमेवातस्ते तुभ्यं कस्मान्न नमेरन् न नमस्कुर्युः कीदृशाय गरीयसे गुरवे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे जनकाय । किंच । हे अनन्तदेवेश अनन्तानां देवानाम् ईश प्रभो ! हे जगन्निवास ! सकलाश्रय ! अक्षरंत्वमेव सत् असच्च सर्वं त्वमेव यत् परं पुरुषोत्तमाख्यं ब्रह्मतत्त्वम् अतो नमन्तीत्यर्थः ।।३७।।

यदि यह शंका हो कि सिद्ध क्यों नमस्कार करते हैं तो कहते हैं कि—

भक्तों के स्वरूप आप ही हो, अतः तुम्हें क्यों नमस्कार न करें, आप तो जगत् रचयिता ब्रह्मा के भी जनक हो । हे अनन्तदेवों के स्वामी ! हे जगदाश्रय ! सत् अक्षर आप हो और असत् भी आप हो । परं=अर्थात् पुरुषोत्तमाख्य ब्रह्मतत्त्व आप ही हो, अतः आपको नमस्कार करते है ।।३७।।

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्। वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ३८

किंच ।। त्वमादिदेव इति ।। त्वं देवानामादिः । तथा त्वं ब्रह्माऽप्यसीत्यत आह । पुरुषः । तत् त्वमक्षरेऽपि वर्तस इत्यतः पुराणः पुरुषोत्तम इत्यर्थः । पुरुषोत्तमधर्मानिवाह । त्वम् अस्य परिदृश्यमानस्य विश्वस्य परम् उत्कृष्टम् आधिदैविकरूपेण स्वस्मिन् स्थानं स्वरतीच्छारूपं निधानं लयस्थानं परं विश्वस्यक्रीडाप्रकटितस्वरूपज्ञानेन सर्वत्र रमणकर्ता त्वम् असि विश्वस्य विश्वस्मिन् वा वेद्यं ज्ञेयं त्वं च त्वमेवेत्यर्थः । च पुनः परं धाम वैकुण्ठाख्यं तेजोरूपं पुरुषोत्तमगृहात्मकं वा त्वम् हे अनन्तरूप ! इदं विश्वं त्वया ततं व्याप्तं त्वद्रूपमेवेत्यर्थः । अनन्तरूपमिति ।।३८।।

आप देवों में प्रथम हो। ब्रह्म भी हो। अक्षर में भी विद्यमान हो, अतः पुराण पुरुषोत्तम हो। पुरुषोत्तम के धर्म बतलाते हैं—आप इस दृश्यमान विश्व से भी उत्कृष्ट हो, आधिदैविक रूप से अपनी रतीच्छा रूप निधान=लयस्थान हो, क्रीडा प्रकटित स्वरूप ज्ञान से सर्वत्र रमणकर्ता हो। इस सम्पूर्ण विश्व में आप ही ज्ञेय हो=जानने योग्य हो। आप ही वैकुण्ठ धाम रूप हो अथवा पुरुषोत्तम गृहस्वरूप हो। हे अनन्त रूप! यह विश्व आपका ही रूप है ॥३८॥

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च।
नमोनमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमोनमस्ते ३९

वायुरिति ॥ वायुः सर्वप्रेरकः सर्वप्राणरूपः, यमः सर्वनियमनः, अग्निः सर्वाधारः वरुणः जलाधिपः सर्वरसपूरकः, शशाङ्कः सर्वानन्दकरः, प्रजापतिः सर्वोत्पादकः। च पुनः प्रपितामहः ब्रह्मणोऽपि पिता अतः सर्वरूपस्त्वं तस्मात् पूर्वोक्ताः कथं तुभ्यं न नमस्कुर्युः। अतः सर्वरूपत्वादाधिदैविकत्वात् त्वमेव नमस्यः। अतोऽहमपि नमस्करोमि सहस्रकृत्वः सहस्रशः ते तुभ्यं नमोनमोऽस्तु! अस्त्विवतिपदेन त्वमङ्गीकुर्विविति ज्ञापितम्। पुनश्चाङ्गीकारानन्तरमपि भूयः वारं वारं ते नमोनमः करोमीत्यर्थः ॥३९॥

सबके प्रेरक या प्राणरूप वायु हो, सबके नियमनकर्ता हो, सबके आधार हो, जलों के स्वामी हो=सम्पूर्ण रसों के पूरक हो! सर्वानन्दकारी हो। शिव के उत्पादक हो। ब्रह्मा के भी पिता हो, सर्वरूप हो अतः सिद्ध आपको नमस्कार क्यों न करें। आधिदैविक के कारण आप ही नमस्कार योग्य हो। अतः मैं भी आपको सहस्त्रबार नमस्कार करता हूँ। अस्तुपद का अभिप्राय है कि आप भी इसे अङ्गीकार करें। अङ्गीकार के पश्चात् भी मैं वारम्बार आपको नमस्कार करता हूँ ॥३९॥

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥४०॥

किंच ॥ नम इति ॥ हे सर्व! सर्वात्मन्! पुरस्तात्पूर्वदिशि पृष्ठतः पश्चिमायां सर्वतः दक्षिणोत्तरकोणादिषु सर्वासु दिक्षु ते नमोनम एवास्तु

'किमासनं ते गरुडासनायेत्यादिवाक्यैर्नान्यत्किंचिदपि कर्तुं शक्यमितिभावः। इदमेवैवकारेण व्यञ्जितम्। यद्वा पृष्ठतः पश्चात् सर्वतः दक्षिणोत्तरादिभागेषु नमः कृतो नमस्कारः ते पुरस्तादेव पूर्वभाव एव सन्मुख एवास्त्विति वार्थः॥ ननु पश्चाद्भागकृतो नमस्कारः कथं पूर्वभागीयः स्यादत आह। अनन्तेति। अनन्तं वीर्यं सामर्थ्यम् अमितो बहुतरः पराक्रमो यस्य तादृशस्त्वं सर्वं जगत् समाप्नोषि तत्तद्रूपनामभेदेन सर्वरूपो भूत्वा वर्तसे ततः सर्वः सर्वरूपस्त्वमसि अतः पृष्ठतोऽपि नमस्कृतो पूर्वभागो न बाध्यत इत्यर्थः॥४०॥

हे सर्वात्मन्, पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण एवं उनके कोणों में भी आपको नमस्कार हो। "गरुडासन को क्या आसन दिया जाय" इत्यादि वाक्यों से और कुछ भी करना शक्य नहीं है। यह भाव 'एव' पद से व्यक्त है। अथवा आपके पीछे किया हुआ नमस्कार, कोणों से किया नमस्कार भी आपके सम्मुख आये यह 'वा' शब्द का अर्थ है। पीछे के भाग में किया नमस्कार आगे कैसे आयेगा, अत. कहते हैं—आप अमित पराक्रम वाले हो अतः सम्पूर्ण जगत् में व्याप्त होकर स्थित हो उन-उन नामरूप भेदों वाले स्वयं बनते हो। अतः पीछे की ओर नमस्कार करने पर भी कोई बाधा नहीं है॥४०॥

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।
अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात् प्रणयेन वाऽपि ४१
यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि विहारशय्यासनभोजनेषु।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं तत् क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ४२

एवं नमस्कृत्य पूर्वाज्ञानजानपराधान् क्षमापयति॥ सखेति॥ द्वयेन। मया तव इदं पुरुषोत्तमत्वेन सर्वरूपात्मकरूपं महिमानमजानता प्रमादादनवधानतया प्रणयेन स्नेहेन वाऽपि प्रसभं बलात्कारेण अकार्येषु योजनार्थं हे कृष्ण इति नामत्वेन नतु सदात्मकत्वेन, हे यादव इति तत्कुलोद्भवत्वेन नतु तदुद्धारार्थप्रकटत्वेन, हे सखेति मित्रत्वेन लौकिकबुद्धया नतु परमात्मत्वेन यदुक्तं च। पुनः। सखेति मत्वा अवहासार्थमिथ्यावादादिभिः एकः केवलो मां विहाय विहारादिकं करोषीत्यादिभिः। अथवा मत्समक्षं विहारे द्यूत-

मृगयादिषु स्वजनत्वमुद्भावयता शय्यायां सहशयनेन, आसने सहोपवेशेन, भोजने सहभुञ्जता इत्यादिषु यत् असत्कृतोऽसि अवमनितोऽसि हे अच्युत ! च्युतिरहित ! स्वाङ्गीकृतपरिपालक ! अहं त्वाम् अप्रमेयं प्रमातुमयोग्यं तत्सर्वं क्षामये क्षमां कारयामि । अप्रमेयत्वेनाऽज्ञानजाऽपराधनिवृत्तिः सूचिता ॥४१-४२॥

नमस्कार करके पूर्वकृत अपराधों से क्षमा की याचना करता है दो श्लोकों से—

मैंने सर्वरूपात्मक आपकी महिमा को न जानकर अनवधानता से या स्नेह से या बलात् अकार्यों में लगाने के कारण, हे कृष्ण इस नाम से न कि सदात्म भाव से, हे यादव, ऐसा यदुकुल में उत्पन्न होने के कारण कहा, उनके उद्धार प्रकटन के लिये नहीं। "हे सखा शब्द" मित्रत्व लौकिक बुद्धि से कहा न कि परमात्मत्व से—ऐसा जो कहा है और सखा मानकर जो आपसे कहा कि "मुझे छोड़कर विहारादिक करते हो" आदि अथवा मेरे सामने विहार में—मृगया, द्यूत आदि में स्वजन मानकर, साथ-साथ शयन, आसन पर बैठना, साथ भोजनादि से जो असत्कार किया है सो हे अच्युत ! च्युति रहित ! अपने अङ्गीकार किये के पालन करने वाले मैं तुम्हारा पता नहीं लगा सकता (थाह नहीं ला सकता) अतः इन दोषों को क्षमा कराऊँगा। अप्रमेयत्व कथन से अज्ञान जन्य अपराधों की निवृत्ति सूचित की गई है ॥४१-४२॥

पिताऽसि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ॥४३॥

क्षमापने संबन्धस्यावश्यकत्वायाह ॥ पितेति ॥ अस्य चराचरस्य स्थावरजङ्गमात्मकस्य ब्राह्मणक्षत्रिययोर्वा[1] पिता उत्पादकः, च पुनः गरीयान् पूज्यः देवोत्तमः तद्द्रष्टा गुरुः त्वमसि । तर्हि त्वत्समो भविष्यतीति नेत्याह । हे अप्रतिमप्रभाव ! उपमारहितानुभाव ! लोकत्रये अन्यस्त्वत्समोऽपि नास्ति कुतोऽभ्यधिको भवेत् येन त्वं तत्समः स्याः ॥४३॥

क्षमापन में सम्बन्ध की आवश्यकता बतलाते हैं—

इस चराचर जगत् अथवा ब्राह्मण, क्षत्रिय के उत्पादक आप ही हो "अत्ता चराचरग्रहणात्" इस ब्रह्मसूत्र में ब्रह्मक्षत्र का उल्लेख किया है अतः अप्रतिपाद्य होने

१. अत्ता चराचरग्रहणादिति सूत्र विषयवाक्यस्थब्रह्मक्षत्रयोश्चराचरपदप्रतिपाद्यत्वादत्रापि तथैव व्याख्यानम् ।

पर भी यहाँ उसे रखा गया है) आप ही पूज्य हो, देवोत्तम हो, द्रष्टा हो। तो तुम्हारे समान कोई नहीं है? अतः कहा है—हे उपमा रहित अनुभाव वाले! तीनों लोकों में आपके समान कोई नहीं है तो अधिक की कल्पना ही व्यर्थ है ॥४३॥

तस्मात् प्रणम्य प्रणिधाय कायं,
प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः,
प्रियः प्रियायार्हसि देवसोढुम् ॥४४॥

यतः सर्वेषां पिता गुरुः पूज्यश्च त्वमेवाऽतो ममापि सर्वं त्वमेवेति मदपराधं क्षन्तुमर्हसीति विज्ञापयति ॥ तस्मादिति ॥ तस्मात्कारणात् अहं त्वाम् ईशं प्रभुमीड्यं स्तुत्यं, कायं प्रणिधाय दण्डवत् पतित्वा प्रणम्य नत्वा प्रसादये प्रसादयामि! हे देव। जगत्पूज्य! त्वं पूर्वोक्तान् ममापराधान् सोढुम् अर्हसि क इव? पुत्रस्य पितेव सख्युर्मित्रस्य सखा इव प्रियायाः प्रीतियोग्यायाः स्त्रियाः प्रिय इव ॥४४॥

सबके पिता गुरु और पूज्य आप ही तो हैं, अतः मेरे ही सर्वस्व आप हैं, अतः मेरे अपराध क्षमा करें, अतः कहता है 'तस्मात्' इस कारण मैं सर्वसमर्थ, स्तुति योग्य; आपके चरणों में गिरकर प्रसन्न करता हूँ हे देव जगत् पूज्य! आप पूर्वोक्त मेरे अपराधों को सहन करने योग्य हो उसी प्रकार हो जिस प्रकार पुत्र के अपराध को पिता मित्र के अपराध को मित्र, प्रिया के अपराधों को प्रिय सहन करता है ॥४४॥

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे।
तदेव मे दर्शय देव रूपं प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥४५॥

एवं क्षमाप्य विज्ञापयति ॥ अदृष्टपूर्वमिति ॥ द्वयेन। अदृष्टपूर्वं तव रूपं विश्वात्मकम् अनेकलीलायुतं दृष्ट्वा हृषितोऽस्मि हर्षं प्राप्तोऽस्मि। च पुनः। मे मनः भयेन प्रव्यथितं प्रकर्षेण व्यथां प्राप्तम् ॥ अयं भावः द्रष्टुकामस्य तादृश रूपं दर्शयित्वा पुरुषोत्तमदर्शनवतोऽन्यरूपदर्शनाभिलाषापराधिनः पुनः पुरुषोत्तमरूपं दर्शयिष्यति नवेति भयमभूत्। अतः प्रसादं प्रार्थयित्वातद्दर्शनं

प्रार्थयति देवेश ! देवोनामपीन्द्रादीनाम् ईश ! नियामक ! जगन्निवास ! प्रसीद प्रसन्नो भव प्रसन्नो भूत्वा हे देव ! सेवनार्थं तदेव पुरुषोत्तमरूपं दर्शय ॥४५॥

इस प्रकार क्षमा की याचना कर विज्ञापन करता है—

आपके कभी न देखे विश्वात्मक रूप को देखकर बड़ा ही हर्ष हो रहा है, और अब मेरा मन भयभीत भी है भाव यह है, कि आपने मुझे मेरी भावना के अनुरूप दर्शन दे दिया, किन्तु पुरुषोत्तम दर्शन योग्य ने उससे भिन्न का दर्शन कर लिया है, जो अपराध है अब वही पुरुषोत्तम रूप दिखलाई देगा या नहीं, अतः भय हुआ है। अतः कृपा की प्रार्थना कर दर्शन की प्रार्थना करता है—हे इन्द्रादि देवों के भी देव ! जगन्निवास ! प्रसन्न होकर, हे देव ! सेवन के लिये उसी पुरुषोत्तम रूप का दर्शन दो ॥४५॥

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तमिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव ।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ॥४६॥

रूपं विशिनष्टि किरीटिनमिति ॥ किरीटवन्तं गदावन्तं चक्रहस्तं त्वामहं तथैव पूर्ववदेव द्रष्टुमिच्छामि । अतो हे सहस्रबाहो ! अगणितक्रियाशक्तिमन् ! विश्वमूर्ते ! तेनैव चतुर्भुजेन रूपेण भव प्रकटो भवेत्यर्थः ॥४६॥

किरीटयुक्त गदायुक्त चक्र धारण किये आपको पूर्ववत् ही देखना चाहता हूँ। अतः हे सहस्रबाहो ! अगणित क्रियाशक्ति वाले विश्वमूर्ति भगवन् ! उसी चतुर्भुज रूप से प्रकट होवे ॥४६॥

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

मया प्रसन्नेन तवाऽर्जुनेदं रूपं परं दर्शितमात्मयोगात् ।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ४७

एवं प्रार्थितोऽर्जुनमाश्वासयन् स्वरूपं दर्शयामास तत्र पूर्वमाश्वासनमाह ॥ श्रीभगवानुवाच ॥ मयेति ॥ हे अर्जुन ! मया सर्वदा त्वयि प्रसन्नेन आत्मयोगात् स्वकीयत्वयोगाच्च तव परम् इच्छया इदं रूपं दर्शितम् कीदृशं तेजोमयं विश्वं विश्वात्मकम् अनन्तम् अन्तरहितम् आद्यं सनातनं यत् मे

रूपं त्वदन्येन त्वां विना केनाऽपि दृष्टपूर्वं न तादृश रूपं त्वदिच्छया दर्शितमित्यर्थः ।।४७।।

इस प्रकार प्रार्थना करने वाले अर्जुन को आश्वस्त कर स्वरूप का दर्शन कराया। आश्वासन कहते हैं—मैं तुम पर प्रसन्न हूं, अतः इच्छा से ही यह दर्शन दिया है। यह तेजोमय रूप विश्वात्मक है, अन्तरहित है सनातन है और यह रूप तेरे बिना किसी अन्य ने देखा भी नहीं है। यह रूप तेरी इच्छा से दिखाया है।।४७।।

न वेदयज्ञाध्ययनैर्नदानैर्नच क्रियाभिर्नतपोभिरुग्रैः ।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ।।४८।।

एवं त्वदिच्छयैवेदं रूपं दर्शितमिदानीं च पूर्वतनमेव रूपं पश्य दर्शनीयस्य रूपस्य दुर्लभत्वायाऽर्जुनेकृपाऽधिक्यमाह।। न वेदेति ।। न वेदयज्ञाध्ययनैः वेदानां सार्थकशब्दात्मकानां यज्ञानामानुपूर्व्यादिसहितविद्याक्रियाणाम् अध्ययनैः, न दानैः तुलापुरुषादिभिः, नच क्रियाभिरग्निहोत्रादिरूपाभिः, न तपोभिरुग्रैः कृच्छ्र चान्द्रायणादिभिः नृलोके मनुष्यलोके एवंरूपः अहं पुरुषोत्तमः हे कुरुप्रवीर! भक्तकुलश्रेष्ठ! त्वदन्येन त्वामपहायान्येन द्रष्टुं पूर्वोक्तैः साधनैरपि न शक्यः न समर्थः ।।४८।।

तेरी इच्छा से यह रूप दिखलाया है। अब पूर्वदृष्ट रूप को ही देखो। दर्शनीय रूप के दुर्लभ होने से कृपाधिक्य कहते हैं, सार्थक शब्द वेदों से, यज्ञों से आनुपूर्वी सहित अध्ययन से दान से—तुला पुरुषादि से, अग्नि होत्रादि रूप क्रियाओं से, कृच्छ्र, चान्द्रायणादि उग्रतपों से भी इस मनुष्य लोक में मैं पुरुषोत्तम देखने योग्य नहीं हूं। तेरे अतिरिक्त कोई भी पूर्वोक्त साधनों से मेरा दर्शन नहीं कर सकता ।।४८।।

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो,
दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ् ममेदम् ।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं,
तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ।। ४९ ।।

यदन्येन न शक्यस्ततः पूर्वोक्तभयाऽऽशङ्कादिरहितस्तदेव रूपं पश्येत्याह ।। मा त इति ।। ते व्यथा न दर्शयिष्यामीत्यादिरूपा माऽस्तु। च पुनः। मम

घोरं भयानकम् ईदृक् सर्वग्रसनादिधर्मयुक्तम् इदं परिदृश्यमानं दृष्ट्वा विमूढ-भावः मोहरूपो माऽस्तु। व्यपेतभीः विगतभयः प्रीतमनाः संस्तदेव पूर्वदृष्टमेव मे इदं रूपं प्रपश्य प्रकर्षेण यथाऽभिलाषं भक्तियुतः पश्येत्यर्थः ॥४९॥

जिसे अन्य नहीं देख सकते, उसे पूर्वोक्त भय आशङ्का आदि से रहित होकर उसी रूप को देख मैं नहीं दिखाऊँगा ऐसी व्यथा न करो। मेरे भयंकर सबको ग्रसने वाले रूप को देखकर मोहरूप को प्राप्त न कर। भय रहित होकर प्रसन्न चित्त होकर पूर्वदृष्ट मेरे इस रूप को यथाभिलाष मुक्ति युक्त होकर देख ॥४९॥

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो,
दृष्ट्वा रूपं दर्शयामास भूयः।
आश्वासयामास च भीतमेनं,
भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥५०॥

एवमुक्त्वा स्वरूपं दर्शयामासेति संजय आह॥ इतीति अमुना प्रकारेण वासुदेवः मोक्षदाता परमकृपालुः अर्जुनं तथा पूर्वप्रकारेणोक्त्वा स्वकं स्वीयं पुरुषोत्तमरूपं भूयः पुनः दर्शयामास एवं दर्शयित्वा सौम्यवपुर्भूत्वा च पुनः पूर्वरूपदर्शनभीतम् एनम् अर्जुनं पुनराश्वासयामास। नन्वेवं बारं बारं कथं कृतवानित्यत आह। महात्मेति महांश्चासौ आत्मा च तेन कृपया तथा कृत-वानितिभावः। यद्वा महतां भक्तानाम् आत्मा अतो भक्तत्वात्तथा कृतवा-नित्यर्थः ॥५०॥

यह कहकर अपना स्वरूप अर्जुन को दिखाया। संजय ने कहा—

इस प्रकार से मोक्षदाता वासुदेव ने अर्जुन को पुरुषोत्तम रूप के दर्शन करा दिये, इस प्रकार सौम्य वपु होकर पूर्वरूप दर्शन से भयभीत इस अर्जुन को आश्वस्त किया। यदि यह कहें कि बार-बार क्यों किया अतः कहा है—महान् आत्मा उसने कृपया से किया। अथवा बड़े भक्तों के आत्मा होने से ऐसा किया ॥५०॥

॥ अर्जुन उवाच ॥

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥५१॥

दर्शितस्वरूपं दृष्ट्वाऽर्जुनो विज्ञापयति ॥ दृष्ट्वेति ॥ हे जनार्दन ! अविद्यानाशक ! इदं पुरतो दृश्यमानं मानुषं मनुष्यैर्द्रष्टुं योग्यं सौम्यं दयापरीतं दयायुक्तं तव रूपं दृष्ट्वा इदानीम् अधुना सचेताः सावधानचित्तः संवृत्तः जातोस्मि । प्रकृतिं भक्तिरूपां गतः प्राप्तोऽस्मि ॥५१॥

दर्शित रूप को देखकर अर्जुन ने कहा—हे अविद्यानाशक ! यह प्रत्यक्ष दृश्यमान मनुष्यों के देखने योग्य दयापर तेरे रूप को देखकर सावधान चित्त हो गया हूँ। भक्तिरूप प्रकृति को प्राप्त हो गया हूँ॥५१॥

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम ।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकांक्षिणः ॥५२॥

स्वस्य रूपस्य स्वाऽनुग्रहैकसाध्यत्वेन परमदुर्लभत्वमाह ॥ श्रीभगवानुवाच ॥ सुदुर्दर्शमिति ॥ इदं परिदृश्यमानं मम रूपं सुदुर्दर्शं सुष्ठु दुःखेनाऽपि द्रष्टुमशक्यं यत् त्वं दृष्टवानसि देवा अपि मत्क्रीडायोग्या मदंशा अपि अस्य नित्यं प्रत्यहं दर्शनकाङ्क्षिणः दर्शनेच्छवस्तिष्ठन्तीत्यर्थः ॥ अत्रायं भावः ॥ ब्रह्माऽऽदयो देवाः श्रीदेवकीगृहे स्तुत्वा गतास्तदा गर्भ एव प्राकट्यं न बहिः, बहिः प्राकट्यानन्तरं तु मातृप्रार्थनया तिरोहितं कृत्वा ध्यानाऽऽस्पदत्वेन स्थापितं देवादीनां तु तद्वृत्तान्ताज्ञानाद्वेदोक्तरीत्या भजनात्तादृक्स्वरूपदर्शनमेवभवति इदं च स्वरूपं भावात्मकं वेदाद्यगम्यं भक्तमुखात् श्रुत्वाकाङ्क्षिणस्तिष्ठन्तीति तथा ॥५२॥

अपने रूप को जो अनुग्रह द्वारा ही देखने योग्य है परम दुर्लभता बतलाते हैं। यह परिदृश्यमान मेरा रूप दुःख से भी देखने योग्य नहीं है जिसे तुमने देखा है। देवता भी मेरे क्रीडायोग्य मेरे अंश है, इस रूप के दर्शन के इच्छुक हैं। ब्रह्मादि देव श्रीदेवकी के गर्भ में स्तुति करके चले गये तो प्राकट्य गर्भ में ही है, बाहर नहीं। बाह्य प्राकट्य के अनन्तर माता की प्रार्थना से अपना रूप तिरोहित कर लिया। ध्यानास्पद से स्थापित देवादिकों के उस वृत्तान्त के अज्ञान से वेदोक्त रीति से भजने से उस प्रकार का स्वरूप दर्शन होता है। यह स्वरूप भावात्मक वेदादि द्वारा भी अगम्य है, भक्त के मुख से सुनकर आकांक्षायुक्त रहते हैं ॥५२॥

नाऽहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥५३॥

ननु ते वेदाद्युक्तसाधनैः कथं न पश्यन्तीत्यत आह ॥ नाहमिति ॥ यथात्वं मां दृष्टवानसि एवंविधः पुरुषोत्तमोऽहं परिदृश्यमानवेदैः वेदोक्तसाधनैः वेदैरेव वा न,अतएव यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सहेत्युक्तम् । तपसा क्लेशात्मकेनाऽपि न, दानेन सर्वस्वदक्षिणात्मकेन न, इज्यया यागेन न द्रष्टुं शक्यः ॥५३॥

यदि यह कहें कि वेदादि उक्त साधनों से क्यों नहीं देखते अतः कहा है—

जिस प्रकार तुमने मुझे देखा है, इस प्रकार के पुरुषोत्तम रूप को वेदोक्त साधनों अथवा वेदों से भी नहीं देख सकते । वेद में लिखा भी है जहाँ वाणी भी नहीं जाती तैत्तरीय उपनिषद् में कहा है । क्लेशात्मक तपस्या से भी नहीं, सर्वस्व दक्षिणात्मक दान से भी नहीं, यज्ञ से भी देखा नहीं जाता ॥५३॥

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ! ॥५४॥

तदा कथं द्रष्टुं शक्य इत्यत आह ॥ भक्त्येति ॥ हे अर्जुन ! हे परन्तप ! इति स्नेहेन वीप्सयासंबोधनम् एवंविधोऽहम् अनन्यया न विद्यते अन्य पारलौकिकैहिकयत्नो यस्यां तादृश्या भक्त्या तत्त्वेन याथार्थ्यस्वरूपेण ज्ञातुं च पुनरलौकिकभावदृष्ट्या द्रष्टुं च पुनः प्रवेष्टुम् अलौकिकरूपेण लीलासु सेवनार्थं शक्यः अस्मीतिशेषः ॥५४॥

तब कैसे देखा जाय अतः कहा है—हे परन्तप ! स्नेह के कारण पुनरुक्ति है । मुझे पारलौकिक ऐहिक यत्न भक्ति तत्व से याथार्थ्य स्वरूप से अलौकिक भाव दृष्टि से देखने, पुनः प्रवेश पाने को अलौकिक रूप में सेवन को शक्य हूँ ॥५४॥

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः संगवर्जितः ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥५५॥

इतिश्रीभगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णाऽर्जुनसंवादे विश्वरूपदर्शनयोगो नाम एकादशोऽध्यायः ॥११॥

नन्वनन्यभक्तः कथं ज्ञेय इत्याकांक्षायामाह ।। मत्कर्मकृदिति ।। मदर्थं स्वस्य सहजदासत्वेन नतु कामनया कर्म सेवादिरूपं करोति स तथा । मत्परमः अहमेव परमः सर्वस्वं यस्य । मद्भक्तः मद्भजनकृत् मदाश्रितो वा । संगवर्जितः पुत्रादिलौकिकाऽवैष्णवादिसंगवर्जितः । सर्वभूतेषु निर्वैरः द्वेषरहितः हे पाण्डव उत्पत्त्यैव भक्त ! एवंविधो यः स माम् एति प्राप्नोति सः अनन्यो ज्ञातव्य इतिभावः ।।५५।।

प्रदर्श्य विश्वरूपं स्वं दृढीकृत्याऽर्जुनाय वै ।
श्रीकृष्णः साधनाऽसाध्यं स्वस्वरूपमदर्शयत् ।।१।।

इतिश्रीगीताऽमृततरङ्गिण्यां विश्वरूपदर्शनयोगोनामैकादशोऽध्यायः ।।११।।

अनन्य भक्त कैसे जाना जाय ? अतः कहा है—मेरे लिये सहजदास की भावना से कर्म करो, कामना से नहीं (सेवादि रूप कर्म करे) मुझे ही सर्वस्व समझे । मेरा भजन करता हुआ मेरे आश्रित रहे । सङ्गरहित पुत्रादिलौकिक अवैष्णव आदि के सङ्ग का त्याग करे । सब जीवों से प्रेम करे, हे पाण्डव ! अर्थात् जन्म से ही भक्त । जो इस प्रकार होता है वह मुझे ही प्राप्त होता है, वह अनन्य है ।।५५।।

कारिकार्थः—अपने विश्वरूप दर्शन से अर्जुन को दृढ़ करके श्रीकृष्ण ने अपना साधनों से भी असाध्यरूप प्रदर्शित किया ।।१।।

इति गीतामृत तरङ्गिण्यां विश्वरूप दर्शन योगोनामैकादशोऽध्यायः ।

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

अध्याय १२

॥ अर्जुन उवाच ॥

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ।
येचाऽप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥१॥

श्रीकृष्णाय नमः ॥ पुरुषोत्तमभक्तानामक्षराऽभिनिवेशिनां ।
स्वरूपतारतम्यार्थं श्रीकृष्णं अर्जुनोऽब्रवीत् ॥१॥

पूर्वाध्यायान्ते मत्कर्मकृदित्यनेन भक्तानां स्वभजनैकनिष्ठानां स्वप्राप्तिरुक्ता । पूर्वं चाष्टमाऽध्याये 'यदक्षरं वेदविदो वदन्ती' त्यारभ्य 'स याति परमां गति' मित्यन्तमक्षरोपासकानां परमगतिरुक्ता एतदुभयोस्तारतम्यजिज्ञासुरर्जुनो भगवन्तं विज्ञापयति ॥ एवमिति ॥ एवं पूर्वोक्तप्रकारेण सर्वसंगपरित्यागेन अनन्यभक्ता ये त्वां प्रकटम् आनन्दरूपं पर्युपासते ध्यायन्ति तेषाम् उभयेषां मध्ये के योगवित्तमाः ? अतिशयिततत्त्वसंयोगविदः श्रेष्ठा इत्यर्थः । तान् कृपया आज्ञापयेतिभावः ॥१॥

स्वरूपतारतम्य के लिये अर्जुन ने श्रीकृष्ण से कहा—

एवं सतत्.................

इस प्रकार निरन्तर प्रयत्न में लगे हुए जो भक्त आपकी भली-भाँति उपासना करते हैं और जो अव्यक्त अक्षर की उपासना करता है, उनमें उत्तम योगवेत्ता कौन हैं ॥१॥

टीका:—पूर्व अध्याय के अन्त में 'मत्कर्म कृत' इत्यादि से भक्तों की जो भजननिष्ठों की जो अपनी प्राप्ति कही है । अष्टम अध्याय में 'यदक्षरं वेदविदो वदन्ति' से आरम्भ कर 'स याति परमां गतिम्' अंत तक अक्षरोपासकों की परमगति कही गई है । इन दोनों के मध्य श्रेष्ठ कौन है, इसे जानने के लिये अर्जुन भगवान् से कहता है ।

इस पूर्वोक्त प्रकार से सबका संग त्यागकर अनन्य भक्त प्रकट आनन्द रूप में आपका ध्यान करते हैं । उन दोनों के मध्य योगविद् कौन है । सयोगवेत्ता श्रेष्ठ है, उन्हें कृपा कर बतलायें ॥१॥

।। श्रीभगवानुवाच ।।

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ।।२।।

तत्र ये प्रकटपुरुषोत्तमरूपमद्भजनकर्तारस्त उत्तमा इत्याशयेनोत्तरमाह ।। श्रीभगवानुवाच ।। मयीति ।। मयि प्रकटरूपे सम्यक् निष्कामतया मनः सर्वदैकरूपम् आवेश्य आसमन्तात् सर्वात्मभावेन निवेश्य ये भाग्यवन्तो नित्ययुक्ताः मत्सेवैकतत्पराः परया प्रेमैकलक्षणया श्रद्धया उपेताः युक्तास्ततो मामुपासते सेवन्ते ते युक्ततमा उत्तमाः मे मताः संमता इत्यर्थः ।।२।।

उनमें जो प्रकट पुरुषोत्तम रूप मेरे भजन करने वाले है वे उत्तम हैं, इस आशय से उत्तर कहा है—

भगवान् ने कहा मूलार्थ—जो परम श्रद्धा के साथ मुझमें मन लगाकर युक्त हुए मेरी उपासना करते है, वे मुझे योगियों में श्रेष्ठ मान्य हैं।

टीकार्थ—प्रकट् मुझमें निष्काम होकर मन को एक रूप मे लगाते हैं, सर्वात्म भाव से मेरा आश्रय लेते हैं, मेरी सेवा में तत्पर रहते हैं, प्रेमैकलक्षणा वाली श्रद्धा से युक्त होकर मेरी उपासना करते हैं, वे उत्तम हैं ।।२।।

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ।।३।।
सन्नियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ।।४।।

एवं स्वभक्तानामुत्तमत्वमुक्त्वा अक्षरोपासकानां स्वरूपमाह ।। येत्वक्षरमिति ।। द्वयेन । ये तु, तुशब्देन स्वाभिमतत्वं निराकृतम् ये अनिर्देश्यं शब्दाऽविवेच्यम् अव्यक्तम् अप्रकटरूपं सर्वत्रगं ध्यानादिदशायामपि हृदयेऽस्थिरस्वभावम् । अतएव अचिन्त्यं चिन्तनाऽयोग्यं रूपाद्यभावादस्थिरत्वाच्च, कूटस्थं प्रपञ्चाधिष्ठितम्, अचलं मच्चरणात्मकम् अतएव ध्रुवं नित्यम् एतादृशम् अक्षरम्, इन्द्रियग्रामं सन्नियम्य वशीकृत्य सर्वत्र मयि देवादिषु लौकि-

केषु सुखदुःखेषु वा समबुद्धयः सर्वभूतहिते रताः सन्तो ये पर्युपासते ध्यायन्ति ते मामेव प्राप्नुवन्ति । एवकारेणाक्षरसंबन्धव्यवहिताः प्राप्नुवन्तीति भावः, स्वयुक्ततमत्वाऽभावश्च ज्ञापितः ।।३-४।

मूलार्थ—जो इन्द्रिय समूह को भली-भाँति रोककर, सर्वत्र समबुद्धि होकर तथा सम्पूर्णभूतों के हितों में रत होकर अक्षर, अनिर्देश्य, अव्यक्त, सर्वव्यापक, अचिन्त्य, कूटस्थ, अचल और नित्य (आत्मा) की उपासना करते हैं, वे भी मुझे ही प्राप्त होते हैं।

टीकार्थ—इस प्रकार अपने भक्तों की उत्तमता बतलाकर अक्षरोपासकों का स्वरूप बतलाते हैं। 'तु' शब्द से अपना अभिमत भाव निराकृत किया है, जो शब्द द्वारा विवेच्य नहीं हैं, अप्रकटरूप तथा ध्यानादि की दशा में भी हृदय में अस्थिर स्वभाव वाला है, अतएव चिन्तन के योग्य नहीं है, क्योंकि चिन्तन रूप का किया जाता है, वह रूपरहित है, अस्थिर भी है, प्रपञ्च का अधिष्ठान है, मेरा चरणरूप है, अतः नित्य है, ऐसे अक्षर को इन्द्रियग्राम को वश में करके सर्वत्र मुझमें देवादिकों में लौकिकों में अथवा सुख-दुःख में समबुद्धि होकर समस्त प्राणियों के हित में रत रहते हुए ध्यान करते हैं, वे मुझे प्राप्त करते हैं। यहाँ 'एव' शब्द से अक्षर सम्बन्ध से भिन्न मुझे प्राप्त करते हैं, यह भाव है। इससे स्वयं का युक्ततमत्व भी बतलाया है ।।३-४।।

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्ताऽऽसक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ।।५।।

किंच मदभिमताऽभावात्परंपराप्राप्तावपि तेषां क्लेशः, अप्रकटरूपाऽऽसक्तचित्तानां सेवार्थप्रकटितसर्वेन्द्रियवैकल्यात् क्लेशः अधिकतरो भवति आसक्तचित्तत्वाद्दर्शनाद्यभिलाषे सति तदभावादाधिक्यं[1] भवति साधनदशायामपि। अत एवाधिकतरत्वमुक्तम्। फलमपि दुःखेन प्राप्यत इत्याह। अव्यक्तेति। देहवद्भिः देहात्मसेवमानवद्भिः[2] अव्यक्ता गतिः अव्यक्तनिष्ठा गतिः दुःखं दुःखेन अवाप्यते प्राप्यते। हीति युक्तत्वाय। भगवत्सेवैकयोग्यदेहस्य व्यर्थगमनेन सा गतिर्दुःखेनैव प्राप्यते। प्राप्त्यनन्तरमप्यलौकिकदेहाद्यभावादव्यक्ततया प्रवेशे तदात्मकांशस्य पूर्वानुभूतलौकिकेन्द्रियरसस्मरणेन जले निमग्नस्य जलपानवद्दुःखं प्राप्यत इतिभावः ।।५।।

---

१ क्लेशाऽऽधिक्यम्। २. देहात्मज्ञानवद्भिरिति प्रतिभाति।

मूलार्थ—उस अव्यक्त में आसक्त चित्तवालों को क्लेश अधिक होता है; क्योंकि देहाभिमानियों के द्वारा अव्यक्त विषयक मनोवृत्ति दुःखपूर्वक प्राप्त की जाती है।

टीकार्थ—और मेरे अभिप्राय न जानने से परम्परा प्राप्त होने पर भी उनको क्लेश अधिक होता है, अप्रकट रूप आसक्तचित्तों को सेवा के लिए प्रकटित सर्वेन्द्रिय वैकल्य से क्लेशाधिक्य होता है। आसक्तचित्त होने के कारण दर्शन आदि की इच्छा होती है, जब दर्शन आदि नहीं होते तब अधिक क्लेश होना स्वाभाविक ही है। साधन दशा में भी क्लेशाधिक्य है, इसीलिये अधिकतर कहा है। फल भी दुःख से प्राप्त होता है, अतः कहा है, देह को आत्मा मानकर जो सेवा करते हैं, उन्हें अव्यक्त निष्ठागति दुःख से प्राप्त होती है। यह श्रेष्ठ ही है। क्योंकि भगवत्सेवा योग्य देह व्यर्थ जाती है, अतः वह गति दुःख से ही मिलती है। यदि प्राप्त हो भी जाय तब भी देहादि लौकिक होते हैं, अव्ययरूप से प्रविष्ट होने पर तदात्मक अंशपूर्व अनुभूत लौकिक इन्द्रिय रस का स्मरण करता है, तो जल में डूबा जैसे जलपान का दुःख प्राप्त करता है, ऐसे ही वह भी प्राप्त करता है।

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥६॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि न चिरात् पार्थ! मय्यावेशितचेतसाम् ॥७॥

अक्षरोपासकानां साक्षात्कारेऽपि क्लेशो मद्भक्तानां तु मत्स्वरूपध्यानेन मत्प्रतिमादिसेवनामप्यहमुद्धारं करोमीत्याह ॥ ये त्विति। द्वाभ्याम् ॥ ये तु सर्वाणि लौकिकवैदिकादीनि मयि मन्निमित्तं संन्यस्य त्यागं कृत्वा मत्पराः अहमेव पर उत्कृष्टः प्राप्यो येषां तादृशा सन्तोऽनन्येनैव योगेन, नैव अन्यो भजनीयो यस्मिन्तादृशेन भक्तियोगेन मां ध्यायन्तः मद्ध्यानं कुर्वन्त उपासते सेवन्ते, मूर्त्यादिष्विति शेषः हे पार्थ मद्भक्त! मयि आसमन्तात् सर्वभावेनाऽऽवेशितं चेतो येषां तेषां मृत्युसंसारसागरात् वारं बारं मरणधर्मयुक्तशरीरप्रापकरूपान् अलौकिकभजनौपयिकस्वरूपदानेन उद्धर्ता, न चिरात् शीघ्रमेवाऽहं भवामि ध्याने मूर्तौ वा प्रकटो भवामीत्यर्थः ॥६-७॥

मूलार्थ—हे अर्जुन ! जो समस्त कर्मों को मुझमें अर्पित कर देते है, मेरे परायण होकर अनन्ययोग से मेरा चिन्तन करते हुए मेरी उपासना करते है। मुझमें चित्त लगाने वालों को मैं मृत्युरूप समुद्र से भली-भाँति शीघ्र उद्धार कर देता हूं।

टीकार्थ—अक्षरोपासक साक्षात्कार कर लें तब भी उन्हें क्लेश होता है। जो मेरे भक्त हैं, मेरे स्वरूप का ध्यान करते हैं, मेरी प्रतिमा की पूजा करते हैं, उनका मैं उद्धार करता हूं। अतः कहा है—जो सम्पूर्ण लौकिक-वैदिक कर्म मेरे लिये त्याग देते हैं, मैं ही उनकी दृष्टि में उत्कृष्ट हूं, ऐसा मानते हैं। अन्य कोई भजन योग्य नहीं, इस प्रकार के भक्तियोग से मेरा ध्यान करते हैं, उपासना करते हैं, मूर्ति की सेवा करते हैं, हे पार्थ ! जिनका सर्वतोभावेन चित्त मुझमें ही लगता है, उन्हें मृत्यु संसार सागर से वार-वार मरण धर्मयुक्त शरीर प्रापकरूप से अलौकिक भजन के उपयुक्त स्वरूप दान से उद्धार करता हूं। विलम्ब नहीं लगाता, ध्यान में मूर्ति में प्रकट हो जाता हूं ॥६-७॥

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥८॥

यतो ध्यानादिभिः सेवतामप्युत्तमफलप्राप्तिर्भवति तत्र साक्षान्मद्भजनकर्तॄणां किं वाच्यमतस्त्वं मत्परो भवेत्याह ॥ मयीति ॥ मय्येव प्रकटरूप एव मनः संकल्पविकल्पात्मकम् आधत्स्व आसमन्तात् स्थैर्येण सर्वत आकृष्य स्थापय। बुद्धिं व्यवसायात्मिकां मय्येव निवेशय। अत ऊर्ध्वं बुद्धिप्रवेशानन्तरं मय्येव पुरुषोत्तमे निवसिष्यसि नितरां सेवादियोग्यतया निकट एव स्थास्यसि न संशयः अत्र न संदेहः। संशयं मा कुर्य्या इत्यर्थः ॥८॥

मूलार्थ—मुझमें ही मन लगा, मुझमें ही बुद्धि लगा। इसके अनन्तर तू मुझमें ही निवास करेगा। इसमें संशय नहीं है।

टीकार्थ—जो मेरा ध्यान करते हैं, उन्हें भी उत्तमफल की प्राप्ति होती है, उनमें भी जो साक्षात् मेरा भजन करते है, उनका तो कहना ही क्या है, अतः तुम मेरे आधीन हो। प्रकटरूप मुझमें ही संकल्प-विकल्पात्मक दोनों प्रकार के मन को लगा, चारों ओर से स्थिरतापूर्वक खींचकर मुझमें लगा। व्यवसाय स्वरूप वाली बुद्धि को भी मुझमें लगा। बुद्धि लगा देने के पश्चात् मुझ पुरुषोत्तम में ही रहेगा। सेवा के

योग्य होकर निकट में ही रहेगा, इसमें संशय नहीं है। अर्थात् इस कथन में संशय न करना ।।८।।

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाऽऽप्तुं धनञ्जय ।।९।।

ननु मनश्चञ्चलत्वात् कथं त्वयि स्थिरं स्यादत आह ।। अथेति ।। धनञ्जयेतिसावधानार्थे संबोधनम् । अथचेत् मयि स्थिरं चित्तं समाधातुं न शक्नोषि समर्थो न भवसि तदा अभ्यासयोगेन मच्छ्रवणानुस्मरणादिरूपेण माम् आप्तुं प्राप्तुम् इच्छ यतस्व विचार्य प्रयत्नपरो भवेत्यर्थः ।।९।।

मूलार्थ—यदि तू मुझमें चित्त को स्थिरता पूर्वक स्थापना करने में समर्थ नहीं है, तो अर्जुन ! अभ्यास योग से तू मुझे प्राप्त करने की इच्छा कर ।

टीकार्थः—मन चञ्चल है, वह आपमें कैसे स्थिर हो सकता है, अतः श्रीकृष्ण ने कहा—यहाँ धनञ्जय पद सावधान करने के लिये सम्बोधित है। यदि मुझमें स्थिर चित्त लगाने में समर्थ न हो तो, मेरे श्रवण-स्मरण आदि अभ्यास से प्राप्त करने की इच्छा कर अथवा विचार कर प्रयत्न करने में लग ।।९।।

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव ।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि ।।१०।।

एवं चित्तधारणार्थमभ्यासः साधनत्वेनोक्तस्तत्साधनमप्याह ।। अभ्यास इति ।। अभ्यासे निरन्तराऽनुस्मरणे अपिचेत् असमर्थोऽसि तदा मत्कर्मपरमः मत्प्रीतिहेतुपूजादिरूपाणि यानि तदनुष्ठानमेव परममुत्कृष्टं यस्य तादृशो भव। एवं मदर्थं मत्प्रीत्यर्थं ननु फलकामनया कर्माण्यपि कुर्वन् सिद्धिम् अभ्यास-सिद्धिं प्राप्स्यसि ।।१०।।

मूलार्थ—यदि तू अभ्यास में भी असमर्थ है तो मेरे कार्यों के परायण हो। मेरे अर्थ कर्म करता हुआ भी तू सिद्धि को प्राप्त हो जायगा ।

टीकार्थ—इस प्रकार चित्त धारण के लिये साधन अभ्यास कहा है, अभ्यास का भी साधन कहते हैं—यदि निरन्तर अनुस्मरण में भी सामर्थ्य न हो तो मेरी प्रीति

के लिये मन्दिर आदि निर्माण पूजा में मन लगने वाला धन। इस प्रकार मेरी प्रीति को फल कामना को छोड़कर कर्म करता हुआ अभ्यास सिद्धि प्राप्त करोगे ॥१०॥

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः ।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥११॥

एतत्प्राप्त्यर्थमतिसुगमोपायमाह ॥ अथैतदिति ॥ अथचेत् एतदपि मदर्थकं कर्तुम् अशक्तोऽसि स्वरूपाऽज्ञानात् तदा मद्योगं मम योगः संयोगो यस्मिन् यस्य वा तादृशं भक्तम् आश्रितः सन् यताऽऽत्मवान् तदेकपरचित्तो भूत्वा सर्वकर्मफलत्यागं संध्यावन्दनाग्निहोत्रादीनां स्वर्गादिरूपफलानां त्यागं कुरु चिन्तनं त्यजेदित्यर्थः तत्फलानभिलाषे मदाज्ञया करणात् कर्मभिश्चित्त-शुद्धया मद्भक्तोपदिष्टं ज्ञानं स्थिरीभविष्यति तेन मत्कर्मसिद्धिर्भविष्यतीति-भावः ॥११॥

मूलार्थ—यदि मेरे योग का आश्रय लेकर तू यह (मदर्थ कर्म) भी न कर सके तो मन को संयम में रखकर समस्त कर्मों के फल का त्याग कर।

टीकार्थ—इसकी प्राप्ति के लिये अत्यन्त सुगम उपाय बतलाते हैं। यदि मेरे लिये कर्म भी करने में स्वरूप अज्ञान के कारण समर्थ न हो तो मेरा संयोग जिसमें है, अथवा मुझसे संयोग जिसका हैं, ऐसे भक्त का आश्रय कर उसी में चित्त लगाकर समस्त कर्मों का सन्ध्यावन्दन अग्निहोत्रादि स्वर्गादिरूप फलों का त्याग कर चिन्ता छोड़। उसके फल की अभिलाषा न करने से मेरी आज्ञा से कर्म करने से कर्मों से चित्त की शुद्धि हो जायगी, मेरे भक्त के द्वारा उपदिष्ट ज्ञान स्थिर होगा, उससे मेरे कर्म की सिद्धि हो जायगी, यह भाव है ॥११॥

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद् ध्यानं विशिष्यते ।
ध्यानात् कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥१२॥

एवमुक्तानामुत्तरोत्तरकर्त्तव्यानां स्वरूपमाह ॥ श्रेय इति ॥ अभ्यासात् केवलचित्ताकर्षणेनाऽनुस्मरणरूपात् ज्ञानं श्रेयः श्रेष्ठमित्यर्थः। अतो ज्ञानयुक्तोऽभ्यास उत्तम इतिभावः। ज्ञानात् केवलात् ध्यानं मत्स्वरूपाऽनु-चिन्तनात्मकं विशिष्टं भवतीत्यर्थः। तेन ज्ञानाऽभ्यासयुक्तं ध्यानमुत्तममिति-

भावः। ध्यानात् केवलात् कर्मफलत्याग उत्तमः। तेन ज्ञानाभ्यासध्यान-सहितमदर्थकमत्कर्मकरणमुत्तममित्यर्थः। यत एवमतस्तादृशत्यागादनन्तरं शीघ्रमेव शान्तिः मद्भक्तिस्थितिरूपा भवेदितिशेषः ॥१२॥

मूलार्थ—अभ्यास से ज्ञान श्रेष्ठ है, ज्ञान से ध्यान विशेष है, ध्यान से कर्मफल त्याग श्रेष्ठ है, क्योंकि त्याग के अनन्तर शान्ति होती है।

टीकार्थ—इस प्रकार कहे हुए कर्मों में उत्तरोत्तर कर्त्तव्यों का स्वरूप कहते हैं। अभ्यास से अर्थात् केवलचित्त आकर्षण रूप अनुस्मरण से ज्ञान श्रेष्ठ है। अतः ज्ञानयुक्त अभ्यास उत्तम है, यह भाव है। केवल ज्ञान से मेरे स्वरूप के अनुचिन्तन से युक्त ध्यान विशिष्ट होता है। अतः ज्ञान और अभ्यास से युक्त ध्यान उत्तम है, यह भाव है। केवल ध्यान से कर्मफलत्यागं उत्तम है। क्योंकि इस प्रकार के त्याग के पश्चात् शीघ्र ही मेरी भक्ति स्थितिरूप शान्ति होगी ॥१२॥

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुणएव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥१३॥

तस्य स्वरूपमाह ॥ अद्वेष्टेति ॥ सर्वभूतानां प्राणिमात्राणां मत्क्रीडात्म-कत्वात् अद्वेष्टा आधिक्यादिदर्शने द्वेषरहितः, मैत्रः भक्तेषु मित्रतया वर्त्त-मानः, करुणः भक्तिरहितेषु संसारदुःखनिश्चयात् करुणः उपदेशादिदानार्थं करुणावान्। एवकारेण न कदाचित् कर्कशस्तिष्ठेदितिज्ञापितम्। निर्ममः उपदेशदानानन्तरं तेषु सर्वत्र च ममत्वरहितः, निरहंकारः स्वस्योत्तमत्वज्ञाने-नाऽहंकाररहितः, समदुःखसुखः समे दुःखसुखे वियोगसंयोगात्मके यस्य क्षमी क्षमावान् दुष्टकृतावमानादिसहनशीलः ॥१३॥

मूलार्थ—समस्त प्राणियों से द्वेष न करने वाला, मित्रता और दया भाव वाला, ममता और अहङ्कार से रहित, सुख दुःख में समान, क्षमाशील, सन्तुष्ट, नित्य योगी, मन की वृत्तियों को वश में रखने वाला, दृढ़ निश्चयी और मुझमें अर्पण किये हुए मनबुद्धि वाला जो मेरा भक्त है, वह मुझे प्रिय है।

टीकार्थ—समस्त भूत मेरे ही खेल में रचे गये हैं, अतः आधिक्य देखकर उनसे द्वेष न करने वाला। भक्तों में मित्रता भाव से व्यवहार करने वाला। भक्ति रहित-संसार दुःख में पड़ा है, यह जानकर उपदेश देने हेतु करुण स्वभाव वाला।

इनमें कभी कठोर स्वभाव न करे। उपदेश दान के पश्चात् उनमें ममता रहित होकर व्यवहार करे, मैं उत्तम हूं, यह अहङ्कार भी न करे, वियोगरूप दुःख में संयोगरूप सुख में समान रहने वाला, दुष्टकृत अपमान को सहन करने वाला ॥१३॥

संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१४॥

किंच ॥ संतुष्ट इति । सततं संतुष्टः निरन्तरं हृदयस्थितमत्स्वरूपेण आनन्दयुक्तः योगी मच्चिन्तनशीलः यतात्मा वशीकृतस्वभावः, दृढनिश्चयः दृढः कामाद्यनुपहतो मत्परीक्षितदुःखादिष्वचलो मयि सर्वकरणसमर्थत्वेन निश्चयो यस्य, मयि अर्पिते मनोबुद्धी येन य एतादृशः स मद्भक्तः मे प्रियः मदिङ्गितकरणादितिभावः ॥१४॥

हृदय में स्थित मेरे स्वरूप के कारण सर्वदा आनन्दयुक्त, मेरा चिन्तन करने वाला, स्वभाव जीतने वाला, कामादि के द्वारा अपराजित, मेरे द्वारा परीक्षा लिये गये दुःख आदि में जो विचलित न हो, सब कुछ करने में समर्थ मुझमें निश्चय वाला, मुझमें मन और बुद्धि को लगाने वाला भक्त मुझे प्रिय है, क्योंकि वह मेरे संकेत में काम करता है, यह भाव है ॥१४॥

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥१५॥

किंच ॥ यस्मादिति ॥ यस्मात् सकाशाल्लोकः न उद्विजते ध्रुवादिवत् सकामभजनादिना लोकः क्लेशं नाप्नोति च पुनः लोकात् स्वस्योत्सादनार्थं तपआदियत्नवतो यो न उद्विजते भयं न प्राप्नोतीत्यर्थः । च पुनः हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तः हर्षः स्वेष्टाऽऽप्त्या तद्राहित्येन सर्वत्र भगवदात्मकत्वेनेतरास्फूर्त्या मर्वदैव हर्षात्मक एवेत्यर्थः । अमर्षः परोत्कर्षासहिष्णुता तद्राहित्येनभगवल्लीलात्मकज्ञानवानित्यर्थः । भयं त्रासस्तदभावेन भगवद्रक्षणसामर्थ्यज्ञानवानित्यर्थः । उद्वेगश्चित्तलोभस्तेन सेवादिसमये चित्तचाञ्चल्यरहित इत्यर्थः एतादृशो यः स मे प्रियः ॥१५॥

मूलार्थ—जिससे संसार उद्वेग नहीं करता जो संसार से उद्वेग को प्राप्त नहीं होता तथा जो हर्ष, अमर्ष, भय तथा उद्वेग से मुक्त है, वह भी मेरा प्यारा है ॥१५॥

टीकार्थ—जिससे समस्त संसार सकाम भजन करने वाले ध्रुव आदि की तरह क्लेश को प्राप्त नहीं करता, और जो लोक से—अपने को विच्छिन्न करने वाले तप आदि यत्न करने वाले से जो भयभीत नहीं होता, और हर्ष, अर्थात् अभीष्ट प्राप्ति न होने पर सर्वत्र भगवान् हैं, अन्य की स्फूर्ति न होकर जो सर्वदा हर्षात्मक रहे। अमर्ष का अर्थ है, पर के उत्कर्ष को सहन न करना, इसके न रहने पर भगवल्लीलात्मक ज्ञान वाला। भय अर्थात् त्रास इसके अभाव में भगवान् सबकी रक्षा करते हैं, इस ज्ञान से युक्त। उद्वेग—चित्तलोभ से सेवा आदि के समय चित्त-चञ्चलता रहित जो हो, वह मेरा प्रिय है ॥१५॥

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१६॥

किंच। अनपेक्षः सेवादौस्वमनोऽतिरिक्ताऽपेक्षारहितः समर्थ इतियावत्, शुचिः मत्स्मरणवान्, दक्षः भजनस्वरूपज्ञानवान्, उदासीनः लोकेषु, गतव्यथः मानसिकक्लेशरहितः सर्वारम्भपरित्यागी दृष्टश्रुतफलककर्माऽनुद्यमानस्वभावः एतादृशो[1] मद्भक्तः मद्भजनकर्त्ता स मे प्रियः ॥१६॥

मूलार्थ—अपेक्षा से रहित, शुद्ध, दक्ष, उदासीन, व्यथारहित, सारे आरम्भों का त्याग करने वाला जो मेरा भक्त है, वह मेरा प्रिय है।

टीकार्थ—सेवा आदि में अपने मन से अतिरिक्त अपेक्षा रहित अर्थात् समर्थ शुचि=मेरे स्मरण को करने वाला। भजन स्वरूप को जानने वाला, लोक में उदासीन मानसिक क्लेश रहित, दृष्ट और श्रुतफलक कर्मों में उद्यम न करने वाला, इस प्रकार मेरा भजन करने वाला ही मेरा प्रिय है ॥१६॥

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति ।
शुभाऽशुभपरित्यागी भक्तिमान् यः स मे प्रियः ॥१७॥

किंच ॥ यो नेति ॥ यः लौकिकप्रियाऽऽप्त्या न हृष्यति। तथैवाऽप्रियादिना न द्वेष्टि। तथाच सेवार्थवस्तुनाशे[2] न शोचति न तदाकांक्षति। शुभा-

१. न कर्मफलवशीक्रियमाण इत्यर्थः। २. अत्र वस्तुशब्देन सेवातिरिक्तं कार्यान्तरमुच्यते। तथाच सततं भगवत्सेवाव्यापृतमनस्कतया वस्त्वन्तरहानावपि न शोचतीत्यर्थः।

शुभे स्वर्गनरकादि रूपे त्यजति। सर्वत्र भगवदिच्छां ज्ञात्वा लीलात्वेन व्यवहरतीत्यर्थः। एतादृशो यो भक्तिमान् भक्तियुक्तः स मे प्रियः ॥१७॥

मूलार्थ—जो हर्ष, द्वेष, शोक, आकांक्षा नहीं करता, और शुभ-अशुभ दोनों का त्यागी है, जो ऐसा भक्त है, वह मुझे प्रिय है।

टीकार्थ—जो लौकिक प्रिय वस्तुओं को प्राप्तकर प्रसन्न नहीं होता। अप्रिय से जो द्वेष नहीं करता। सेवाहेतु वस्तु के नाश होने पर, न शोच करता है न उसकी आकांक्षा करता है, स्वर्ग नरकादि रूप शुभाशुभ भी त्याग देता है। सर्वत्र भगवान् की इच्छा जानकर उनकी लीला जानकर व्यवहार करता है, ऐसा जो भक्तिमान् भक्त है, वह मुझे प्रिय है ॥१७॥

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानाऽपमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः संगविवर्जितः ॥१८॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येनकेनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान् मे प्रियो नरः ॥१९॥

किंच ॥ सम इति ॥ शत्रौ द्वेषकर्तरि, मित्रे अनुरागवति समः स्वतो द्वेषानुरागरहित इत्यर्थः। तथा मानाऽपमानयोरपि समः शीतोष्णयोर्दैहिकयोः सुखदुःखयोः पुत्रजन्ममरणादिरूपयोः समः संगवर्जितः लौकिकाऽऽसक्ति-रहितः ॥१८॥

तुल्ये निन्दास्तुति यस्य निन्दितो न व्यथित स्तुतो न हृष्यति। स्वयं च न कंचन निन्दति नच स्तौति। मौनी वशवाक् येनकेनचिद्भगवदिच्छा-प्राप्तेन संतुष्टः, अनिकेतः गृहाद्यासक्तिरहितः, स्थिरमतिः मयीत्यर्थः। एता-दृशो यो भक्तिमान् भक्तियुक्तो नरः स मे प्रियः प्रियो भवतीत्यर्थः ॥१९॥

मूलार्थ—शत्रु-मित्र और मान-अपमान में एक समान, शीत-उष्ण तथा सुख-दुःख में एक समान, आसक्ति से रहित निन्दा-स्तुति को समान समझने वाला, मौनी, जिस किसी से भी सन्तुष्ट, अनिकेत और स्थिर मतिवाला जो भक्तिमान् है, वह मनुष्य मेरा प्यारा है ॥१८॥

टीकार्थ—जो द्वेष करने वाले में, अनुराग करने वाले मित्र में, स्वयं द्वेष अनुराग रहित होता है, मान में, अपमान में, शीत-उष्ण में, पुत्रजन्म, पुत्रमरण रूप सुख-दुःख में आसक्ति रहित हो, निन्दा स्तुति जिसे तुल्य हो, निन्दा से दुःखी न हो, स्तुति से हृष्ट न हो, स्वयं न किसी की निन्दा करे न स्तुति। वाणी का संयम करने वाला, भगवान् की इच्छा से जो कुछ मिल जाय, उसमें सन्तुष्ट रहने वाला, गृह आदि की आसक्ति से रहित मुझमें स्थिरमति वाला जो भक्तियुक्त नर है, वह मेरा प्रिय होता है ॥१९॥

ये तु धर्म्याऽमृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥२०॥

इतिश्रीभगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णाऽर्जुनसंवादे भक्तियोगो नाम द्वादशोऽध्यायः ॥१२॥

उक्तभक्तिरूपमुपसंहरति ॥ येत्विति ॥ य इतिसामान्योक्त्या नात्र-वर्णादिनियमः किंतु ये केचन भाग्यवन्त इदं पुरत उक्तं धर्म्याऽमृतम् अक्षयं मत्प्रसादाऽऽत्मकफलरूपं यथोक्तं श्रद्दधानाः मदुक्तं सत्यमिति ज्ञानवन्तो मत्परमाः मदेकनिष्ठाः सन्तः पर्युपासते मां सेवन्ते। ते भक्ता मे अतीव स्वात्मनः प्रिया भवन्तीत्यर्थः। 'नाऽहमात्मानमाशास' इतिवत्[1] ॥२०॥

एवमर्जुनमासिश्चद्भक्तियोगाऽमृतोक्तिभिः ॥ सर्वसंशयमाच्छिद्य लोको-द्धारपरो हरिः ॥१॥

इतिश्रीभगवद्गीताऽमृततरङ्गिण्यां द्वादशोऽध्यायः ॥१२॥

मूलार्थ—परन्तु जो पहले कहे हुए इस धर्म्यामृत का अनुष्ठान करते हैं, वे श्रद्धायुक्त मेरे परायण भक्त मुझे अत्यन्त प्यारे हैं।

---

१. टि. प्रियव्रतप्रकरणे भगवतैवं दुर्वाससं प्रत्युक्तम्।

टीकार्थ- उक्त भक्तिरूप का उपसंहार करते हैं। वर्णादि का नियम नहीं है, जो कोई भाग्यशाली इस धर्म्य अमृत को मेरे प्रसादात्मक फलरूप को श्रद्धापूर्वक धारण करते हैं। मेरा कथन सत्य है, इस ज्ञान को जानते हैं, मेरे में दृढ़ हैं, मेरी सेवा करते हैं, वे भक्त मुझे अत्यन्त प्रिय हैं। 'नाहमात्मानमाशासे' इत्यादि की तरह यह वाक्यांश भगवान् का है जो राजा प्रियव्रत के उपाख्यान में दुर्वासा से कहा गया है।

कारिकार्थः—इस प्रकार भक्तियोगरूपी अमृत उक्ति से अर्जुन को तृप्त किया गया, और समस्त संशयों को लोक उपकारक हरि ने दूर किया।।१।।

इति अमृततरङ्गिण्यां हिन्दी टीकायां द्वादशोऽध्यायः ।।

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

अध्याय १३

॥ अर्जुन उवाच ॥

प्रकृतिं पुरुषं चैव क्षेत्रं क्षेत्रज्ञमेव च ।
एतद्वेदितुमिच्छामि ज्ञानं ज्ञेयं च केशव ॥१॥

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥
ये यथोक्तप्रकारेण मां भजन्ति विचक्षणाः ।
अनन्यमनसस्ते मे प्रियास्तानुद्धराम्यहम् ॥१॥
इत्युक्तिं समुपाकर्ण्य तज्जिज्ञासुर्धनञ्जयः ।
प्रभुं विज्ञापयामास प्रेमविह्वलितः सुधीः ॥२॥

अथ प्रपञ्चादिसर्वस्वरूपज्ञानाभावे भक्तिः कथं स्यादिति तज्ज्ञानं पृच्छति ॥ प्रकृतिमिति ॥ प्रकृतिं पूर्वोक्तां स्वशक्तिरूपां, पुरुषं च स्वांशं जीवं, क्षेत्रं सर्वोत्पत्तिस्थानं, क्षेत्रज्ञं तत्स्वरूपज्ञं, ज्ञानं ज्ञानस्वरूपं, ज्ञेयं तेन ज्ञानेन प्राप्यं सर्वं हे केशव ब्रह्मशिवयोरपि मोक्षद ! अहं भक्त्यर्थं वेदितुमिच्छामि ॥१॥

कारिकार्थः—जो विज्ञजन केवल मुझमें मन को लगाकर कहे हुए प्रकार से मेरा भजन करते हैं, वे मेरे प्रिय हैं, मैं उनका उद्धार अवश्य करता हूं ॥१॥

प्रभु की इस उक्ति को सुनकर उस तत्त्व को जानने की इच्छा वाला अर्जुन प्रेमपूरित होकर पूछने लगा ॥२॥

प्रपञ्च आदि सर्वस्वरूप ज्ञान के न होने पर भक्ति किस प्रकार होती है, उस ज्ञान को पूछता है। हे केशव ! स्वशक्तिरूपा प्रकृति को, स्वांश जीव को, सबके उत्पत्ति स्थान क्षेत्र को, उसके स्वरूप जानने वाले क्षेत्रज्ञ को, ज्ञान के स्वरूप को तथा ज्ञान के द्वारा प्राप्य ज्ञेय को मैं जानना चाहता हूं। केशव का अर्थ है, ब्रह्मा-शिव को मोक्ष देने वाला। अर्जुन ने यह प्रश्न भक्ति के लिये जानना चाहा है ॥१॥

।। श्रीभगवानुवाच ।।

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञमिति तद्विदः ।।२।।

भगवान् कृपयाऽत्रोत्तरमाह ।। इदमिति । हे कौन्तेय कृपापात्र ! इदं शरीरं दृश्यमानं मरणादिधर्मयुक्तं क्षेत्रं ज्ञानादिप्ररोहस्थानं लीलार्थं स्वांश-जीवोत्पत्तिस्थानं तद्विदा अभिधीयते कथ्यत इत्यर्थः । एतत् याथातथ्येन यो वेत्ति तं तद्विदः क्षेत्रविदा ज्ञानिनः क्षेत्रज्ञं प्राहुः । अन्योक्तिकथनेन तथा न भवतीतिज्ञापितम् ।।२।।

हे कृपापात्र कौन्तेय ! यह मरणादि धर्म वाला शरीर क्षेत्र कहलाता है, क्योंकि ज्ञान आदि की उत्पत्ति इसी में होती है । लीला के लिये अपने अंश जीव की उत्पत्ति का स्थान विज्ञों द्वारा कहा जाता है । इस बात को जो यथार्थरूप में जानता है, ज्ञानी लोग उसे क्षेत्रज्ञ कहते हैं । अन्योक्ति कथन से वैसा नहीं होता, यह ज्ञापित किया है ।।२।।

क्षेत्रज्ञं चाऽपि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ।।३।।

अथाऽर्जुनज्ञानार्थं स्वमते यथा तत्स्वरूपमस्ति तथाऽऽह ।। क्षेत्रज्ञमिति ।। क्षेत्रज्ञं बीजम् अपिशब्देनाणुरूपमपि मां मदंशं रसानुभवार्थं सर्वक्षेत्रेषु चकारेण मद्रूपेषु स्थितं विद्धि जानीहि । भारतेतिसंबोधनं विश्वासार्थम् । क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्मदंशत्वेन लीलार्थत्वेन यज्ज्ञानं तत् मम मतं संमतमित्यर्थः । एतद्विपरीतं देहादीनां कर्मादिजन्यत्वं तज्ज्ञानवत्त्वं जीवस्य क्षेत्रज्ञत्वम् असवद्ध-मित्यर्थः स्वमतोक्त्या ज्ञापितः ।।३।।

अर्जुन के ज्ञान के लिये अपने मत में उसका जो स्वरूप है, उसे कहते हैं—

अणुरूप क्षेत्रज्ञ अर्थात् बीज को रस अनुभव के लिये मेरे ही रूपों में स्थित समझो । भारत सम्बोधन विश्वास प्रदान के लिये है । क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का मेरे अंशरूप से लीला के लिये जो ज्ञान है, वह मेरे सम्मत है । इसके विपरीत देहादिका कर्मादि से

उत्पन्न होना, ज्ञानवान् होना जीव का क्षेत्रज्ञत्व असम्बद्ध है, यह स्वमत उक्ति से स्पष्ट किया है ।।३।।

तत् क्षेत्रं यच्च यादृक् च यद्विकारि यतश्च यत् ।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ।।४।।

एवं प्रतिज्ञाय क्षेत्रक्षेत्रज्ञस्वरूपं सभेदकं कथयामि तच्छृण्वित्याह ।। तत् क्षेत्रमिति ।। तन्मदुक्तं क्षेत्रं यत् मत्सत्तात्मकं जडादिरूपमपि यादृक् यादृशं मल्लीलेच्छात्मकम् । यद्विकारि विचित्रक्रीडेच्छया नानाविकारयुक्तम् । यतश्च मदंशात्मकमत्क्रीडार्थप्रकृतिपुरुषसंयोगजम् । तत्स्थावरजङ्गमपक्ष्यादिविचित्ररूपम् । स च क्षेत्रज्ञः स्वरूपतोमदंशरूपो यत्प्रभावः सूक्ष्मोऽपि व्यापकादिसेवनयोग्याद्यचिन्त्यप्रभाववांस्तदन्यैर्यथातथ्यस्वरूपाऽज्ञानाद्बहुविधमुक्तं तत्सर्वं समासेन संक्षेपतो मे मत्तः शृणु ।।४।।

क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के स्वरूप को समझाकर अब उसे भेद सहित कहता हूँ, उसे सुनो। मेरे द्वारा कहा गया क्षेत्र जो मेरी सत्तामात्र है, और जडादिरूप भी जितना जिस प्रकार का है, मेरी लीला इच्छामात्र है, और जो विचित्र क्रीडा इच्छा से नाना विकार युक्त है, और जो मेरा अंश, मेरी क्रीडा हेतु प्रकृति पुरुष संयोग से उत्पन्न है, वह स्थावर (अचल) जङ्गम (चल) तथा विविध पक्षी आदिरूप वाला है। वह क्षेत्रज्ञ स्वरूपतः मेरे अंशरूप प्रभाव से युक्त है, सूक्ष्म भी व्यापक है, सेवन योग्य है, अचिन्त्य प्रभाव वाला है, किन्तु अन्यों ने यथार्थ स्वरूप न जानने के कारण उसके रूप को बहुत प्रकार का कह दिया है, उसे संक्षेप में मुझसे सुनो ।।४।।

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक् ।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ।।५।।

बहुधान्योक्तं भ्रमाऽभावाय प्रपञ्चयति ।। ऋषिभिरिति ।। ऋषिभिः स्वानुभवोत्पन्नफलनिरूपणेन बहुधा बहुप्रकारेण गीतम् । किंच । छन्दोभिर्वेदैर्विविधैः कर्मज्ञानोपासनकाम्यादिभिः पृथक् भिन्नतया अधिकारपरत्वेन गीतम् । तथैव ब्रह्मसूत्रपदैश्च ब्रह्म सूच्यते सूच्यते एभिरिति ब्रह्मसूत्राणि जन्माद्यस्य यत इत्यादीनि तथाच ब्रह्म प्रपद्यते गम्यते एभिरिति पदानि

'एको देवो वहुधा निविष्ट इत्यादीनि तैर्बहुधा श्रुत्यनुसारेणैव गीतम् कीदृशैस्तैः हेतुमद्भिः सहेतुकैः 'को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्। एष ह्येव तं साधु कर्म कारयतीत्यादिभिः विनिश्चितैः निःसंदिग्धैः स्वानुभवप्रतिपादकैरित्यर्थः ।। एवं विस्तरेणैतैरुक्तं दुर्बोधं याथातथ्येन तत् समासेन मे मत्तः उक्तं शृणु कथयामीत्यर्थः ।।५।।

अन्योक्त को भ्रम अभाव के लिये व्याख्यात किया है—

ऋषियों ने अपने अनुभव जन्यफल निरूपण से अनेक प्रकार से इसे गाया है। वेदों ने कर्म-ज्ञान उपासना काम्य आदि द्वारा भिन्न होने से अधिक तत्परता से गाया है। ब्रह्मसूत्र पदों से ब्रह्म सूचित है, जैसे 'जन्माद्यस्य यतः' इत्यादि सूत्र हैं, क्योंकि इनसे ब्रह्म का सूचन है। ब्रह्म जिससे प्राप्त किया जाय, उसे पदशब्द कहा गया है। एक देव अनेक प्रकार से व्याप्त है, इत्यादि। इनमें वह श्रुतियों के अनुसार गाया गया है। पद सहेतुक है। आनन्द के अभाव में दृश्यमान का कोई महत्त्व ही नहीं। वही अच्छे कर्म कराने वाला है इत्यादि सन्देह रहित अपने अनुभव के प्रतिपादकों से। इस प्रकार जो बड़े विस्तार से बात कही गई है, उसे संक्षेप से तुम्हें सुनाता हूँ ।।५।।

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ।।६।।

तत्क्षेत्रस्वरूपमाह द्वयेन ।। महाभूतानीति ।। महाभूतानि पृथिव्यादानि। अहंकारस्तत्कारणात्मकः बुद्धिर्विज्ञानात्मिका। अव्यक्तं मूलप्रकृतिः। इन्द्रियाणि दश। च पुनः एकं मनः। इन्द्रियगोचरास्तन्मात्रात्मकाः शब्दादयः पञ्च। एवं चतुर्विंशतितत्त्वानिप्रतिपादितानि ।।६।।

क्षेत्र का स्वरूप दो श्लोकों से कहते हैं—पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश पांचभूत इनका कारण अहङ्कार इसका कारण विज्ञानात्मिका बुद्धि और बुद्धि का कारण मूल प्रकृति। दस इन्द्रियाँ (५ ज्ञानेन्द्रिय चक्षुर्जिह्वा, घ्राण, श्रोत्र तथा त्वचा) ५ ज्ञानेन्द्रिय, वाणी, पाणि, पाद, पायु तथा उपस्थ) एक मन, शब्द-स्पर्श-रूप-रस गन्धादि ५ तन्मात्रा सब मिलकर २४ तत्त्व कहे जाते हैं ।।६।।

इच्छाद्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः ।
एतत् क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥७॥

इच्छा अभिलषितार्थरूपा, द्वेषः प्रतीपस्फूर्त्या, सुखं स्वाभिलषित-प्राप्त्या, दुःखं स्वाज्ञानकल्पितं, संघातः शरीरं चेतना ज्ञानरूपा मनोवृत्तिः, धृतिः धैर्यम्, इच्छाऽऽदयोऽपि मनोधर्मा अतः सविकारम् इन्द्रियादिविकार-सहितं क्षेत्रं सर्वोत्पत्तिस्थानं संक्षेपेण सम्यक्प्रकारेण उदाहृत लीलार्थं प्रकटित-मितिज्ञानार्थं कथितमित्यर्थः ॥७॥

अभिलषित अर्थरूप वाली इच्छा, विरोधरूपी द्वेष, अभीष्ट प्राप्तिरूप सुख स्वअज्ञान कल्पित दुःख, शरीर, चेतना तथा ज्ञानरूपा मनोवृत्ति, धैर्य, इच्छादि मनोधर्म, इन्द्रियादि विकार सहित क्षेत्र सबका उत्पत्ति स्थान यह सब लीला के लिये संक्षेप से कहा है ॥७॥

अमानित्वमदंभित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् ।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥८॥

एवं क्षेत्रस्वरूपमुक्त्वा ससाधनं ज्ञानस्वरूपमाह पञ्चभिः ॥ अमानित्व-मिति ॥ अमानित्वं स्वगुणोत्कर्षवर्णनप्रबोधराहित्यम् । अदंभित्वं लोकदर्श-नार्थधर्माद्यनुष्ठानाभावत्वम् । अहिंसा परपीडाराहित्यम् । क्षान्तिः दुष्टाद्यति-क्रमसहनम् । आर्जवम् अकौटिल्यम् आचार्योपासनं गुरुसेवनम् । शौचं बाह्या-भ्यन्तरभेदेन द्विविधं बाह्यं मृत्तिकाजलादिना आभ्यन्तरं भगवत्स्मरणात्म-कम् । स्थैर्यं क्लेशादिष्वपि भगवत्परतया स्थितिः । आत्मविनिग्रहः क्षुधा-शीतादिसहनेन शरीरसंयमः ॥८॥

इस प्रकार क्षेत्र का स्वरूप समझाकर साधन सहित अब ज्ञान का स्वरूप ५ श्लोकों से समझाते हैं। अपने गुणों के माहात्म्य श्रवण से मान न करने वाला। लोक में दिखावे मात्र को धर्मादि अनुष्ठान न करने वाला, परपीड़ा से रहित, दुष्टों द्वारा दिये गये दुःख को सहना, कुटिलता से परे रहना, गुरु की सेवा करना, मिट्टी तथा जल आदि से बाह्य शुद्धि करने वाला, भगवान् के स्मरण से अभ्यन्तर शुद्धि

करने वाला, क्लेश आदि विपत्तियों में भी भगवान् के परायण रहना, भूख-प्यास आदि के सहन करने से शरीर पर संयम करने वाला ॥८॥

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥९॥

इन्द्रियार्थेषु इन्द्रियभोगेषु वैराग्यम् । अनहंकार एव च ! च पुनः । अहंकारराहित्यम् । एवकारेणाऽस्यावश्यकत्वं ज्ञापितम् । जन्मादिषु दुःख-दोषयोरनुदर्शनं विचारः । तथाहि । जन्म-अजन्मनो ब्रह्मांशस्याऽपि योनिमलादिसंबन्धः । मृत्युर्भगवद्विस्मरणं, जरा शक्तिह्रासः, व्याधिः रोगादि-क्लेशः ॥९॥

इन्द्रिय के भोगों में वैराग्य वाला, अहङ्कार रहित एव शब्द से इसे आवश्यक माना गया है, जन्म-मृत्यु-वृद्धावस्था रोगों में दुःख-दोष का विचारक ॥९॥

असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥१०॥

किंच ॥ असक्तिरिति ॥ पुत्रदारगृहादिपदार्थेष्वसक्तिः आसक्तिराहित्यम्, अनभिष्वङ्गः तेषु समदुःखसुखतया तन्मयत्वाभावः । इष्टानिष्टोपपत्तिषु इष्टानिष्टप्राप्तिषु नित्यं भगवदिच्छाविचारेण समचित्तत्वम् ॥१०॥

जन्म अर्थात्—ब्रह्म अंश का भी योनि-मल से सम्बन्ध, मृत्यु=अर्थात् भगवान् को विस्मृत करना, जरा=शक्ति क्षय, व्याधि=रोगादि क्लेश इनमें दुःख और दोष का पुनः पुनः विचार करना ॥१०॥

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥११॥

च पुनः । मयि अनन्ययोगेन लौकिकालौकिकेषु मच्छरणतया अव्यभिचारिणी अन्यत्र सद्बुद्धिराहित्येन भक्तिः, विविक्तदेशसेवित्वं भगवत्परिपन्थिरहिततद्देशसेवनशीलत्वम्, अरतिर्जनसंसदि जननादिक्लेशयुक्तलौकिकजीवसभायाम् अरतिः प्रतिष्ठाद्यनाकांक्षा ॥११॥

पुत्र-पौत्र-पत्नी-माता-पिता आदि में आसक्ति शून्य होना, सुख-दुःख में समभाव रखने से उनमें तन्मय न होना। हर्ष-विषाद में भगवान् की इच्छा के विचार से समचित्त रहना ॥११॥

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥१२॥

अध्यात्मज्ञाने आत्मस्वरूपज्ञाने नित्यभावः । तत्त्वज्ञानस्य अर्थात्मको भगवान् मोक्षो वा तस्य दर्शनम् आलोचनरीत्या विचारः । एतत्पञ्चश्लोकोक्तं ज्ञानमितिप्रोक्तम् । एतद्युक्तो ज्ञानवान् । अतोऽन्यथा यत् विपरीतत्वं मानित्वादिभावयुक्तं तत् अज्ञानं नज्ञानमित्यर्थः । संगाऽनर्हा एते ऽपि त्याज्याः ॥१२॥

मुझमें लौकिक किंवा अलौकिक योगों में मेरी शरण के कारण अन्यत्र मद्‌बुद्धि रहित भक्ति करना, भगवान् से मिलने में प्रतिबन्ध न करने वाले देश का सेवन करना, जनन आदि क्लेशयुक्त लौकिक जीव के अध्यात्म ज्ञान में आत्मा के स्वरूप जानने में नित्य भावयुक्त, तत्त्वज्ञान का (अर्थात्मक भगवान् मोक्ष का) दर्शन करना, या विचार करना। इन पाँच श्लोकों का ज्ञान रखने वाला ही सच्चा ज्ञानी है, इससे विपरीत मानी आदि भाव से युक्त अज्ञान वाला अज्ञानी है। ये अनर्ह हैं, अर्थात् संग करने योग्य नहीं हैं। अतः त्याज्य है ॥१२॥

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते ।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नाऽसदुच्यते ॥१३॥

एवं ज्ञानस्वरूपमुक्त्वा तेन ज्ञेयस्वरूपमाह। ज्ञेयमित्यादिषड्भिः ॥ स्वगुणरूपैरेवं पूर्वोक्तसाधनैर्यत् ज्ञेयं तत् प्रकर्षेण सर्वाङ्गयुक्तं वक्ष्यामि कथयामीत्यर्थः । तत्कथनप्रयोजनमाह यत् ज्ञात्वा अमृतं मोक्षम् अश्नुते प्राप्नोति। एवं कथनं प्रतिज्ञाय तत्स्वरूपमाह। अनादीति। न विद्यते आदिरुत्पत्तिर्यस्य तादृशं मत्परम् अहमेव परो यस्य मत्स्थानभूतं ब्रह्म बृहत् व्यापकं च । तदेवाह। न सत् सन्नभवति । तर्ह्य सद्भवतीतिचेदित्या-

शङ्कयाह। तत् असत् न उच्यते सदसदनिश्चयोक्त्याह दुर्ज्ञेयत्वेन ब्रह्मत्वं प्रतिपादितम् ॥१३॥

इस प्रकार ज्ञान का स्वरूप बतलाकर अब ज्ञेय का स्वरूप बतलाते हैं—

यह विवेचन ६ श्लोकों में है—अपने गुणरूप पूर्वकथित साधनों से जो जानने योग्य है, उसे कहता हूँ—इसके कथन का प्रयोजन बतलाते हैं—इसे जानकर अमृत= मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। इस प्रकार कथन कर उसका स्वरूप कहते हैं, जो उत्पत्ति रहित है तथा जिसका मैं आश्रय हूँ, ऐसा ब्रह्म वह सत् नहीं है। यदि वह सत् नहीं है तो असत् है, कहते हैं वह असत् भी नहीं है। सत्-असत् के अनिश्चय से वह ब्रह्म दुर्ज्ञेय है, यह प्रतिपादित किया है ॥१३॥

सर्वतःपाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥१४॥

एवं सर्वाविषयत्वे ज्ञेयत्वं बाध्यते इति ज्ञेयत्वेन स्वरूपमाह ॥ सर्वत इति ॥ सर्वतः पाणयः पादाश्च यस्य तत्। एवं विशेषणद्वयेन सर्वत्र क्रियाशक्तिः सर्वसेव्यत्वं च निरूपितम्। सर्वतः अक्षीणि शिरांसि मुखानि च यस्य। एवं विशेषणत्रयेण सर्वज्ञानवत्त्वं सर्वमुख्यत्वं ज्ञापितम्। सर्वतः श्रुतिमत् सर्वतः श्रवणेन्द्रिययुक्तम्। अनेन भक्तादिस्तुतिश्रवणे योग्यत्वेन कृपालुत्वं प्रदर्शितम्। लोके स्वकीय इतिशेषः। तर्हि परिच्छिन्नं भविष्यतीत्याशङ्क्याह। सर्वम् आवृत्य व्याप्य सर्वेन्द्रियादियुक्तमेव तिष्ठतीति भावः ॥१४॥

इस प्रकार यदि वह सबका अविषय है, तो उसके ज्ञेयत्व में ही बाधा होगी, अतः ज्ञेयत्व स्वरूप कहते है। उसके हाथ-पैर सर्वत्र हैं, इस प्रकार दो विशेषणों से सर्वत्र क्रियाशक्ति और सर्वसेव्यत्व का निरूपण हुआ है। सर्वत्र उसके नेत्र और सिर तथा मुख हैं, इस प्रकार तीन विशेषणों से सर्वज्ञान वाला और सर्वमुख्य कहा गया है—वह सर्वत्र श्रवणेन्द्रिय युक्त है। इससे भक्त आदि की स्तुति श्रवण में योग्यत्व तथा कृपालुत्व कहा है। (अपनों की यह शेष अर्थ है) तब तो वह सीमित हो गया—इसका समाधान करते हुए कहा है कि वह समस्त इन्द्रियादिकों से युक्त होकर ही रहता है, यह भाव है ॥१४॥

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृच ॥१५॥

किंच ॥ सर्वेन्द्रियगुणाभासमिति ॥ सर्वेषामिन्द्रियाणां चक्षुरादीनां गुणेषु रूपादिषु भासमानम् । अनेन यत्र सौन्दर्यादिकं यत्किंचिदपि तद्भगवत्संबन्धादेवेतिज्ञापितम् । तर्हि लौकिकेन्द्रियादियुक्तं भविष्यतीत्यतआह । सर्वेन्द्रियविवर्जितं रहितमित्यर्थः । अनेनेन्द्रियाणां पूर्वोक्तानामलौकिकत्वं ज्ञापितम् । एतदेव विवेचयति । असक्तमित्यादिना । असक्तं सर्वत्राऽऽसक्तिरहितं तेन संगाभावः सूचितः । च पुनस्तादृशमेव सर्वभृत् सर्वाधारभूतं । सर्वधारणेन सगुणत्वमाशङ्क्याह । निर्गुणं सत्त्वादिगुणरहितम् । एवं गुणवैयर्थ्यमाशङ्क्याह । गुणभोक्तृ च गुणेषु स्थित्वा तद्भोगं करोतीत्यर्थः । चकारेण तत्पालकमपीति ज्ञापितम् ॥१५॥

वह चक्षु आदि समस्त इन्द्रियों के गुण रूपादि में प्रकाशित है। इससे यह भी सिद्ध हुआ कि जहाँ सौन्दर्यादिक है, वह भी भगवान् के सम्बन्ध से ही है। तब एक शङ्का होगी कि वह लौकिक इन्द्रियादि से युक्त है, अतः कहा है कि वह सर्व इन्द्रियों से रहित है। इससे जहाँ इन्द्रियों की चर्चा की गई है, वहाँ वे लौकिक नहीं अलौकिक समझनी चाहिये। इसका विवेचन करते हैं, वह सर्वत्र आसक्ति रहित है। इससे उसका संग साहित्य बतलाया है। वह सबका आधारभूत है। सबका धारक है तो सगुणत्व की शङ्का होगी, अतः कहा है कि वह सत्त्व-रज-तम आदि गुणों से रहित मानने से गुणों की व्यर्थता हो जायगी तो कहते हैं, गुणों में बैठकर वह उनका भोग करता है, उनका पालक भी है. यह चकार से सुस्पष्ट है ॥१५॥

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥१६॥

एवं भोगकर्तृत्वे व्यापकत्वं बाध्यत इत्यत आह ॥ बहिरिति ॥ भूतानां चराचराणां बहिः भोक्तृत्वेन, अन्तस्तद्रूपेणात्मरूपेण वा तदेव एव बहिरन्तःस्थत्वे सति भिन्नत्वेन व्यापकत्वहानिमाशङ्क्याह । अचरं स्थावरं, चरमेव च जङ्गमं च । एवकारेण स्थावरत्वसहितमेव जङ्गमत्वं जङ्गमत्व-

सहितमेव स्थावरत्वं, तेन विरुद्धधर्माश्रयत्वं ज्ञापितम् । एवंसति सर्वज्ञेयत्वमेव स्यात् पूर्वोक्तसाधनवत्सु को विशेष इत्यत आह । सूक्ष्मत्वादिति । तत् ब्रह्म तत्र तत्र लीलार्थरूपेण सूक्ष्मत्वात् साधनाभावे अविज्ञेयं विशेषेण ज्ञातुमशक्यमित्यर्थः । एतदेवाह । दूरस्थं चान्तिके च तत् । बहिर्मुखाणां दूरस्थं, भक्तानां च अन्तिके निकटे स्थितमित्यर्थः । चकारद्वयेनैतदुभयस्याऽपि लीलात्मकत्वं ज्ञापितम् । यद्वा । मर्यादास्थानां दूरस्थं, पुष्टिस्थानाम् अन्तिके स्थितम् । यद्वा । पुष्टिमार्गीयाणामेव विरहदशायामतितापेन पुरस्कृतं तच्च विरहरीत्या दूरस्थमेव, अन्तिके हृदये परोक्षरीत्या । तदज्ञानेन तज्जीवनार्थं निकटे च स्थितम् । 'मया परोक्षं भजता तिरोहित' मितिरीत्येतिभावः ॥१६॥

भोगों के कर्त्तापन से व्यापकत्व में बाधा आये भी अतः कहा है—चर और अचर के बाहर भोक्तारूप से अन्त में उसी रूप से अथवा आत्मरूप से वही है, इस प्रकार बाहर और भीतर भिन्न-कथन से व्यापकत्व में हानि आयेगी तब कहा है—स्थावर सहित जङ्गम और जङ्गमत्व सहित स्थावरत्व, इससे विरुद्ध धर्माश्रयत्व का प्रतिपादन किया गया है । इस प्रकार से तो वह सर्वज्ञेय हो जायगा, तो पूर्वोक्त साधन करने वालों का क्या प्राप्त हुआ, अत. आगे कहते हैं कि वह ब्रह्म उन-उन लीलाओं में सूक्ष्म है, अतः साधन के अभाव में उसको जानना कठिन है । वह दूर भी है, निकट भी है, अर्थात् बहिर्मुखों को दूर है, भक्तों के निकट है । चकार द्वय से दोनों का लीलात्मक बतलाया है, अथवा मर्यादा में रहने वालों को दूर है, पुष्टि वालों के निकट है । अथवा पुष्टि मार्ग में ही विरह दशा में अत्यन्त ताप से पुरस्कृत होकर विरह की रीति से दूर है, परोक्षरीति से हृदय में निकट रूप से है । इसे न जानने के कारण उसे जीवन देने हेतु निकट में स्थित है । 'मयापरोक्षं' इत्यादि कथन इसमें प्रमाण है ॥१६॥

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥१७॥

किंच । अविभक्तमिति ॥ भूतेषु स्थावरजङ्गमेषु स्वलीलार्थस्वस्वरूपात्मकत्वेन सर्वस्य प्रकटितत्वात् अभिन्नं रसार्थं द्वितीयरूपेण कृतत्वात् विभक्तमिव भिन्नमिव स्थितम् । इव पदेन स्वेच्छया तथा प्रदर्शयतीति

ज्ञापितम्। किंच तत् पूर्वोक्तं ज्ञेयं भूतानां भर्तृ रक्षकं पोषकं। भर्तृपदेन रमणशीलत्वं ज्ञापितं तेन रमणार्थमेव स्थितिकाले रक्षकमित्यर्थः। वियोगात्मकप्रलयकाले ग्रसिष्णु ग्रसनशीलं स्वस्मिन्नवरोधकमित्यर्थः। च पुनः सृष्टिकाले लीलात्मकरसदानात्मके प्रभविष्णु नानास्वरूपैः प्रभवनशीलम् ॥१७॥

स्थावर जङ्गम जीवों में अपनी लीला के लिये स्व-स्वरूपात्मक होने से सबको प्रकट दीखने से अभिन्न रस के लिये द्वितीय रूप से करने से भिन्न की भाँति स्थित है। 'इव' पद से उसकी स्वेच्छता है। और वह पूर्वोक्त ज्ञेय जीवों का रक्षक है, पोषक है। 'भर्तृपद' उसकी रमणशीलता का परिचायक है, अतः रमण में ही स्थिति काल में रक्षक है। वियोगात्मक प्रलय काल में ग्रसनशील है, अपने में रोककर रखता है, सृष्टिकाल में लीलात्मक रसदानात्मक होकर नाना स्वरूपों से उत्पन्न होने के स्वभाव वाला है ॥१७॥

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य धिष्ठितम् ॥१८॥

किंच। ज्योतिषामिति ॥ ज्योतिषां रविचन्द्रादीनामन्यप्रकाशमानानामपि तदेव ज्योतिः प्रकाशकमित्यर्थः ॥ अत्रायं भावः ॥ न तत्र सूर्यो भातीत्यादिश्रुत्या तत्रैतेषामभानमुक्तं, तथाच तत्प्रकटनवैयर्थ्यं स्यात्तदर्थं तत्प्रकाशनेन तत्र शोभादिकारकमित्यर्थः। अन्यथाऽन्यत्र सर्वप्रकाशत्वमपि न भवेत्। तर्हि मुख्यतमोरूपं सर्वप्रकाश्यत्वेन भविष्यतीत्यत आह। तमसः परमिति। तमसः मुख्यतमसोऽपि परम् उपरि उत्कृष्टं वा उच्यते श्रूयते इत्यर्थः। अतएव श्रुतिरपि तमसा गूढमग्रे प्रकेतमित्याह। ननु स्वप्रकाश्यत्वे स्वस्यैव नानास्वरूपात्मके सर्वेषां कथं न तज्ज्ञानमित्यत आह। ज्ञानमिति। ज्ञानबुद्धिवृत्त्यभिव्यक्त्यात्मकं च तदेव। तेन यत्र ज्ञापनेच्छा तत्रैव तद्रूपेणाविर्भवतीत्यर्थः। तथैव ज्ञेयं ज्ञेयरूपेणाविर्भूतमित्यर्थः। तथापि पुरुषोत्तमगृहात्मकमेवेत्याह। ज्ञानगम्यमिति ज्ञाने ज्ञानेन पूर्वोक्तरूपेण गम्यं प्राप्यं तेनाऽक्षरात्मकत्वं ज्ञापितम्। ननु पूर्वं ज्ञानरूपत्वेन सर्वाऽगम्यत्वमुक्तं तत्कथं ज्ञानगम्यमित्याह। हृदीति सर्वस्य प्राणिमात्रस्य हृदि धिष्ठितम् अधिष्ठितमित्यर्थः। सर्वप्रेरकत्वेन स्थितं तेन यत्र तथेच्छा तत्र ज्ञानरूपेणाविर्भवति यत्र न ज्ञापनेच्छा तत्राऽऽच्छादकत्वेन भवतीतिभावः ॥१८।

ज्योतिषाम्—सूर्य-चन्द्र आदि का प्रकाशक भी वही है। भाव यह है कि श्रुति में लिखा है कि वहाँ सूर्य का प्रकाश भी नहीं है। वहाँ इनका अप्रकाशन होने से व्यर्थत्व सिद्ध होता है, इसलिये प्रकाशन से शोभादिकारक कहा गया है। अन्यथा अन्यत्र सर्व प्रकाशकत्व भी न हो तो मुख्यतम रूप सर्व प्रकाश्यत्व से होगा, अतः कहा है, तम से परे। मुख्यतम से भी ऊपर अथवा उत्कृष्ट कहा जाता है। 'तमसा गूढ़मग्रे प्रकेतम्' यह श्रुति भी है। अपने द्वारा प्रकाश्य में अपने ही नाना स्वरूप में सबको वैसा ज्ञान क्यों नहीं होता, अतः कहा है कि ज्ञान वृद्धि वृत्ति का अभिव्यञ्जक वही है। अतः जहाँ प्रकाशन की इच्छा है, वहीं उसी रूप में आविर्भाव होता है। ज्ञेयरूप से आविर्भाव होना लिखा है। तथापि पुरुषोत्तम गूढ़ात्मक ही है। वह ज्ञान द्वारा समझ में आता है, अतः उसका अक्षरात्मक भी स्वरूप कहा है। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि जब परमात्मा सबसे अगम्य है, तब ज्ञान के द्वारा प्राप्त कैसे होता है। वह सब प्राणियों के हृदय में निवास करता है। वह सबका प्रेरक भी है, अतः जहाँ उसकी इच्छा होती है, प्रकट होता है, जहाँ प्रकट होने की इच्छा नहीं होती वहाँ वह अप्रकट रहता है ॥१८॥

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः ।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥१९॥

उपसंहरति ॥ इतीति ॥ इति अमुनाप्रकारेण 'महाभूतानीत्यादिना' क्षेत्रम्, अमानित्वमित्यादिना, ज्ञानम्, अनादि मत्परं ब्रह्मेत्यादिना' ज्ञेयं, चकारेण सर्वमक्षरात्मकं समासतः संक्षेपेण सौकर्यबोधार्थमुक्तम्। यदर्थमुक्तं तदाह। मद्भक्त इति। एतदुक्तरूपं विज्ञाय विशेषेण मद्विभूत्यक्षरात्मकं ज्ञात्वा मद्भक्तो मद्भजनशीलः सन् मद्भावाय भावात्मकस्वरूपलाभाय उपपद्यते योग्यः समर्थो वा भवतीत्यर्थः ॥१९॥

उपसंहार करते हुए कहते हैं कि उक्त प्रकार से इति अर्थात् महाभूत आदि तथा अमानित्वं इत्यादि से क्षेत्र, 'अनादि मत्परं ब्रह्म से ज्ञेय, चकार से अक्षरात्मक का निरूपण किया गया है, ये सब इसलिये कहे हैं कि उक्तरूप को जानकर मेरे विभूतिपरक अक्षरात्मक को जानकर मेरा भजन करने वाला बनकर मेरे भावात्मक स्वरूप लाभ के लिये योग्य बनोगे ॥१९॥

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्धयनादी उभावपि ।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान् ।।२०।।

एवं पूर्वप्रतिज्ञातं तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्चेति निरूपितम् । स्वांशत्वेन तत्र क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंज्ञा कथमित्याशङ्क्य 'यद्विकारीत्यादिना' पूर्वमेव प्रतिज्ञातमुभयोः स्वरूपं निरूपयति । प्रकृतिमित्याद्यैः पञ्चभिः पद्यैः । प्रकृतिं सर्वजननसमर्थां व्यापकत्वादिधर्मयुतां भगवच्छक्तित्वादनादिं, पुरुषं च तद्रसभोक्तारं भोक्त्रंशरूपं भगवदंशत्वादनादिम् । एवमुभावपि अनादी विद्धि जानीहि । अत्रायं भावः । पूर्वं ब्रह्मप्रकृतिपुरुषरूपेण विचित्ररसभोगार्थमाविर्भूय ततः सर्वं कृतवान्¹ स्वांशानां जीवानां ज्ञापनार्थं तत्र मोहकस्वभावमाया-² संबन्धादन्यथा ज्ञानेन संबन्धो भवति तदभावायाऽनादिस्वभगवच्छक्तिभगवदंशादिज्ञानेन मोहो न भवेदित्यर्थः । एवं तावनादी ज्ञात्वा विकारान् देहेन्द्रियादीन् सेवौपयिकान् गुणान् सुखदुःखमोहात्मकान् प्रकृतिसंभवानेव विद्धि । अत्रायं भावः । कयाचिदवस्थयाऽवस्थितस्वस्वरूपेण स्वरसानुभवार्थं देहादीन् सत्ताऽऽत्मकान् शक्तितः प्रकटीकरोति । तथैव संगमसुखानुभवविरहदुःखानन्दानुभवाऽऽसक्त्यात्मकानन्दमोहात्मकान् गुणानपि प्रकटयति । अतस्तथा विद्धि । एवं ज्ञानप्रयोजनं चाग्रे स्फुटीभविष्यति ।।२०।।

इस प्रकार क्षेत्र और उसका परिमाण स्वरूप बतलाकर अपने अंश से वहाँ क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ संज्ञा कैसे है, "इसका समाधान" 'यद्विकारीत्यादि' से पूर्व प्रतिज्ञात दोनों का स्वरूप ५ पद्यों से कहा जाता हैं। सबको उत्पन्न करने में समर्थ तथा सर्वव्यापक भगवान् की शक्तिरूपा 'प्रकृति' भी आदि रहित है तथा उसके रस का स्वाद लेने वाला भोक्ता अंशरूप भगवान् का अंश होने से पुरुष भी आदि रहित है। इस प्रकार प्रकृति और पुरुष दोनों ही अनादि हैं। भाव यह है कि ब्रह्म-प्रकृति पुरुष दोनों रूप में विचित्र रसभोग के लिये प्रकट होता है, और तब सब कार्य करता है। जीव उसी के अंश हैं उन्हें बोध कराने के लिये मोहक स्वभाव माया सम्बन्ध से भिन्न ज्ञान से सम्बन्ध होता है, उस सम्बन्ध के अभाव के लिये अनादि अपनी शक्ति, अपने अंशादि ज्ञान से मोह न हो यह अर्थ है। इस प्रकार प्रकृति-पुरुष दोनों को अनादि समझकर देह-इन्द्रिय आदि विकारों को जो सेवा के उपयोगी हैं, तथा सुख-दुःख मोह स्वरूप वाले गुणों को प्रकृति से उत्पन्न ही समझना चाहिये। भाव यह है किसी अवस्था से अपने स्वरूप से अपना

ही रस आस्वादन करने के लिये देहादि सत्ता को शक्ति द्वारा वह प्रकट करता है। उसी प्रकार संगम से मिलने वाले सुख के अनुभव, विरह से प्राप्त होने वाले दुःख के अनुभव, आनन्द अनुभव आसक्ति स्वरूप आनन्द मोहात्मक गुणों को भी प्रकट करता है। अतः उन्हें जानो। इस प्रकार ज्ञान का प्रयोजन आगे कहेंगे ॥२०॥

कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥२१॥

एतदेव विशदयति कार्येति ॥ कार्यस्य ॥ स्वरसानुभवात्मकस्य कारणानि देहगुणादीनि तेषां कर्तृत्वे प्रकटकरणे हेतुः प्रकृतिः पूर्वोक्तरूपा शक्तिरुच्यते। तथैव पुरुषः सुखदुःखानां संगमविरहात्मकादीनां भोक्तृत्वे तद्रसज्ञत्वे हेतुः कारणम् उच्यते ॥२१॥

पूर्व कथन का विशद वर्णन किया जाता है—स्वरसानुभवात्मक कार्य का, देह-गुण आदिकारणों के कर्तृत्व प्रकट करने में हेतु प्रकृति है, अर्थात् पूर्वोक्तरूपाशक्ति है। उसी प्रकार सुख-दुःखों का संगम-विरहात्मकों का भोक्ता रसज्ञ पुरुष हेतु कहा जाता है ॥२१॥

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान् ।
कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥२२॥

ततः किमत आह। पुरुष इति। पुरुषः पुरुषरूपेण प्रकटो भगवान्, प्रकृतिस्थः स्वरसानुभवस्थानस्थितः सन् प्रकृतिजान् पूर्वोक्तान् गुणान् भुङ्क्ते इतरसंभोगं करोतीत्यर्थः। ननु पुरुषरूपस्य सदसद्योनिदेवतिर्यगादिरूपजन्मसु गुणरसभोगेच्छा कारणं हेतुरित्यर्थः ॥२२॥

इससे क्या होता है, कहते हैं—पुरुषरूप से प्रकट होने वाले भगवान् अपने रसानुभव स्थान में अर्थात् प्रकृति में स्थित होकर प्रकृति से उत्पन्न होने वाले गुणों को भोगते हैं। भिन्न संभोग करते हैं। इससे यह नहीं समझना चाहिये कि पुरुष रूप की अच्छी-बुरी देह-तिर्यग् आदिरूप योनियों में गुणों के रसभोग की इच्छा कारण है ॥२२॥

उपद्रष्टाऽनुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः ॥२३॥

एवं रसभोगेच्छां कारणत्वेनोक्त्वा तत्र देहादिषु प्रविष्टस्य स्वल्पांशस्याविद्यात्मकजीवस्य भोगादिदर्शने पुरुषस्य कथं भोगः ? कथं तेन जीवस्य संसार ? इत्याशङ्कायां समाधत्ते ॥ उपद्रष्टेति ॥ परः पुरुषः पुरुषोत्तमः अस्मिन्देहे उपद्रष्टा उप=समीपेद्रष्टा साक्षी, तथा अनुमन्ता अनुमोदिता, भर्त्ता धारकः, भोक्ता रक्षकः, महेश्वरः महांश्चासावीश्वरश्च सः । तथैव परमात्मा । चकारेण प्राणजीवादिरप्युक्त इत्यर्थः । अयं भावः । देहादिकं सर्वं भगवति निवेद्य तद्दत्तप्रसादत्वेन सेवार्थोपयोगिभोगकर्तुःसाक्षी=मुख्यसेवायां तदुपयोगकारयिता । एवमेव कृतसमर्पणमोदे अनु=पश्चान्मोदिता । एवमेव भर्त्ता पतित्वेन धारकपोषक इत्यर्थः । तथैव भोक्तृत्वेन स्वीयत्वज्ञानेन रक्षकः । तथैव महेश्वरः कर्तृणां ब्रह्मादीनामपि प्रभुः तेन तादृग्वस्तुकर्त्तेत्यर्थः । तथैव परमात्मा तादृग्धर्मवतो भिन्नरूप इत्यर्थः ॥२३॥

इस प्रकार रसभोग की इच्छा को कारणत्व से बतलाकर देहादि में प्रविष्ट अपने अल्प अंश अविद्यात्मक जीव का भोगादि दर्शन में पुरुष का भोग किस प्रकार है ? उससे जीव को संसार कैसे होता है ? इसका समाधान करते हैं—परः पुरुषः= अर्थात् पुरुषोत्तम इस देह में साक्षी है, अनुमोदक है, धारक है, रक्षक है, महान् ईश्वर है, परमात्मा है। चकार से प्राण-जीवादि भी समझना चाहिये। भाव यह है कि देहादि सब कुछ भगवान् को समर्पण करके उसके द्वारा दिये गये प्रसाद में सेवा के उपयुक्त भोगकर्त्ता का साक्षी है=मुख्य सेवा में उसके उपयोग का करने वाला है। इस प्रकार समर्पण के पश्चात् प्रसन्न होने वाला है और पतित्वेन धारक पोषक है। भोक्तृत्व से अपनेपन के ज्ञान का रक्षक है। महेश्वर का तात्पर्य यह है कि वह ब्रह्मादि महान् देवों का भी प्रभु है। वैसी वस्तुओं को व्यक्तियों को बनाने में समर्थ है। परमात्मा से तात्पर्य उसका भिन्नरूप है ॥२३॥

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह ।
सर्वथा वर्त्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥२४॥

एवमनूद्य तं विदः संसाराऽभावमाह ॥ य एवमिति ॥ एवं पूर्वोक्तप्रकारेण यः पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह भगवद्रूपं वेत्ति जानाति ज्ञात्वा तथा सर्वथा वर्तमानोऽपि तथाऽऽचरणशीलो यो भवति स भूयोनाऽभिजायते संसारे नोत्पन्नो भवति । किंतु मुक्त एव भवतीत्यर्थः ॥२४॥

इस प्रकार के ज्ञानी को संसार नहीं होता, इसे स्पष्ट कहते हैं—

जो ज्ञानी पुरुष-प्रकृति और गुणों के साथ भगवान् के रूप को जानता है, और जो उपदेश का यथायोग्य आचरण करता है, वह पुनः जन्म ग्रहण नहीं करता। वह मुक्त हो जाता है ॥२४॥

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना ।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥२५॥
अन्येत्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते ।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥२६॥

नन्वेवं ज्ञानेनैव मुक्तिश्चेत्तदाऽन्यसाधनानामप्रयोजकत्वं स्यादित्याशङ्क्यान्यसाधनस्वरूपमाह ॥ ध्यानेनेति ॥ द्वयेन । केचित् ज्ञानः ध्यानेन परिकल्पनेन आत्महृदये आत्मना मनसा आत्मानं आत्मरूपं भगवन्तं पश्यन्ति । अन्ये सांख्येन नित्याऽनित्यवस्तुविवेकात्मकेन योगेन तथा पश्यन्ति । अपरे कर्मयोगेन कर्मसु तदात्मकप्राकटचरूपयोगेन पश्यन्ति तद्रूपम् । अन्येतु मूर्खाः अजानन्तः अन्येभ्यो गुरुभ्यः श्रुत्वा विनैवानुभवम् एवं पूर्वोक्तप्रकारैरुपासते उपसनां कुर्वन्ति तेऽपिच सर्वे मृत्युम् अतितरन्त्येव मुक्ता भवन्तीत्यर्थः । कथमित्यत आह । श्रुतिपरायणाः । श्रुत्युक्तप्रकारत्वात् श्रद्धया करणादित्यर्थः । अयमर्थः । स्ववाक्यसत्यत्वाय तानपि तारयामि निर्बन्धेन, नतु स्नेहेन । इदमेवैवकाराऽपिशब्दाभ्यां व्यञ्जितम् ॥२५-२६॥

यदि इस प्रकार के ज्ञान से ही मुक्ति हो तो अन्य साधनों का प्रयोजन ही नहीं रहेगा। अतः अन्य साधन स्वरूप कहते हैं—(दो श्लोकों से) कुछ ज्ञानीजन ध्यान के योग से अपने हृदय में मन से आत्मरूप भगवान् का दर्शन करते हैं।

कुछ ज्ञानी नित्य और अनित्य वस्तुओं के विवेचक सांख्य शास्त्र से देखते हैं कुछ कर्म-योग से कर्मों में तदात्मक प्राकट्यरूप योग से उसके रूप को देखते हैं, अन्य मूर्खजन न जानकर अन्य गुरुजनों से सुनकर बिना अनुभव के ही पूर्वोक्त प्रकार से उपासना करते हैं वे भी सब मृत्यु को तो तैरकर जाते ही हैं। अर्थात् मुक्त वे भी हो जाते हैं। कारण यह है कि वे वेद में श्रद्धा करते हैं। अर्थ यह है कि अपने वाक्य की सत्यता के लिये उन्हें भी तार देता हूँ परन्तु यह कार्य बन्धरूप से करता हूँ स्नेह से नहीं। यह बात 'एव' तथा अपि शब्दों द्वारा व्यञ्जित है ॥२५-२६॥

यावत् संजायते किंचित् सत्त्वं स्थावरजङ्गमम् ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥२७॥

एतेषु पूर्वोक्तप्रकारेषु किमुत्तमम् अथच कथं ज्ञेयमित्यत आह। यावदिति। यावद्वस्तुमात्रं स्थावरजङ्गमं तत् क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः पूर्वोक्तस्वरूप-योगात् क्रीडार्थकमत्संयोगात् सत्त्वं सत्त्वात्मकं विद्धि जानीहि। भरतर्षभेति-संबोधनं तदर्थज्ञानयोग्यत्वाय ॥२७॥

इन पूर्वोक्त प्रकारों में उत्तम क्या है ? तथा ज्ञेय क्या है इसका उत्तर देते हैं— जितने भी पदार्थ स्थावर-जङ्गम आदि हैं वे क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के पूर्वोक्त स्वरूप योग से क्रीड़ा के लिये मेरे संयोग से सत्वात्मक समझो। 'भरतर्षभ', यह सम्बोधन इसके अर्थ के ज्ञान योग्यता के लिये है ॥२७॥

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥२८॥

एतदेव फलरूपत्वेन विशदयति सममिति। सर्वेषु प्रपञ्चान्तःपाति-स्थावरजङ्गमात्मकेषु भूतेषु लीलया अनेकविधरसभोगार्थं तिष्ठन्तं रसानु-भवाय नीचोच्चादिधर्मरहितं समं तेषु विनश्यत्सु च अविनश्यन्तं तादृग्लीलाव-बोधरहितत्वाद्विनाशं प्राप्तेषु अन्यथाभावेन क्रोधादिराहित्येन तथैव लीलानु-भवं कुर्वन्तं यः पश्यति स परमेश्वरं पश्यति। अत एवंदर्शनाऽभावे साऽपराधो भवत्येव ॥२८॥

इसी पूर्वोक्त तथ्य तो विस्तृत रूप में कहते हैं—समस्त प्रपञ्चों के मध्यवर्ती स्थावर जङ्गमात्मक प्राणियों में लीला द्वारा अनेक विध रस भोग के लिये स्थित रसानुभव के लिये नीच-उच्च धर्म से रहित सम तथा उनके नष्ट न होनेवाले उस प्रकार की लीला को न जानकर विनाश को प्राप्त अन्यथा भाव से क्रोधादि से रहित उसी प्रकार लीला का अनुभव करते जो देखता है वह परमेश्वर को देखता है। न देखने पर अपराध लगता है ॥२८॥

समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ॥२९॥

पश्यन् मुक्तो भवतीत्याह। सममिति। सर्वत्र प्रापञ्चिकपदार्थमात्रे समवस्थितं सम्यक्प्रकारेण तथाभूतलीलार्थमवस्थितम् ईश्वरं सर्वसामर्थ्ययुक्तं समं पश्यन् आत्मना स्वलीलात्मरूपेण आत्मस्वरूपमविकृतमात्मानं हि निश्चयेन न हिनस्ति अन्यथा न प्राप्नोति, यथार्थरूपेण ज्ञात्वा प्रपद्यते। ततः पराम् उत्कृष्टां वैकुण्ठाख्यां गतिं याति। इति युक्तत्वम् अन्यथाप्रपत्तेर्निषिद्धत्वात्। अतएव 'यो ऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते। किं तेन न कृतं पापं चौरेणाऽऽत्मापहारिणेति' संपद्यते ॥२९॥

देखकर मुक्त होता है अतः कहा है—सर्वत्र प्रपञ्च सम्बन्धी पदार्थों में भली-भाँति लीला को स्थित, सर्वसामर्थ्ययुक्त ईश्वर को समभाव से देखता हुआ अपनी लीलात्मरूप से आत्म-स्वरूप को विकाररहित आत्मा को अन्यथा नहीं करना। यथार्थ-रूप से जानकर प्रवृत्त होता है और उत्कृष्ट वैकुण्ठ नाम की गति को प्राप्त करता है। अन्यथा प्रपत्ति निषिद्ध है। इसीलिये यह कहा गया है कि जो अपनी आत्मा को अन्यथा समझता है और उस चौर ने आत्मा का अवमान करनेवाले ने क्या नहीं किया ॥२९॥

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
यः पश्यति तथाऽऽत्मानमकर्त्तारं स पश्यति ॥३०॥

ननु सर्वरूपेण यदि सर्वत्र स एवास्ति तदा कथं न सर्वे तथा पश्यन्तीत्याशङ्क्याह। प्रकृत्यैवेति। प्रकृत्या लीलोपयोगिन्यैव क्रियमाणानि कर्माणि

यः पश्यति चकारेण कार्यमाणानि कर्माणि, तथा आत्मानं जीवम् अकर्तारं तदिच्छाभावे सर्वकरणाऽशक्तं यः पश्यति स पश्यति परमेश्वरमितिशेषः। अथवा स एव पश्यति अन्येत्वन्था एवेति भावः ॥३०॥

यदि वह सर्वत्र ही है तो सबको यह दिखलाई क्यों नहीं देता। इसका उत्तर देते है—प्रकृति द्वारा लीला के उपयुक्त किये गये कर्मो को जो देखता है जो कराये गये है उन्हें भी देखता है, जीव को अकर्त्ता के रूप में उसकी इच्छा के अभाव में सब कुछ करने में असमर्थ जो देखता है वह परमेश्वर को देखता है। अथवा वही व्यक्ति देखता है, अन्य तो अन्यथा देखते हैं अर्थात् सत्यरूप में नहीं देखते ॥३०॥

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥३१॥

एवमेव सर्वेषां लये सूक्ष्मत्वमुत्पत्तौ विस्तरं च यदा ब्रह्मणः सकाशादेव तद्रूपं पश्यति तदा ब्रह्मत्वमाप्नोतीत्याह। यदेति। यदा भूतानां स्थावर-जङ्गमानां पृथग्भावं ब्रह्मणो भेदं विचित्रानेकरूपात्मकम् एकस्थं संहारेच्छात्मकरमणात्मकब्रह्मस्वरूपस्थं प्रलये अनु पश्यति च पुनः। तत एव प्रपञ्च-रमणेच्छुर्ब्रह्मण एव सृष्टिसमये विस्तारम् अनुपश्यति, तदा ब्रह्म संपद्यते ब्रह्मत्वमाप्नोतीत्यर्थः ॥३१॥

इस प्रकार सब के नाश में सूक्ष्म, उत्पत्ति में विस्ताररूप ब्रह्म से ही होता है, ऐसा जानकर ब्रह्मभाव को प्राप्त करता है। इसे ही कहते है—जब स्थावर—जङ्गम भूतों का पृथक् भाव नाम ब्रह्म से भेद देखता हैं अनेक विचित्र रूपों को देखता है, एकत्र संहार इच्छात्मक रमणात्मक ब्रह्मस्वरूप में देखता है, तब प्रपञ्च रमणेच्छावान् ब्रह्म के सृष्टि के समय विस्तार को देखता है तब ब्रह्मभाव को प्राप्त करता है ॥३१॥

अनादित्वान्निर्गुणत्वात् परमात्माऽयमव्ययः।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥३२॥

ननु यथा ब्रह्मांशस्यादिजीवस्य देहसंबन्धात्कर्मलेपस्तेनैवाज्ञानं तन्नाशश्च प्रेरकात्मसंबंधात्तस्यैव जीवसंबन्धालेपे सति कथं समदर्शनमित्या-

शङ्कुचाह। अनादित्वादिति। यस्यैवोत्पत्तिस्तस्यैवान्यसंबन्धेन नाशः। सच[1] अनादित्वाविद्यकजीवभाववदुत्पत्तिरतएव तत्सम्बन्धाऽभावार्थं साक्षित्वं पूर्वं निरूपितम्। तस्मात् गुणसंबन्धिन एव तन्नाशे नाशः सच निर्गुणस्तस्मादयं परमात्मा अव्ययः परसंबन्धादिनाशशून्यः। अतः शरीरस्थोऽपि कर्माणि न करोति अत एव न लिप्यते ॥३२॥

जिस प्रकार ब्रह्म का अंश जीव है और वह देह के सम्बन्ध से कर्म से लिप्त है उसके अज्ञान का मूल भी देह सम्बन्ध है और नाश भी उसी से है। प्रेरक आत्म सम्बन्ध से उसका जीव सम्बन्ध का लेप न होने से समदर्शन कैसे होगा, अतः कहा है कि जिसकी उत्पत्ति है उसका नाश भी अन्य सम्बन्ध से है वह अनादि है, अविद्याकृत नहीं है। जैसे अविद्या से जीव भाव की उत्पत्ति होती है वैसे नहीं अतः उसके सम्बन्ध के अभाव के लिये साक्षित्व पहले कहा जा चुका है। अतः गुण सम्बन्धी के नाश होने पर ही नाश होता है। वह निर्गुण है अतः यह परमात्मा अव्यय है पर सम्बन्धादि नाशरहित है। अतः शरीर में रहते हुए भी वह कर्म नहीं करता, अतः वह कर्मों में लिप्त नहीं होता ॥३२॥

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथाऽऽत्मा नोपलिप्यते ॥३३॥

एतदर्थं दृष्टान्तमाह। यथेति। यथा सर्वगतं सर्वत्र जड़जीवान्तर्गतमाकाशं सौक्ष्म्यात् स्वरूपाभावात् संगरहितं तेन सह नोपलिप्यते तथा सर्वत्र उच्चनीचोऽपि देहावस्थितोऽप्यात्मा न लिप्यते ॥३३॥

इसीलिये दृष्टान्त कहा है। जिस प्रकार जड़ और जीव के भीतर भी अकाश है किन्तु सूक्ष्म होने से स्वरूप शून्य होने से संग रहित है, वह उनमें लिप्त नहीं होता उसी प्रकार उच्च-नीच देहों में अवस्थित होने पर भी आत्मा लिप्त नहीं होता ॥३३॥

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥३४॥

---

१. आत्मा च।

नन्वलेपे देहादिगुणप्रकाशकत्वं कथमित्याशङ्क्याह । यथेति । यथैको रविर्मदंशात्मकत्वात् कृत्स्नं संपूर्णमिमं लोकं प्रकाशयति, तथा मदंशकत्वादेव क्षेत्री क्षेत्रं कृत्स्नं संपूर्णं प्रकाशयति । रवेर्लोचनात्मकत्वात्तद्दृष्टान्ते मत्कृपादृष्ट्या क्रीडोपयोग्यत्वायाऽऽत्मापि क्षेत्रं प्रकाशयतीतिज्ञापितम् । भारतेतिसम्बोधनेन सैन्यमध्ये स्थितो मंदशत्वात्तद्दोषैस्त्वं यथा न लिप्यस इतिज्ञापितम् ॥३४॥

लिप्त न होने पर देह के गुणों का प्रकाशक वह कैसे होता है, इसके उत्तर में कहते हैं—जिस प्रकार एक सूर्य मेरा अंश है और वह सम्पूर्ण लोक को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार मेरे अंश के कारण क्षेत्री (जीव) क्षेत्र का प्रकाश करता है। 'रवि' लोचन की भाँति माना गया है, इस दृष्टान्त का भाव यह भी है कि मेरी कृपा दृष्टि से क्रीड़ा की उपयोगिता के लिये आत्मा भी क्षेत्र का प्रकाशक होता है। भारत सम्बोधन से यह ज्ञापित किया है कि सेना के मध्य में अवस्थित होने से मेरा अंश तू उनसे लिप्त न हो ॥३४॥

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति तत्परम् ॥३५॥

इति श्रीभगवद्गीतासूपनिषत्सुब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णाऽर्जुनसंवादे प्रकृतिपुरुषयोगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥१३॥

उपसंहरति क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरिति । एवं पूर्वोक्तप्रकारेण क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरन्तरं भेदं । लौकिकसृष्टितः, ज्ञानचक्षुषा आलोचनदृष्ट्या ये विदुः । च पुनः । भूतानां संबन्धिनी या प्रकृतिः संसारोपयोगिनी ततो मोक्षसाधनं ध्यानाद्यात्मकं ये विदुस्ते परं मोक्षं यान्ति प्राप्नुवन्तीत्यर्थः ॥३५॥

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवं रूपमुक्त्वेश्वरः स्वयम् ।
मोहं निवारयामास फाल्गुनस्य नमामि तम् ॥१॥

इति श्रीभगवद्गीताऽमृततरङ्गिण्यां टीकायां त्रयोदशोऽध्यायः ॥१३॥

इस प्रकार क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के अन्तर को ज्ञान चक्षु से अर्थात् आलोचन दृष्टि से जो जानते हैं तथा सम्बन्धिनी संसारोपयोगिनी प्रकृति को तथा मोक्ष के साधन ध्यानादि को जो जानते हैं, वे परम मोक्ष को प्राप्त करते हैं ॥३५॥

कारिकार्थ :—क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के रूप को समझाकर अर्जुन के मोह को दूर करनेवाले ईश्वर कृष्ण को नमस्कार करता हूँ।

॥ इति अमृत तरङ्गिण्यां टीकायां त्रयोदशोऽध्यायः ॥

※ श्रीकृष्णाय नमः ※

अध्याय १४

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम् ।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ॥१॥

कृष्णः स्वगुणसंबन्धात्प्रपञ्चस्य विचित्रताम् ।
बोधनार्थं पाण्डवाय वर्णयामास विस्तरात् ॥१॥

अथ स्वक्रीडार्थं विरचितसत्त्वादिगुणसंगजप्रपञ्चवैचित्र्यस्वरूपेण फलात्मकं निरूप्य वर्णयति। तत्र श्लोकद्वयेन फलरूपस्वरूपमाह। परममिति। परं भगवत्संबन्धिफलात्मकं ज्ञानं ज्ञेयसाधनं तेन भूयः पूर्वमुक्तं साधारण्येन, पुनः प्रकर्षेण ससाधनं वक्ष्यामि कथयामीत्यर्थः। भूयः प्रकर्षकथने विशेषणेन विशेषयति। कीदृशं तत् ? ज्ञानानां पूर्वोक्तज्ञेयसाधनानां मध्ये उत्तमं मुख्यमित्यर्थः। एवं कथनं प्रतिज्ञाय फलरूपत्वमाह। यदिति। यज् ज्ञानं ज्ञात्वा मुनयो मननशीलास्तदभ्यसनपराः सर्वे परां सिद्धिमनुभवात्मिकाम् इतः लौकिकदेहात् गताः प्राप्ताः। सर्व इतिपदेन येषां सिद्धिर्जाता तेषामनेनैवेति-ज्ञापितम्। ज्ञानानामुत्तममनेन विशेषणेन ज्ञानेष्वेवोत्तमत्वं नतु भक्तित इतिव्यञ्जितम् ॥१॥

कारिकार्थ :—कृष्ण ने अपने गुण सम्बन्ध से प्रपञ्च की विचित्रता को अर्जुन के समक्ष विस्तार से कहा ॥१॥

अपनी क्रीड़ा के लिये विरचित सत्व-रज-तम गुणों के संग से उत्पन्न होनेवाले प्रपञ्च की विचित्रता से फलात्मक वर्णन करते हैं—दो श्लोकों से फल स्वरूप बतलाते हैं—भगवत्सम्बन्धि फलात्मक ज्ञान को, ज्ञेय के साधन को जो कहा जा चुका है, अब उसे विशेषता के साथ कहता हूं। यह पूर्वोक्त ज्ञेय साधनों में श्रेष्ठ है। इस प्रकार

कथन की प्रतिज्ञा करके फलरूपता कहते हैं—जिस ज्ञान को जानकर मननशील अभ्यासपरायण अनुभवात्मिका सिद्धि को इसी लौकिक देह से प्राप्त कर चुके हैं। सर्व पद से यह स्पष्ट किया है कि जिन्हें सिद्धि प्राप्त हुई उन्हें इसी से हुई है। ज्ञानों में उत्तम कहने का तात्पर्य यह है कि वह भक्ति से उत्तम नहीं है ॥१॥

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥२॥

ज्ञानेन कथं सिद्धिं प्राप्ता इत्यत आह। इदमिति। इदं वक्ष्यमाणं ज्ञानमुपाश्रित्य साधनानुष्ठानं कृत्वा मम साधर्म्यं समानधर्मत्वं लीलायोग्यत्वम् आगताः सन्तः सर्गेऽपि आदिसर्गे ब्रह्मादिसृष्टावपि नोपजायन्ते। च पुनः प्रलये सृष्टिसंहारे न व्यथन्ति, न पुनरावर्तन्त इत्यर्थः ॥२॥

ज्ञान से कैसे सिद्धि मिली इसे समझाते हैं—यह ज्ञान जो अब कहा जायगा साधन का अनुष्ठान करके मेरे समान धर्म को लीला योग्यता को प्राप्त करके ब्रह्मा की सृष्टि के समय भी उत्पन्न नहीं होते। सृष्टि के संहार के मध्य भी व्यथित नहीं होते पुनः पुनः नहीं आते ॥२॥

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम् ।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ! ॥३॥

एवं फलरूपतामुक्त्वा तदेव प्रपञ्चयति। ममेति। महत् देशकालाद्यपरिच्छन्नं ब्रह्म बृहत्त्वाद्वृंहणत्वेन मल्लीलार्थवस्तुवृद्धिहेतुत्वाद् ब्रह्म प्रकृतिः मम पुरुषोत्तमस्य योनिः क्रीडार्थविचित्रानेकवस्तुरूपप्रकटनात्मकगर्भाधानस्थानम्। तस्मिन् गर्भं क्रीडेच्छात्मकभावं दधामि स्थापयामि। ततो गर्भाधानानन्तरं सर्वभूतानां संभव उत्पत्तिर्भवति। भारतेतिसंबोधनं विश्वासार्थम् ॥३॥

फलरूपता को बतलाकर पुनः विस्तारपूर्वक समझाते हैं—ब्रह्म महान् है तथा देश-काल आदि से अनावृत है, वस्तुतः वह मेरी लीला के लिये ही बृहत् है वही प्रकृति है और मुझ पुरुषोत्तम की योनि है। क्रीड़ा के लिये विचित्र अनेक वस्तु रूप

प्रकट करने से गर्भाधान स्थान है, उसमें क्रीडेच्छात्मक भावरूप गर्भ को स्थापित करता हूँ। गर्भाधान के अनन्तर समस्त भूतों की उत्पत्ति होती है। भारत सम्बोधन विश्वास के निमित्त है ॥३॥

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥४॥

नन्वनेकविधवस्तूनामनेकयोनिषु नानाविधप्रतीतौ कथमेकयोनित्व-मित्यत आह। सर्वयोनिष्विति। पूर्वं तु सर्वोत्पत्तिरूपसर्वयोन्युत्पत्तिस्ततः सर्वयोनिषु हे कौन्तेय या मूर्तयः स्वरूपाणि संभवन्ति, तासां महद्ब्रह्म प्रकृतियोनिरुत्पत्तिस्थानं मातृस्थानीयं, बीजप्रदः इच्छाज्ञानात्मकबीजप्रदः पिता उत्पादकोऽहमेवेत्यर्थः। तदेव ब्रह्म मदिच्छया नानायोनिरूपेण भूत्वा भासते इत्यर्थः ॥४॥

अनेक विधवस्तु अनेक योनियों में होती हैं तो नानाविध प्रतीति में उन्हें एक योनि से सम्बद्ध कैसे किया जा सकता है तो कहा है—प्रथम तो सर्वोत्पत्तिरूप सर्व-योनियों की उत्पत्ति होती है तब समस्त योनियों में हे कौन्तेय ! जो स्वरूप उत्पन्न होते हैं, उनमें महद् ब्रह्म प्रकृतियोनि उत्पत्ति स्थान अर्थात् मातृ स्थानीय है, इच्छा ज्ञानात्मक बीज देनेवाला पिता अर्थात् उत्पादक मैं हूँ। वही ब्रह्म मेरी इच्छा से नानायोनिरूप से प्रकाशित होता है ॥४॥

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥५॥

ननु लीलाऽऽत्मकप्रकृत्युत्पादितलीलार्थदेहादिषु स्थितस्य बीजस्य बन्धः कथमित्यत आह। सत्त्वमिति। सत्त्वं रजस्तम इति संज्ञका गुणाः प्रकृतिसंभवाः प्रकृतितः संभव उत्पत्तिर्येषां तादृशाः ते अव्ययं विनाशादि-धर्मरहितं देहिनं जीवं तद्रूपेण तद्द्वारा गुणभोगार्थमाविर्भूतं निबध्नन्ति वशीकुर्वन्ति रसपरत्वादित्यर्थः ॥५॥

लीलात्मक प्रकृति द्वारा उत्पन्न लीलार्थ शरीरों में विद्यमान बीज का बन्धन कैसे हो सकता है, अतः कहा है—सत्त्व-रज-तम गुण प्रकृति से उत्पन्न होते हैं, वे

विनाशादि धर्म से रहित भगवान् के चित् अंश जीव को जो गुणों के भोग के लिये आविर्भूत है, रसपरत्व होने से वश में करते हैं ।।५।।

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात् प्रकाशकमनामयम् ।
सुखसंगेन बध्नाति ज्ञानसंगेन चाऽनघ ।।६।।

अथ त्रयाणां बन्धनरीतिं सलक्षणमाह । तत्रेति । तत्र गुणत्रये सत्त्वं निर्मलत्वाद्भगवदिच्छात्मकपदार्थस्थितिहेतुत्वेन शुद्धत्वात् प्रकाशकं भगवद्रमणात्मकसर्वस्वरूपप्रकटीकरणसमर्थम्, अनामयं भगवत्सेवाप्रतिबन्धात्मकरागादिदोषरहितम्, अतः सुखसंगेन भगवतः साधनात्मकसेवनसुखजनकदेहाद्युत्तमत्वसंगेन बध्नाति । च पुनः । ज्ञानसंगेन ज्ञानोत्पत्तिसाधकत्वेन बध्नाति । अनघेतिसंबोधनेन मत्कृपाविशिष्टत्वात्तव संबन्धाभाव इति ज्ञापितम् ।।६।।

अब तीनों के बन्धन का प्रकार कहते हैं—सत्त्व गुण निर्मल है, भगवदिच्छात्मक पदार्थ स्थिति का हेतु होने से शुद्ध है । भगवान् के रमणात्मक सम्पूर्ण स्वरूपों को प्रकट करने में सामर्थ्यशाली होने से प्रकाशक है । भगवान् की सेवा के प्रतिबन्धक रागादि दोषों से रहित होने से अनामय है । अतः भगवन् के साधनात्मक सेवन सुख से उत्पन्न देहादि उत्तमत्व के संग से (सुख संग से) बाँधता है । ज्ञानोत्पत्ति का साधक होने से बन्धन देता है, अनघ सम्बोधन से मेरी कृपा से विशिष्ट तुझे इससे सम्बन्ध नहीं, यह ज्ञापित है ।।६।।

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासंगसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसंगेन देहिनम् ।।७।।

सत्त्वलक्षणमुक्त्वा रजोलक्षणमाह । रजो रागात्मकमिति । रजः रजोगुणं रागात्मकम् अनुरञ्जनात्मकं नानापदार्थोत्पादनेन भगवद्रञ्जनात्मकं विद्धि । तत् तृष्णासंगसमुद्भवं तृष्णा भगवदर्थोत्पन्नवस्तुमात्राज्ञानेन स्वाभिलाषः तत्संगेन समुद्भव उत्पत्तिर्यस्य तादृशं देहिनं नतु भगवदर्थकज्ञानात्मकं, कर्मसंगेन तत्स्वाभिलषितप्राप्त्यर्थं क्रियासंगेन बध्नाति लौकिकासक्तिं जनयतीत्यर्थः ।।७।।

सत्त्व का लक्षण बतलाकर अब रजोगुण का लक्षण बतलाते हैं—रजोगुण रागात्मक है, नाना पदार्थों को उत्पन्न करता है, अतः भगवान् को रञ्जन करनेवाला है। देही तृष्णा संग से उद्भूत को (अर्थात् भगवान् के अर्थ उत्पन्न वस्तुमात्र को) न जानकर अपनी अभिलाषा उसमें कर बैठता है,उस संग से जिसकी उत्पत्ति होती है, ऐसे देही को जो यह जानता है कि ये पदार्थ भगवान् के लिये हैं उन्हें छोड़कर कर्म संग से अपनी यथेष्ट वस्तु की प्राप्ति के लिये क्रिया के संग से लौकिक आसक्ति को यह रजोगुण उत्पन्न करता है ॥७॥

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।
प्रमादाऽऽलस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥८॥

तमसो लक्षणं सबन्धकमाह । तमस्त्विति । तमः पूर्वोक्तभगवल्लीलाद्यज्ञानाज्जातं प्रलयात्मकत्वात् भगवद्विस्मारणात्मकं सर्वदेहिनां मोहनं भ्रमजनकं विद्धि । प्रमादालस्यनिद्राभिर्भगवत्सेवाप्रतिबंधात्मकत्रयरूपाभिरन्यथाज्ञानेन तं बध्नाति । प्रमादो भगवदनवधानता । आलस्यं भगवत्सेवाऽनुद्यमः । निद्रा चित्तस्य ज्ञाननाशः ॥८॥

अब तमोगुण का लक्षण बतलाते हैं—पूर्वोक्त भगवान् की लीलाओं को न जानने से उत्पन्न, प्रलयात्मक होने से भगवान् को भुलानेवाला तथा समस्त देहधारियों को भ्रम देनेवाला है। भगवान् की सेवा के प्रतिबन्धक प्रमाद, आलस्य, निद्रा इन तीनों रूपों से बन्धन देनेवाला है। प्रमाद भगवान् के सम्बन्ध में अनवधानता का नाम है। भगवान् की सेवा में उद्यम न करना आलस्य है और चित्त के ज्ञान का नाश निद्रा है ॥८॥

सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत ।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत ॥९॥

एवं सत्त्वादीनां स्वरूपमुक्त्वा तेषां स्वकार्यकारणातिशयत्वमाह । सत्त्वमिति । सत्त्वं सत्त्वगुणः सुखे भगवज्ज्ञानात्मके संजयति संयोजयति । एवमेव रजः कर्मणि पूर्वोक्ते संयोजयति । तथा तमो भगवदीयसंगादिना जायमानं ज्ञानं निद्राऽऽलस्याद्यैरावृत्य प्रमादे अनवधानतायां संयोजयति ।

यद्वा। सुख उत्पादिते सत्त्वं संजयति सर्वोत्कर्षेण तिष्ठति। तथैव कर्मणि रजः, प्रमादे तमः। अत्रायं भावः। भगवता त्रयोऽपि गुणा एतद्वैचित्र्यार्थ-मेवोत्पादितास्तेषां तत्कृतकार्यदर्शनेन संतुष्यति प्रभुस्तेनैव तदुत्कर्षः सिद्धयतीति ॥६॥

इस प्रकार सत्त्व-रज-तम गुणों का स्वरूप बतलाकर उनके कार्य-कारण का विचार करते हैं—सत्त्व गुण भगवान् के ज्ञानात्मक सुखों में लगानेवाला है। इसी प्रकार रजोगुण भी पूर्वोक्त कर्म में लगाता है। तमोगुण भी भगवद्भक्तों के संग से उत्पन्न ज्ञान को निद्रा आलस्य आदि से अभिभूतकर अनवधानता में लगाता है। अथवा सुख में सत्त्व सर्वोत्कर्ष रूप में रहता है, कर्म में रजोगुण तथा प्रमाद में तमोगुण रहता है। भाव यह है कि भगवान् ने तीनों गुणों को विचित्रता दर्शाने के लिये ही उत्पन्न किया है, गुणों के कार्य देखने से सन्तुष्ट होते हैं। प्रभु की प्रसन्नता से ही उस गुण का उत्कर्ष होता है ॥।६॥

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥१०॥

ननु सुखदुःखाद्यदृष्टसाधनत्वे सति स्वकार्यकरणमन्यथाभावकत्वं कथमित्याशङ्क्य तेषां तथा सामर्थ्यं मया दत्तमस्तीतिज्ञापनाय सिद्धवत्कारेणानुवदति। रजस्तम इति। रजस्तमः दुःखाज्ञानात्मकगुणद्वयमभिभूय तिरस्कृत्य सत्त्वं भवतीत्यर्थः। भारतेतिसंबोधनेन यथा मदिच्छया सर्वपराभवेन त्वं जयसि तथेत्यर्थो द्योतितः। एवं रजोऽपि सत्त्वं तमश्चेतिगुणद्वयाभिभवेन भवति। एवकारेण तमसो मोहकसामर्थ्याधिक्येऽपि तथाकर्तृत्वं व्यज्यते। तथा तमः, सत्त्वं रजश्चाभिभूय भवतीत्यर्थः ॥१०॥

सुख दुःख अदृष्ट द्वारा दत्त हैं तो इनका अपना कार्य करना अन्यथा होना कैसे? अतः कहते हैं कि उन गुणों में वह सामर्थ्य मैंने दी है। दुःख-अज्ञानरूपी रजोगुण और तमोगुण को निरस्त करके सत्त्वगुण होता है। भारत सम्बोधन इस हेतु है कि जिस प्रकार मेरी इच्छा से सबको पराजित करके तुम जीतोगे। इसी प्रकार रजोगुण भी सत्त्वगुण-रजोगुण दोनों को निरस्त करके रहता है। इसी प्रकार सामर्थ्य की अधिकता से तमोगुण भी सत्त्वगुण और रजोगुण को अभिभूत करता है ॥१०॥

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन् प्रकाश उपजायते।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥११॥

ननु तदभिभवेन तत्तदुत्पत्तिः कथं न ज्ञातव्येत्यत आह। सर्वद्वारेष्विति। अस्मिन् देहे साधनात्मके सर्वद्वारेषु श्रोत्रादिषु यदा भगवत्संबन्धित्वेन प्रकाशो दर्शनमुपजायते, अथवा ज्ञानं तदा सत्त्वं विवृद्धं विशेषेण भगवत्संबन्धित्वेन विवृद्धं विद्यात्। अयमर्थः। श्रोत्रद्वारेण भगवत्कथा-श्रवणात्मकः। वचनद्वारेण च कीर्तनात्मकः। प्रसादग्रहणात्मकः। नासाद्वारेण च गन्धादिग्रहणम्। एवं सर्वत्रेति भावः ॥११॥

इस अभिभव की प्रक्रिया से उन उन गुणों की उत्पत्ति क्यों न मानी जाय तब कहते हैं—यह मानव देह भगवान् की साधना के लिये बना है इसके सब कर्ण-नासिका आदि द्वारों में जब भगवान् से सम्बन्धित प्रकाश होता है, दर्शन होता है अथवा ज्ञान होता है, तब भगवत् सम्बन्धित सत्त्व गुण को बढ़ा हुआ समझना चाहिये। भाव यह है कि कान के द्वारा भगवान् की कथा सुनना, वचन के द्वारा भगवान् का कीर्तन करना, मुख के द्वारा प्रसाद ग्रहण करना, नासिका से भगवान् के चरणों में समर्पित गन्ध ग्रहण करना आदि द्वारों द्वारा भगवान् की सेवा समझनी चाहिये ॥११॥

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥१२॥

एवं सत्त्वज्ञानमुक्त्वा रजोज्ञानरूपमाह। लोभ इति। लोभो भगवत्सेवार्थं स्वेच्छया दत्ताप्तव्यवहारयोग्यद्रव्ये सत्यपि लौकिकाऽऽसक्त्या पुनर्द्रव्येच्छयेतस्ततो मनोधावनेन तद्यत्नादिकरणे[१]। प्रवृत्तिः क्रियाकरणम्। आरम्भः कर्मणां लौकिकस्वोपभोग्यवस्तुकरणम्। अशमः अशान्तिः प्रातरिदं कर्त्तव्यमद्येदं कृतमित्यादिविचारेण चित्तोद्वेगः। स्पृहा स्वायोग्यवस्तुन्यपीच्छा। रजसि विवृद्धे एतानि जायन्ते। एतदुत्पत्तौ रजोविवृद्धिं विद्यादित्यर्थः। भरतर्षभेतिसंबोधनं राज्याद्यर्थस्पृहाभावेनैतद्दोषराहित्याय ॥१२॥

---

१. एतदवधिलोभविवरणम्।

रजोगुण के ज्ञान का स्वरूप बतलाते हैं—लोभ करना अर्थात् भगवान् की सेवा के लिये अपनी इच्छा से किसी के द्वारा दिया गया व्यवहार में आने योग्य द्रव्य को लेना लौकिक आसक्ति होने पर भी पुनः धन की इच्छा से इधर-उधर मन लगाकर यत्न करना, क्रियारूप प्रवृत्ति, लौकिक अपने उपभोग योग्य वस्तुओं का आरम्भ करना प्रातः यह कार्य करना है, आज यह करना है इस विचार से चित्तोद्वेगरूप अशान्ति करना अपने अयोग्य पदार्थ की इच्छारूप स्पृहा करना रजोगुण के बढ़ने पर अच्छे लगते हैं। अर्थात् जब लोभ-प्रवृत्ति आदि बढ़े तो रजोगुण की वृद्धि समझनी चाहिये। भरतर्षभ सम्बोधन से राज्यादि अर्थ स्पृहा का अभाव कहा है ॥१२॥

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥१३॥

तमसोज्ञानायाऽऽह। अप्रकाश इति। अप्रकाशश्चित्ताप्रसादः। अप्रवृत्तिः भगवत्सेवनभगवदीयसंगाद्यनुद्यमः। प्रमादो भगवद्भजनाऽननुसंधानम्। मोहः संसारासक्तिः। हे कुरुनन्दन तमसि विवृद्धे सत्येतानि जायन्ते ॥१३॥

तम का स्वरूप कहते हैं चित्त में प्रसन्नता का न रहना, भगवान् की सेवा अथवा भगवदीय संग में उद्यम न करना, भगवान् के भजन को भूल जाना, संसार में आसक्त हो जाना आदि बातें तमोगुण के बढ़ जाने पर होती हैं ॥१३॥

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्।
तदोत्तमविदाँल्लोकानमलान् प्रतिपद्यते ॥१४॥
रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसंगिषु जायते।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥१५॥

एवं विवृद्धौ सत्यां मरणान्तं तेन यान्त्यतस्तत्संबन्धिदेहाप्तिर्भवतीत्याह। यदेति-पद्येन। सत्त्वे प्रवृद्धे, तु शब्दोऽन्यव्यवच्छेदकः यदा देहभृज्जीवः प्रलयं याति मृत्युमवाप्नोति तदोत्तमविदान् उत्तमैर्ज्ञानिभिर्ये ज्ञातुं योग्यास्तान् लोकान् अमलान् वैष्णवब्राह्मणादीन् प्रतिपद्यते प्राप्नोतीत्यर्थः। किंचैवमेव

रजसि प्रवृद्धे प्रलयं गत्वा मृत्युमवाप्य कर्मसंगिषु कर्माऽऽसक्तेषु तेषु नरेषु पुनस्तदाचरणेन तत्फलभोगार्थं जायते। तथा तमसि प्रवृद्धे प्रलीनो मृतो मूढयोनिष्वासुरेषु जायते ॥१४-१५॥

इनके बढ़ने पर मरण के समय जो रहता है उस सम्बन्ध की देह प्राप्त हो जाती है। जब देहधारी सत्त्वगुण में अवस्थित होकर प्राण त्याग करता है तब उत्तम ज्ञानियों के द्वारा जानने योग्य लोकों को अथवा निर्मल वैष्णव ब्राह्मणादि योनियों में जन्म लेता है। रजोगुण की वृद्धि के समय मृत्यु होने से कर्मासक्त मनुष्यों के फल भोगने के लिये जन्म लेता है। तमोगुण की वृद्धि के समय मृत्यु होने से असुरादि मूढ़ योनियों में जन्म लेता है ॥१४-१५॥

कर्मणः सुकृतस्याऽऽहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम्।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥१६॥

तथाजातानां किं फलमित्यत आह ॥ कर्मण इति ॥ सुकृतस्य सुष्ठु भगवदाज्ञया भगवत्तोषहेतुत्वेन कृतस्य सात्त्विकस्य कर्मणः सात्त्विकं विष्णु-प्रसादाऽऽत्मकं निर्मलं दोषरहितं फलमाहुः। व्यासकपिलादय इत्यर्थः। तु पुनः। रजसो राजसो राजसकर्मणो दुःखं संसारात्मकं फलमाहुः। तथा तमसः कर्मणोऽज्ञानं भगवद्वैमुख्यात्मकं फलमाहुः। कर्मस्वरूपं चाग्रेऽष्टादशे वक्ष्यति ॥१६॥

इस प्रकार जन्म लेनेवालों का फल बतलाते हैं—भगवान् की आज्ञा से भगवान् के तोष के लिये किये गये सात्विक कर्म का फल विष्णु की प्रसन्नता देनेवाला दोष रहित फल व्यास-कपिलादि महर्षियों ने कहा है। राजस कर्म का संसारात्मक दुःख फल कहा है—तमोगुण के किये कर्म से भगवान् से विमुखता मिलती है। कर्म का स्वरूप अठारहवें अध्याय में कहेंगे ॥१६॥

सत्त्वात् संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥१७॥

ननु स्वरूपज्ञानाऽभावे कथं तादृक्कर्मकरणं संभवतीत्यत आह ॥ सत्त्वादिति ॥ सत्त्वात् ज्ञानं संजायते तादृक्स्वभावविशिष्टस्यैव प्रकटनात्।

तथा रजसो रजोगुणाल्लोभः पापमूलको भवतीति । तस्य च दुःखात्मकत्वात्त-देव भवति । तमसस्तामसगुणात् प्रमादमोहौ भवतः । ततस्ताभ्यां चाज्ञानमेव भवतीत्यर्थः ।।१७।।

स्वरूप अज्ञान के अभाव में वैसा कर्म कैसे किया जा सकता है, तब कहा है कि सत्त्वगुण से वैसा ही ज्ञान उत्पन्न होता है, रजोगुण से पाप मूलक लोभ होता है इससे दुःख मिलता है। तामस गुण से प्रमाद और मोह उत्पन्न होते हैं, इन दोनों से अज्ञान होता है ।।१७।।

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ।।१८।।

अथ तेषां फलं तद्रूपं चाह ।। ऊर्ध्वमिति ।। सत्त्वस्थाः सात्त्विककर्म-निरता ऊर्ध्वं सत्यादिलोकं गच्छन्ति । राजसा राजसकर्मनिरता मध्ये मनुष्यलोके दुःखाऽऽवृते राज्यादिसुखफले तिष्ठन्ति । जघन्यगुणतामसतद्-वृत्तिस्थास्तत्कर्मसु वर्तमानास्तामसा अधो नरकादिनीचयोनिषु गच्छन्ति ।।१८

इन गुणों का फल कहते हैं—सात्विक कर्म में निरत प्राणी सत्यादि लोकों को प्राप्त करते हैं। राजस कर्म में निरत मनुष्य, लोक में दुःखों से आवृत राज्यादि सुख फल भोगा करते हैं। तामस में विद्यमान नरकादि योनियों में जाते हैं ।।१८।।

नाऽन्यं गुणेभ्यः कर्त्तारं यदा द्रष्टाऽनुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ।।१९।।

एवं स्वेच्छया स्वक्रीडार्थोत्पादितगुणादिरूपमुक्त्वा कृतोच्चमध्य-नीचादिधर्मेषूच्चत्वादिबुद्धिरहितो मत्क्रीडाज्ञानवांस्तत्संगरहितो यः स मद्भक्तिमाप्नोतीत्येतदर्थमेतन्निरूपितमित्याह ।। नान्यमिति ।। यदा मत्कृपा-विशिष्टकाले द्रष्टा विवेकवान् गुणेभ्यः स्वक्रीडार्थप्रकटरूपेभ्यः कृत्वा कर्तारं सर्वमूलभूतमनुपश्यति नान्यं च पुनः गुणेभ्यो विचित्ररूपेभ्यः परं पुरुषोत्तमं वेत्ति स मद्भावं मद्भक्तिमधिगच्छति प्राप्नोतीत्यर्थः । अत्रायं भावः । गुणकृतनानावैचित्र्यदर्शनेन पुरुषोत्तममाहात्म्यज्ञानेन सर्वत्र तद्वैचित्र्यं पश्यन्तं

तत्कर्तारं तद्रूपेणाऽऽविर्भूतम् अनु तद्वदेव यथा भगवान् स्वात्मकमेव पश्यति तथा पश्यति नान्यं कंचन पश्यति स मद्भावं प्राप्नोति ।।१९।।

इस प्रकार स्वेच्छा से अपनी क्रीड़ा के लिये उत्पादित गुणों के स्वरूप को बतलाकर उच्च-मध्य-नीच आदि धर्मों में उच्चत्व आदि बुद्धि से रहित मेरी क्रीड़ा को जानते हैं, उनके संग से रहित जो मेरी भक्ति प्राप्त करता है। जब मेरी कृपा से विशिष्ट काल में विवेकी जीव गुणों से अपनी क्रीड़ा के लिये प्रकट रूपों से करके सबके मूलभूत को देखता है पुनः विचित्ररूपों से पुरुषोत्तम को जानता है वह मेरी भक्ति को प्राप्त करता है। भाव यह है—गुणों के द्वारा किये गये नाना वैचित्र्य को देखकर पुरुषोत्तम के माहात्म्य ज्ञान से सर्वत्र उसकी विचित्रता को देखते हुए उसके कर्ता को उस रूप में आविर्भूत को भगवान् के स्वरूप में ही देखता है अन्य किसी को नहीं देखता वह मेरे भाव को प्राप्त करता है ।।१९।।

गुणानेतानतीत्य त्रीन् देही देहसमुद्भवान् ।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ।।२०।।

ततो मद्भावयुक्तो गुणदोषाभिभूतो न भवतीत्याह ।। गुणानेतानिति ।। देही जीवो ।। देहसमुद्भवान् देहानां समुद्भव उत्पत्तिर्येभ्यस्तादृशानेतान् लौकिकान् नत्वलौकिकान् त्रीन् गुणानतीत्य अतिक्रम्य जन्म तत्कर्मभोगार्थकं, मृत्युस्तद्भोगसमाप्तिरूपो भगवद्विस्मरणरूपो वा, जरा सेवाप्रतिबन्धरूपा, दुःखं संसारात्मकम्, एतैर्विमुक्तः अमृतं मरणादिदोषरहितम् अलौकिकं देहमश्नुते भुङ्क्ते प्राप्नोतीत्यर्थः, अथवा अमृतम् अलौकिकं देहं प्राप्य मया सह सर्वकामानश्नुते "सोश्नुते सर्वान् कामानिति" श्रुत्युक्तरीत्या देहीति पदादिदं व्यज्यते, अन्यथा देहवत्पदं व्यर्थं स्यादितिभावः ।।२०।।

मेरे भाव से युक्त गुण के दोषों से कभी अभिभूत नहीं होता। जीवात्मा—देह से उत्पन्न होनेवाले लौकिक तीन गुणों को अतिक्रमण करके उस गुण के कर्म भोग के लिये लिये गये जन्म, भोग समाप्तिरूप मृत्यु अथवा भगवान् को विस्मृत करनारूप मृत्यु, सेवा की प्रतिबन्धक वृद्धावस्था, संसारात्मक दुःख, इनसे छूटकर मरणादि दोषों से रहित अलौकिक देह को प्राप्त करता है अथवा अलौकिक देह को प्राप्तकर मेरे साथ सम्पूर्ण कामों को प्राप्त करता है, 'सोश्नुते' यह श्रुति प्रमाण है। अन्यथा देहवत् पद व्यर्थ होगा ।।२०।।

॥ अर्जुन उवाच ॥

**कैर्लिङ्गैस्त्रीन् गुणानेतानतीतो भवति प्रभो ।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन् गुणानतिवर्त्तते ॥२१॥**

एवमेतांस्त्रीन् गुणानिति भगवतोक्तं तेनान्येऽपि गुणाः सन्ति, यैरेतदतिक्रमो भवतीतिविचार्याऽर्जुनस्तथैव विज्ञापयति ॥ कैर्लिङ्गैरिति ॥ हे प्रभो ! सर्वकरणसमर्थ ? कैर्लिङ्गैश्चिन्हैरेतान् बन्धनात्मकांस्त्रीन् गुणान् अतीतो भवति, अतिक्रमं कृत्वा अलौकिकदेहवान् भवतीत्यर्थः । ततो देहाप्त्यनन्तरं किमाचारः कीदृगाचारवान् । च पुनः । एतांस्त्रीन् गुणानतीत्य कथं केनोपायेन वर्त्तते तं कथयेत्यर्थः ॥२१॥

इस प्रकार भगवान् ने तीन गुण कहे थे इनसे भिन्न भी गुण हैं जिनसे अतिक्रम होता है, यह विचारकर अर्जुन प्रश्न करता है—हे सर्वकरण समर्थ प्रभो ! किन चिह्नों से बन्धनात्मक तीन गुणों को दूर किया जा सकता है अर्थात् अलौकिक देह कैसे प्राप्त होती है । देह प्राप्ति के पश्चात् कैसा वह आचरण करता है । इन तीनों गुणों को लांघकर वह किस उपाय से व्यवहार करता है, उसे आप कहें ॥२१॥

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

**प्रकाशं चप्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव ।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ॥२२॥**

अत्रोत्तरं मद्गुणैरेव सर्वं भवतीति ज्ञापनाय गुणसंख्याकैः श्लोकैराह भगवान् ॥ प्रकाशं चेति ॥ प्रकाशं सर्वद्वारेष्वलौकिकानुभवसिद्ध्यर्थं मदीयाऽलौकिकमत्स्वरूपात्मकसत्त्वोपस्थापिताऽलौकिकानुकरणाऽऽत्मकलौकिकरूपम् । इदमेव चकारेण व्यञ्जितम् । च पुनः । तथैव प्रवृत्तिं, चस्त्वर्थे । तथाच महदनुभवरससिद्ध्यर्थं विप्रयोगलयाऽऽत्मकरूपं मोहमेव केवलं मोहं वा, एतादृक्श्रवणेऽपि भयाभावाय हे पाण्डव । न द्वेष्टि मदिच्छागतानलौकिकान् लौकिकसरूपान् किंचैवं सात्त्विकादित्रयाण्येव कार्याणि प्रवृत्तानि मदिच्छया प्राप्नोति । अतएव स्वतः प्रवृत्तिरुक्ता । स्वेच्छात्वज्ञापनाय लौकिकत्वेन

प्रतिबन्धकतया न द्वेष्टि तत्त्यागाय यत्नं न करोति। तथैव मदिच्छाभावे निवृत्तानि न काङ्क्षति, स गुणातीत उच्यते इति चतुर्थश्लोकेनाऽन्वयः ॥२२॥

भगवान् ने कहा—इसके उत्तर में मेरे गुणों से ही सब कुछ होता है, बतलाने के लिये गुण संख्यक ६ श्लोकों से कहा—सब द्वारों में अलौकिक अनुभव सिद्धि के लिये सत्त्व के द्वारा उपस्थित मेरे अलौकिक अनुकरणात्मक लौकिक रूप के प्रकाश को, इसी प्रकार प्रवृत्ति को, महद् अनुगत्र रससिद्धि के लिये विप्रयोग लयात्मक-रूप मोह को अथवा केवल मोह को, पाण्डव सम्बोधन इतना सुनने पर भी त्रय रहित ज्ञापित कराने के लिये है। द्वेष नहीं करता, मेरी इच्छा से आये हुए अलौकिक, लौकिक स्वरूप तथा सात्त्विक-राजस-तामस कार्यों को प्राप्त करता है। अतः स्वतः प्रवृत्ति कही गई है। स्वेच्छात्व के ज्ञापन के लिये लौकिक प्रतिबन्धों से द्वेष नहीं करता उनके त्यागने को यत्न नहीं करता, उसी प्रकार मेरी इच्छा के अभाव में निवृत्तों की कामना नहीं करता वह गुणातीत कहलाता है, इसका अन्वय चतुर्थ श्लोक से है ॥२२॥

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।
गुणा वर्तन्त इत्येवं योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥२३॥

एवं लिङ्गोत्तरमुक्त्वा आचारोत्तरमाह ॥ उदासीन इति ॥ उदासीनवत् सुखदुःखप्राप्त्यभावराहित्येन मत्कृतिं साक्षिरूपेण पश्यन्नासीनो गुणैर्लौकिकैर्मत्कृतिं पश्यन्नात्मस्वरूपान्न विचाल्यते। किंच गुणाः भगवदात्मकाः गुणेषु स्वकार्येषु वर्तन्ते स्वत एव भगवदिच्छयेत्येवं प्रकारेणैवावतिष्ठति नेङ्गते न चलति पूर्वरूपात् ॥२३॥

इस प्रकार लिङ्गोत्तर बतलाकर आचारोत्तर बतलाते हैं—सुख दुःख प्राप्ति अभाववाला मेरी कृति को साक्षीरूप में देखता हुआ लौकिक गुणों से मेरी कृति को देखकर जो आत्मस्वरूप से विचलित न हो तथा भगवदात्मक गुणों में अपने कार्यों में जो रहते हैं भगवान् की इच्छा से ही इस प्रकार रहते है, पूर्व रूप को नहीं त्यागते ॥२३॥

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दाऽऽत्मसंस्तुतिः ॥२४॥

किंच समदुःखसुखः समे दुःखसुखे विप्रयोगसंयोगात्मके लौकिका-ऽलौकिकदेहरूपे वा यस्य सः । स्वस्थः मत्स्वरूपे स्थितः । अतएव समलोष्टाश्मकाञ्चनः समानि लोष्टाश्मकाञ्चनानि यस्य, सर्वस्य भगवदात्मकत्वात्तादृशः । तुल्यप्रियाप्रियः तुल्ये प्रियाप्रिये संयोगवियोगात्मके यस्य सः । भगवदिच्छाया एव मुख्यत्वादुभयोस्तुल्यत्वम् । धीरः विप्रयोगादितीक्ष्णदुःखसहनशीलः । तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः तुल्या निन्दा आत्मसंस्तुतिश्च यस्य अयंभावः । दुष्टकृता निन्दाऽपि भक्तत्वेन स्तुतिप्रायैव ॥२४॥

और जिसे विप्रयोगात्मक दुःख संयोगात्मक सुख समान है, अथवा लौकिक अलौकिक देहरूप में जो सम है। मेरे स्वरूप में स्थित है जिसे मिट्टी, पत्थर, सुवर्णसम है क्योंकि सर्वत्र भगवान्, संयोगात्मक प्रिय, वियोगात्मक अप्रिय जिसको समान है, भगवान् की इच्छा के कारण दोनों में तुल्यता कही गई है, जो विप्रयोगादि-तीक्ष्ण दुःख सहनशील धीर है जिसे अपनी स्तुति और निन्दा भी सम है। दुष्टों के द्वारा की गई निन्दा भी भक्त होने से स्तुति ही है ॥२४॥

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥२५॥

किंच । मानापमानयोस्तुल्यः भगवत्कृतमानापमानयोः स्वीयत्वेन कृतत्वात्तुल्यः । तुल्यो मित्रारिपक्षयोः भगवदीयेन तदीयत्वेन, मित्रपक्षे कृते तुल्यः भगवदीयभावेन । अरिपक्षे आसुरैर्भगवदीयत्वेन विचारिते भगवदीयत्वेन तथाविचारयन्तीति तेषामुचितमेवेतितद्दोषाऽविचारकत्वात्तुल्यः । सर्वारम्भ-परित्यागी सर्वेषां पदार्थानामारम्भानां दृष्टप्रत्ययानां परित्यजनशीलवान् । एवमाचारवान् यः स गुणातीत उच्यते कथ्यत इत्यर्थः ॥२५॥

भगवान् के द्वारा किये गये मान और अपमान में मेरे द्वारा किये हैं मानकर जो तुल्य माने, जो मित्र-शत्रु में भगवदीय मित्र और तदीयत्व मानकर, मित्र पक्ष में भगवदीय भाव से तुल्य, अरिपक्ष में असुर भी भगवदीय है इस विचार से तुल्य, उनका यह व्यवहार उचित ही है, अतः उनका दोष नहीं यह विचार करनेवाला, सम्पूर्ण पदार्थों का परित्यागी, दृष्ट प्रत्ययों को छोड़नेवाला आचारशील गुणातीत कहा जाता है ॥२५॥

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ।।२६।।

कथं गुणानतिवर्त्तत इत्यत्रोत्तरमाह ।। मां चेति ।। चत्वर्थे मां मदर्थे अव्यभिचारेण अनन्यात्मकेन भक्तियोगेन यः सेवते स एतान् गुणान् समतीत्य सम्यगतिक्रम्य ब्रह्मभूयाय ब्रह्मभावाय कल्पते समर्थो भवति ।।२६।।

वह गुणों से परे कैसे है इसे कहते हैं—जो अनन्यात्मक भक्तियोग से मेरा सेवन करता है, वह इन गुणों को लांघकर ब्रह्म भाव प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है ।।२६।।

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहममृतस्याऽव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ।।२७।।

इति श्रीभगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे गुणत्रयविभागयोगो नाम चतुर्दशोऽध्यायः ।।१४।।

ब्रह्मशब्दस्याऽक्षरवाचकत्वे तद्भावे धर्मात्मकभाव एव भविष्यति न मुख्यभाव इत्यत आह ।। ब्रह्मण इति ।। हीति निश्चयेन यस्माद्धेतोः ब्रह्मणः अक्षरात्मकस्यापि प्रतिष्ठाऽस्थितिरूपोऽहमेव अमृतस्य मोक्षस्य, अव्ययस्य-नित्यात्मकवैकुण्ठस्यापि शाश्वतस्य नित्यरूपस्य शास्त्रीयभक्त्यादिरूपस्य धर्मस्य च । च पुनः । तथा एकान्तिकस्य रक्षात्मकस्य भावादिरूपस्य सुखस्याऽहं प्रतिष्ठा मूलमित्यर्थः ।। अत एवमेतैरुत्पन्नो भावो मदात्मक एवेतिभावः ।।२७।।

एवं चतुर्दशेऽध्याये गुणानां स्वस्वरूपताम् ।
द्विरूपतां च क्रीडार्थं प्रोक्तवानर्जुनं हरिः ।।१।।

इति श्रीभगवद्गीताऽमृततरङ्गिण्यां चतुर्दशोऽध्यायः ।।१४।।

ब्रह्म शब्द अक्षर का वाचक है उसके भाव में धर्मात्मक भाव ही होगा मुख्य भाव नहीं अतः कहा है ब्रह्म के अक्षरात्मक की भी प्रतिष्ठा स्थिति रूप मैं ही मोक्ष का मूल हूँ। अव्यय नित्य वैकुण्ठ का तथा नित्यरूप शास्त्रीय भक्त्यादिरूप धर्म का रक्षात्मक भावादिरूप सुख का मूल मैं हूँ। अतः इनसे उत्पन्न होनेवाला भाव मेरा ही जानना चाहिये।

कारिकार्थ :—इस प्रकार चतुर्दश अध्याय में गुणों की स्वस्वरूपता तथा क्रीड़ा के लिये द्विरूपता अर्जुन से श्रीकृष्ण ने कही।

॥ इति अमृत तरङ्गिण्यां टीकायां चतुर्दशोऽध्यायः ॥

※ श्रीकृष्णाय नमः ※

अध्याय १५

।। श्रीभगवानुवाच ।।

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ।।१।।

स्वरूपज्ञानरहिता भक्तिर्नैवापयुज्यते ।
पुरुषोत्तमरूपं तु ततः पञ्चदशेऽवदत् ।।१।।
परीतः पार्थकृपया श्रीकृष्णः करुणानिधिः ।
उद्दिधीर्षुश्च तद्द्वारालोकं भक्तिप्रवर्तितम् ।।२।।

पूर्वाऽध्याये'मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवत'इत्यनेनाऽनन्य-भजनमुक्तम् । तत्सिद्ध्यर्थं स्वपुरुषोत्तमस्वरूपं सपरिकरं वदिष्यन् सार्द्ध-श्लोकद्वयेन तदङ्गत्यागज्ञापनाय स्वलीलात्मकसंसारवृक्षाद्भिन्नं संसारस्वरूपं वृक्षरूपेणाऽऽह ।। ऊर्ध्वमूलमित्यादिना ।। ऊर्ध्वः पुरुषोत्तमो मूलं यस्य स्वक्रीडार्थं प्रकटितत्वात् । अधः जीवादयः सेवार्थोत्पादिताः शाखा यस्य तम् । अव्ययं लीलार्थकत्वान्नित्यं स्थास्यति, दुर्लभत्वाज्जीवदर्शनोग्यमतो व्यासादयोऽश्वत्थं प्राहुः । यस्य पर्णानि पत्राणि छायोपयोग्यानि तापापहानि भगवत्स्वरूपभगवद्भजनादिप्रतिपादकत्वेन छन्दांसि वेदाः । 'य इति दुर्लभा-धिकारित्वम् । वेदं जनाति स वेदवित् वेदार्थज्ञानवानित्यर्थः ।।१।।

कारिकार्थ :—स्वरूप ज्ञान रहित भक्ति की उपयोगिता नहीं है अतः पन्द्रहवें अध्याय में पुरुषोत्तम का रूप कहा है ।।१।।

श्रीकृष्ण करुणानिधि भक्ति प्रवर्तित लोक का उद्धार करना चाहते हैं ।।२।।

पूर्वाध्याय में लिखा है कि—'विशुद्ध भक्तियोग से जो मेरी सेवा करते हैं' इससे अनन्य भजन कहा है, उसकी सिद्धि के लिये अपने पुरुषोत्तम स्वरूप को परिकर सहित

ढाई श्लोक से उनके अङ्ग त्यागज्ञापन के अपने लीलात्मक संसार वृक्ष से भिन्न संसार के स्वरूप को वृक्ष रूप से कहा है—

ऊर्ध्व=अर्थात् संसार वृक्ष का मूल पुरुषोत्तम है क्योंकि पुरुषोत्तम ने अपनी क्रीड़ा के लिये उत्पन्न किया है। 'जीव' शाखा हैं ये सेवा के लिये उत्पन्न किये हैं, लीला के लिये वे नित्य उपस्थित हैं। दुर्लभ होने के कारण सर्वसाधारण उसका दर्शन नहीं कर सकता अतः व्यासादिक महर्षियों ने इसे अश्वत्थ कहा है। (पत्र वेद हैं)। जिसके पत्र छाया के योग्य तापनाशक हैं, छन्द भगवान् के स्वरूप और भगवान् के भजन के प्रतिपादक हैं। जो इस दुर्लभ अधिकारवाले वेद को जानता है वह वेद जाननेवाला है अर्थात् वह वेद का अर्थ जाननेवाला है ॥१॥

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके॥२॥

एवं क्रीडाऽऽत्मकं वृक्षं निरूप्य तत एव संसाराऽऽत्मकवृक्षोत्पत्तिमाह। अधश्चोर्ध्वमिति। तस्य अलौकिकवृक्षस्य अधः विविधजीवादिषु, ऊर्ध्वं लीलावतारादिषु शाखाः प्रसृताः अनेकरूपेण विस्तारं गताः चकारेणाऽधः-प्रसृतानामपि दर्शनानन्दप्रकारेण लीलोपयिकता ज्ञापिता। किंच गुणैः सात्त्विकादिभिः सेचनेनैव प्रकर्षेण वृद्धाः वृद्धिं गताः। किंच। विषयरूपादयः प्रवालाः पल्लवस्थानीया जाताः। किंच तासां शाखानां लौकिकानुबन्धार्थम् अधः जीवादिषु मूलान्यनुसंततानि प्ररूढानि। प्रयोजनमाह, मनुष्यलोके कर्म अनुबन्धः पश्चाद्भवनं येषां तदर्थं तादृशानि, मनुष्यलोकोत्पन्नानां कर्मप्रवृत्त्या सृष्ट्याद्यर्थम् ॥२॥

इस प्रकार क्रीडात्मक वृक्ष का निरूपण करके उससे संसारात्मक वृक्ष की उत्पत्ति कहते हैं। उस अलौकिक वृक्ष के नीचे अर्थात् विविध जीवादिकों में तथा ऊपर लीलावतारादि में वह वृक्ष अनेक रूप से विस्तार को प्राप्त कर चुका है। 'चकार' के द्वारा जो नीचे फैले हुए हैं उनको भी दर्शनों के आनन्द के द्वारा लीला की उपयोगिता कही गई है। सात्विकादि तीन गुणों के सींचने से वह प्रकर्ष वृद्धि को प्राप्त हुआ है। विषय रूप-रस-गन्ध आदि पत्रस्थानीय हैं, उन शाखाओं के लौकिक

अनुबन्धों के लिये जीवादिकों में मूल प्ररूढ़ है। प्रयोजन कहते हैं, मनुष्य लोक में उत्पन्न जीवों के कर्मप्रवृत्ति से सृष्टि आदि के अर्थ मूल विस्तृत होते हैं ॥२॥

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो नचादिर्नच संप्रतिष्ठा ।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसंगशस्त्रेण दृढेन छित्वा ॥३॥

ननु कथं तैः सृष्टिरित्यत आह ॥ न रूपमिति ॥ इहास्मिन् लौकिके संसारे कर्मासक्तानाम् अस्य तच्छाखारूपत्वे सत्यपि तथाऽलौकिकक्रीडात्मकं रूपं न लभ्यते । नच अन्तः, क्रीडात्मकेन नित्यत्वात् । नच आदिः, पुरुषोत्तम-मूलकत्वेनाऽनादित्वात् । नच पुनः संप्रतिष्ठा स्थितिः । तस्माल्लौकिक-संसारात्मकवृक्षं छित्वा पुनरलौकिकान्वेषणं कार्यमित्याह । अश्वत्थमिति । एनं परिदृश्यमानं लौकिकम् अश्वत्थं नश्वरं सुविरूढमूलं दृढं, दृढेन निश्चयात्मकेन असंगशस्त्रेण एतन्मध्यपातिदुष्टविषयादिदोषपर्यालोचनसंगा-भावात्मकेन शस्त्रेणैतच्छेदपटुना छित्वा भिन्नं कृत्वा ॥३।

उनसे सृष्टि किस प्रकार होती है, अतः कहा है इस लौकिक संसार में जो कर्म में आसक्त हैं उनका शाखारूप में अलौकिक क्रीडात्मक रूप प्राप्त नहीं होता। यदि यह कहें कि अन्त होता है यह भी ठीक नहीं, क्रीडात्मक होने से वह नित्य है। आदि नहीं है क्योंकि संसार वृक्ष का मूल पुरुषोत्तम है। अतः अनादि है। उसकी पुनः स्थिति नहीं है, उससे लौकिक संसारात्मक वृक्ष को काटकर अलौकिक अन्वेषण करना चाहिये। इस दृश्यमान लौकिक, नश्वर, बढ़े मूलवाले, दृढ़ वृक्ष को असंग शस्त्र से मध्य में आनेवाले दुष्ट विषयादि पर्यालोचन संग अभावरूपी शस्त्र से जो इसे काटने में समर्थ है काटकर—॥३॥

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन् गता न निवर्तन्ति भूयः ।
तमेवचाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥४॥

निर्मानमोहाजितसंगदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥५

ततः पदमिति ।। ततस्तदनन्तरं तत्पदम् अलौकिकस्य तस्य मूलभूतं परिमार्गितव्यं परितो विचारपूर्वकमालोचनरीत्या मार्गितव्यम् अन्वेषणीयम् । अन्वेषणे प्रयोजनमाह । यस्मिन्निति । यस्मिन् पदे गताः प्राप्ताः भूयो न निवर्तन्ते संसारे नागच्छन्तीत्यर्थः । कथमन्वेषणीयमित्यत आह । तमेवेति । यतः पुरुषोत्तमात् पुराणी सनातनी नित्या प्रवृत्तिर्भक्त्यात्मिका भगवदनुप्रवृत्तिः प्रसृता विस्तृता प्रकटिता तमेव आद्यं, च पुनः पुरुषं भावात्मतया पुरुषरूपं शरणं प्रपद्ये व्रजामीतिभावः । शरणागतिं विना दोषाऽनिवृत्तौ तत्प्राप्तिर्न भवेदिति शरणागतौ च स्यादेवेत्यन्यथा अनिवृत्तित्वाद्दोषनिरूपणपूर्वकं तद्रहितानां तत्पदप्राप्तिरुच्यते ।। निर्मानमोहा इति ।। निर्गतौ मानमोहौ येषां ते । मानस्तु भगवत्संबन्धजो, मोहः स्वरूपाऽज्ञानात्मकः । तथा जितः संगदोषः अवैष्णवादिसंगदोषो यैः । अध्यात्मनित्याः भगवत्स्वरूपतत्त्वविचारपरिनिष्ठिताः । विनिवृत्तकामाः निःशेषेण मनसा विचाररहित्येन, विनिवृत्तः कामो येभ्यः । सुखदुःखसंज्ञैः सांसारिकैर्द्वन्द्वैर्विमुक्ताः । अमूढाः भगवत्परिचिन्तनेन मोहरहिताः, तत् अव्ययं नित्यं पदं गच्छन्ति । यत एतद्दोषरहिता उक्तगुणवन्तश्च गच्छन्ति तद्द्वयमपि शरणातिरिक्तसाधनाऽसाध्यं तस्मात् शरणं प्रपद्य इति शरणगमनमन्वेषणप्रकार इत्यर्थः ।।४-५।।

अलौकिक उसके मूल को ढूंढना चाहिये । उस पद को प्राप्त होकर फिर संसार में लौटकर नहीं आते । जिस पुरुषोत्तम से सनातनी भक्त्यात्मिका भगवदनुप्रवृत्ति प्रकटित होती है उसी आद्य पुरुष को जो भावात्मतया पुरुष है उसकी शरण में जाता हूं, यह भाव है । शरणागति के बिना दोषनिवृत्ति नहीं होगी और जब तक दोषनिवृत्ति न होगी उसकी प्राप्ति नहीं होगी । अतः दोष निरूपणपूर्वक दोषरहितों को वह पद प्राप्त होता है, यह कहा है ।

भगवान् के सम्बन्ध के कारण उत्पन्न होनेवाला मान, स्वरूप को न जानना रूप मोह, अवैष्णवादि संग दोष को जीतकर, भगवत्स्वरूप तत्त्वविचार परिनिष्ठित अध्यात्म नित्य, विचाररहित काम हटाकर, सुख, दुःख संज्ञक सांसारिक द्वन्द्वों से मुक्त होकर भगवान् के परिचिन्तन से मोहरहित उस नित्य पद को प्राप्त करते हैं । उक्त दोषों से रहित उक्त गुणों से युक्त ही हो जाते हैं । ये दोनों तथ्य, दोषरहित होना, गुणवान् होना शरणागति द्वारा ही साध्य हैं अतः लिखा है शरणं प्रपद्ये । शरणगमन अर्थात् अन्वेषण प्रकार ।।४-५।।

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः ।
यद्गत्वा न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥६॥

अथ तत्पदस्वरूपमाह ॥ न तदिति ॥ तत्पदं सूर्यो न भासयते, न प्रकाशयति । एतेन स्वयंप्रकाशत्वमुक्तम् । न शशाङ्कः, चन्द्रोऽपि तापहरणपूर्वकशीतादिना न प्रकाशयति । न पावकः, अग्निः शीतादिनिवारकत्वेन न प्रकाशयति । किंच तत्पदं गत्वा न निवर्तन्ते, न पुनरागच्छन्ति । कुत इत्यत आह । तत् मम परमम् उत्कृष्टं धाम गृहरूपमित्यर्थः ॥६॥

तत्पद का स्वरूप कहते हैं—उस पद (धाम को) सूर्य नहीं चमकाता, क्योंकि वह स्वयं प्रकाशयुक्त है । तापहरणपूर्वक शीतादि से चन्द्रमा भी उस पद को प्रकाशित नहीं करता शीतादि का निवारक अग्नि भी वहाँ उसे नहीं चमकाता तथा जिस पद को प्राप्तकर लौटकर नहीं आते ऐसा वह मेरा उत्कृष्ट गृह रूप धाम है ॥६॥

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥७॥

ननु पूर्वं क्षेत्रक्षेत्रज्ञप्रकृतिपुरुषजड़जङ्गमादीनां स्वांशत्वक्रीडौपयिकत्वस्वक्रीडार्थोपसादितत्वमुक्तमधुना च यद्गत्वा न निवर्त्तन्त इत्युक्तं तत्कथं संभवतीत्याकाङ्क्षायामाह ॥ ममैवेति ॥ पञ्चभिः । जीवलोके मत्क्रीडार्थप्रकटिते जीवभूतः आनन्दांशतिरोधानेनाऽनीशितत्वोद्भावनेन क्रीडारसभोगार्थसेवारसानुभवार्थजीवत्वलक्षणो ममैव अंशः सनातनः सदा मयि विद्यमानः । मनः षष्ठं येषां तादृशानि पञ्चेन्द्रियाणि प्रकृतौ क्रीडार्थमाविर्भूतायां स्थितानि तद्भोगाद्यनुभवार्थं कर्षति ॥ अत्रायं भावः ॥ साक्षात्स्वक्रीडानुभवार्थप्रकटितो जीवभावः सनातनः पुरुषोत्तमांश एव साक्षात् तद्द्वारा प्रकृत्युत्पादितभोगानुभवार्थं प्रकटितोंऽशः सांसारिको जीवो मूलभूतजीवांशः स स्वांशं तत्र नयति यत्र तदिच्छा । अतएव 'तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनुत्क्रामतीत्यादिश्रुतिः ॥७॥

जब पूर्व श्लोकों में क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-प्रकृति-पुरुष-जड़-जङ्गमादि को भगवान् ने अपना अंश कह दिया और क्रीड़ा के लिये उनकी उपयोगिता भी कह दी तब यहाँ

यह कथन कि वहाँ जाकर लौटते नहीं संगत नहीं है अतः कहा है—५ श्लोकों से इसका वर्णन है—

मेरी क्रीड़ा के लिये प्रकटित जीवलोक में, आनन्दांशतिरोधान होने से, अनीश्वरत्व के उद्भावन से क्रीडा रस भोग के लिये, सेवा रस के अनुभव के लिये जीवत्व लक्षणवाला मेरा ही अंश सर्वदा मुझ में ही रहता है, मन सहित ६ इन्द्रियों को क्रीड़ा के लिये आविर्भूत प्रकृति में रहनेवालों को उनके भोगादि अनुभव के लिये खींचता है। भाव यह है कि साक्षात् स्वक्रीडा अनुभव करने के लिये प्रकटित जीव भाव 'सनातनपुरुषोत्तम' का ही साक्षात् अंश है उसके द्वारा प्रकृति के द्वारा उत्पादित भोगों के अनुभव के लिये अंश को प्रकट करके सांसारिक जीव अपने अंश को जहाँ चाहता है, ले जाता है। 'तमुत्क्रामन्तम्' यह श्रुति प्रमाण है ॥७॥

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः ।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाऽऽशयात् ॥८॥

तदेव विस्तारेणाऽऽह ॥ शरीरमिति ॥ ईश्वरः मूलभूतो जीवो यत् यदा शरीरभोगार्थमवाप्नोति। च पुनः। यदा भोगसमाप्तौ उत्क्रामति तदा एतानि पूर्वोक्तानीन्द्रियाणि स्वभोगार्थकानि सूक्ष्माणि संस्कारात्मकानि गृहीत्वैव सम्यक् स्वांशजीवभावेन सह याति प्राप्नोति। तत्र दृष्टान्तमाह, वायुः आशयात् पुष्पादितो गन्धान् सूक्ष्मांशानिव ॥८॥

ईश्वर अर्थात् मूल भूत जीव जब भोग भोगने के लिये शरीर को प्राप्त करता है और जब भोग की समाप्ति पर उत्क्रमण करता है तब ये पूर्वोक्त इन्द्रियाँ अपने भोग के लिये जो सूक्ष्म संस्कारों को ग्रहण करके अपने ही अंश जीव भाव से जाता है। इस विषय में वायु का दृष्टान्त है, वायु पुष्पों से गन्ध के अंशों को जिस प्रकार ग्रहण करता है, उसी प्रकार ईश्वर जीव को लेकर जाता है ॥८॥

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च ।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥९॥

किमर्थं गृहीत्वा गच्छतीत्यत आह ॥ श्रोत्रमिति ॥ श्रोत्रादीनीन्द्रियाणि लौकिकस्थूलशरीरे स्थूलानि मनः अन्तःकरणं च अधिष्ठाय मुख्य-

रूपेण तत्र स्वयं स्थितिं कृत्वा अग्रे अलौकिकतदनुभवार्थं विषयान् उप= स्वांशजीवसमीपे सेवते भोगं करोतीत्यर्थः ॥९॥

वह क्यों लेकर आता है इसे समझाते हैं—कर्ण-नासिका आदि इन्द्रियां लौकिक स्थूल शरीर में स्थूल हो जाती हैं वहां मन और अन्तःकरण को साथ रखकर मुख्यरूप से वहां स्थिति करके अलौकिक अनुभव के लिये विषयों को अपने अंशजीव के समीप भोगता है ॥९॥

उत्क्रामन्तं स्थितं वाऽपि भुञ्जानं वा गुणान्वितम् ।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥१०॥

एवंभूतं कथं सर्वे न पश्यन्ति तत्राह ॥ उत्क्रामन्तमिति ॥ उत्क्रामन्तं भजनरसानुपयुक्तदेहाद् उपयुक्ताय गच्छन्तं, वा विकल्पेन तादृगीक्षणेच्छया तत्रैव स्थितमपि वा भुञ्जानं तादृग्विषयरसानुभावकं । गुणान्वितं तद्भोगपटुभिरिन्द्रियैर्युक्तं मुख्यजीवं विमूढाः सत्संगाऽभावेन स्वोपभोगैकपराऽऽक्षिप्तदृशो नानुपश्यन्ति । तद्दृष्टा अपि स्वयं न पश्यन्ति । ज्ञानचक्षुषः सत्संगलब्धस्वरूपाः पश्यन्ति ॥१०॥

इस प्रकार के उसे सब क्यों नहीं देखते। अतः कहते हैं—भजन रस के अनुपयुक्त देह से जाते हुए को देखने की इच्छा से वहीं स्थित को वहीं रस के अनुभव करते को, गुणों से युक्त उसको भोग करने में चतुर इन्द्रियों से युक्त होकर मुख्य जीव को मूर्ख नहीं देख सकते कारण यह है कि उन्हें सत्संग प्राप्त नहीं होता, वे अपने उपभोग में ही परायण रहते हैं अतः उनकी दृष्टि स्वच्छ नहीं होती। अतः देखते हुए भी नहीं देखते। सत्संग के फलस्वरूप ज्ञानी ज्ञान चक्षु से देखते हैं ॥१०॥

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥११॥

अथचैवं भक्ता एव पश्यन्ति नान्य इत्याह ॥ यतन्त इति ॥ योगिनश्च योगिनोऽपि यतन्तः ज्ञानार्थं यत्नं कुर्वन्तः, एवम् आत्मन्यवस्थितम् अधिष्ठितं पश्यन्ति तथाभोगं कुर्वन्तमित्यर्थः । अकृतात्मानः सत्संगादिभक्तत्वरहिताः,

भानाऽभावेन केवलयोगादिना यतन्तोऽप्येनं न पश्यन्ति, यतोऽचेतसः मन्दमतयश्चैतन्यरहिता इत्यर्थः ॥११॥

भक्त ही देखते हैं अन्य नहीं। अतः कहा है—योगी भी ज्ञान के लिये यत्न करते हैं इस प्रकार आत्मा में अवस्थित को देखते हैं। सत्संग आदि भक्तिभाव से रहित ज्ञान के अभाव में केवल योग आदि से प्रयत्न करते हुए भी नहीं देखते। मन्दगति नहीं देख सकते, यह अर्थ है ॥११॥

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाऽग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥१२॥

ननु योगादीनां जडत्वेनदर्शनासाधकत्वमास्तां परं सूर्यादीनां तेजस्त्वात्तदाराधनादिना दर्शनं स्यादित्याशङ्क्याऽऽह् ॥ यदिति ॥ आदित्यगतं यत्तेजो जगदखिलंभासयते प्रकाशयति, यच्चन्द्रमसितेजो जगदाप्यायनादिना भासयते, यच्च अग्नौ हुतादिना तोषजननेन हृदयं प्रकाशयति, तत् तेजो मामकं विद्धि जानीहि। स्वतेजस्त्वोक्त्या स्वेच्छां विना तेषामसाधकत्वं ज्ञापितम्। एतेन मत्क्रीडनेच्छया तद्रूपो भूत्वा जगत्प्रकाशयामीतिभावो बोधितः ॥१२॥

यदि यह कहें कि योगादि का जड़ता के कारण दर्शन सम्भव न हो किन्तु सूर्य आदि तेज युक्त हैं उनकी आराधना से दर्शन सम्भव है अतः कहा है—आदित्य में विद्यमान जो तेज है जगत् को भाषित करता है तथा जो तेज चन्द्रमा में है जिससे जगत् भासित होता है तथा जो तेज अग्नि में है जिसमें हवन करने से सन्तोष होता है हृदय प्रकाशित होता है वह मेरा ही तेज समझो। अपना तेज कथन किया है इससे यह भी ज्ञापित किया है कि सूर्यादि तेज स्वतः असाधक हैं। इससे यह सिद्ध है कि मेरी क्रीडनेच्छा से तद्रूप होकर मैं जगत् को प्रकाशित करता हूँ ॥१२॥

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥१३॥

एवमेव सर्वरूपो भूत्वा सर्वं करोमीत्याह ॥ गामाविश्येति ॥ गां पृथ्वीम् ओजसा बलेन आविश्य अहं भूतानि धारयामि। अहमेव सोमः

अमृतमयरसात्मको रसमयो भूत्वा ओषधीः सर्वा व्रीह्यादिकाः भूतानां पृथ्वीरूपेण घृतानां रसपोषार्थं पुष्णामि पुष्टाः करोमि वर्धयामीत्यर्थः ॥१३॥

मैं सर्वरूप होकर सब कुछ करता हूँ। पृथ्वी में बल से प्रवेश करके भूतों को धारण करता हूँ चन्द्रमा में अमृतमय रस बनकर व्रीह्यादि औषधियों का पोषण करता हूँ। भूतों के लिये पृथ्वी रूप से घृत औषधियों को बढ़ाता हूँ ॥१३॥

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥१४॥

ततस्तेषां पोषार्थमेव तद्भक्षितमन्नं पचामीत्याह ॥ अहमिति ॥ अहं वैश्वानरो जाठराग्निरूपो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितोऽन्तःप्रविष्टः सन् प्राणापानाभ्यां तदुद्दीपकाभ्यां युक्तश्चतुर्विधमन्नं भुक्तं भक्ष्यं भोज्यं लेह्यं चोष्यं पचामि ॥१४॥

उनके पोषण के लिये ही उनके द्वारा भक्षित अन्न को पचाता हूँ। मैं जाठराग्नि रूप होकर प्राणियों के देह में आश्रय लेकर प्राण अपान से युक्त चतुर्विध अन्न को भक्ष्य-भोज्य-लेह्य-चोष्य को पकाता हूँ ॥१४॥

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेवचाहम् ॥१५॥

नन्वेवं प्राणिमात्रस्य भगवद्रूपाग्निपाचितान्नपोषात् केषांचिद्भगवत्स्मरणं केषांचिदस्मरणादिकं च कथमित्यत आह ॥ सर्वस्य चेति ॥ चकारोऽपिशब्दार्थे। सर्वस्यापि अहं हृदि प्रेरकत्वेनेश्वररूपेण प्रविष्टः तिष्ठामीत्यर्थः। ततः किमत आह। मत्तः प्रविष्टात्मकत्वान्मद्विचित्रेच्छया स्मृतिः पूर्वानुभूतमत्स्वरूपस्मरणपुष्टचा तदुद्धारार्थम्। तथैव मुक्तिदानेच्छया ज्ञानम्। च पुनः। मोहोत्पादनेन नरकादियातनेच्छया अपोहनं स्मृतिज्ञानयोः प्रमोषो विस्मरणमित्यर्थः। भवतीति शेषः। ननु वेदास्तु शब्दात्मकास्तदध्ययनेन, सूत्रैः, गुरूक्तप्रकारेण च कथं न ज्ञानोदय इत्यत आह। सर्वैः काण्डद्वयात्मकैर्वेदैरहमेव वेद्यः ज्ञेयः। अतो मदिच्छयैव वेदशब्दानां मद्वाक्यरूपाणामलौकिकानामर्थप्रकाशो नान्यथेत्यर्थः। वेदान्तकृत् सूत्रप्रदर्शनेन संप्रदायप्रवर्त्तको

व्यासादिरूपो गुरुरहमेवेत्यर्थः। च पुनः। अहमेव वेदवित् तदुक्तप्रकारेण शिष्यादिहृदयस्थो ज्ञानप्रकाशेन ज्ञानवानित्यर्थः। अतो न वेदादिभिरपि ज्ञानमिति भावः ॥१५॥

यदि प्राणीमात्र का भगवद्रूप अग्नि से पकाये गये अन्न से पोषण होता है तो कोई भगवान् का स्मरण करता है कोई नहीं ऐसा क्यों होता है ? अतः कहाहै—मैं सबके हृदय में प्रेरक बनकर बैठा हूँ मुझ से ही स्मृति होती है जो मेरे प्रवेश से मेरी विचित्र इच्छा से पूर्वानुभूत मेरे स्वरूप स्मरण पुष्टि से होतो है। मुक्तिदान की इच्छा से होनेवाला ज्ञान भी मुझ से होता है। मोहोत्पादन से नरकादि यातना की इच्छा से स्मृति और ज्ञान का विस्मरण भी मुझ से होता है। यदि यह कहें कि वेद तो शब्दात्मक हैं उनके अध्ययन से सूत्रों से गुरु कथन प्रकार से ज्ञानोदय क्यों नहीं होता तब कहा है—काण्ड द्वयवाले वेद से जानने योग्य मैं ही हूँ। मैं ही शिष्य के हृदय में स्थित होकर ज्ञान का प्रकाशक हूँ, अतः ज्ञान वेदादि से भी नहीं होता ॥१५॥

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाऽक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥१६॥

अथ स्वज्ञापितस्वरूपज्ञानार्थं सपरिकरं स्वस्वरूपमाह ॥ द्वाविमाविति त्रिभिः॥ लोके प्रपञ्चस्थिते सर्वत्र द्वाविमावेव पुरुषौ सर्वपदार्थभोक्तारौ आधिभौतिकाध्यात्मरूपौ क्षरः अक्षरश्च। उभयोः स्वरूपमाह। क्षरः पुरुषः सर्वाणि भूतानि ब्रह्मादिस्थावरान्तानि शरीराणि नानाविधानि लीलौपयिक-लीलात्मकत्वेनानेकरूपाणि, क्षरशब्दवाच्यः पुरुषांशरूपः पुरुष इत्यर्थः। कूटः शिलासमूहः पर्वतस्तद्वत्सर्वपदार्थेषु शरीरादिषु विनश्यत्स्वपि तत्समूहस्थः अविनाशी भोक्ता मच्चरणात्मको यः सः, अक्षरः पुरुष इत्यर्थः ॥१६॥

अपने द्वारा बतलाये गये स्वरूप ज्ञान के लिये सपरिकर अपना स्वरूप बतलाते है (तीन श्लोकों में) लोक में दो पुरुष सम्पूर्ण पदार्थों के भोक्ता हैं आधिभौतिक अध्यात्मरूपी हैं, क्षर और अक्षर हैं क्षर पुरुष सम्पूर्ण भूतों को ब्रह्मा से लेकर स्थावर पर्यन्त शरीरों को लीला के उपयोगी अनेक रूपों को भोगता है—क्षर शब्द वाच्य पुरुषांशरूप है यह अर्थ है। कूट का अर्थ शिला समूह पर्वत, उसकी तरह शरीरादि के नष्ट होने पर भी उन समुदायों में स्थित अविनाशी भोक्ता, मेरा चरणात्मक है वह अक्षर पुरुष है ॥१६॥

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥१७॥

पुरुषोत्तमज्ञानार्थमेतौ निरूपिताविति तदाह ॥ उत्तम इति ॥ तुशब्द एव तत्समत्वव्यावर्तनार्थः । उत्तमः पुरुषः अन्यः सर्वाज्ञातः सर्वव्यतिरक्त इत्यर्थः । कीदृश इत्याकाङ्क्षायामाह परमात्मेत्युदाहृतः परमश्चासावात्मेति परमः सर्वोत्कृष्ट आत्मा अविकृतः इति अमुना प्रकारेण श्रुत्यादिभिरुदाहृतः[1] कथितो यो लोकत्रयं तत्तद्रसानुभवार्थम् आविर्भवति धारयति पोषयति च । एवंचेन्न्यूनाधिक्यं भविष्यतीत्याशङ्क्याह । अव्यय इति । निर्विकार इत्यर्थः । तर्हि धारणमनुपपन्नमित्यत आह । ईश्वर इति । कर्तुमन्यथाकर्तुं च समर्थः । अतस्तथेत्यर्थः । १७॥

पुरुषोत्तम के जानने के लिये इन दोनों का निरूपण किया है। तुकार समता के निरासार्थ है, उत्तम पुरुष को कोई जानता नहीं है क्योंकि वह सर्वोत्कृष्ट आत्मा है ऐसा श्रुतियों में भी कहा है। वह तीनों लोकों को तत्तत् रसों के अनुभव के लिये आविर्भूत होता है, धारण करता है, पोषण करता है, न्यूनाधिक्य होगा अतः कहा है वह निर्विकार है, तब धारण अनुपपन्न है अतः कहा है वह ईश्वर है, सब कुछ करने में समर्थ है ॥१७॥

यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥१८॥

तद्रूपश्चाऽयमेवातः सोऽहमेवेत्याह ॥ यस्मादिति ॥ यस्मात् क्षरं जडादिदेहधर्मम् अतीतो ऽतिक्रान्तः अहं परिदृश्यमान आनन्दरूपः । अक्षरादपि कूटस्थचेतनाऽऽत्मकादपि उत्तमोऽस्मि, अतो लोके चतुर्दशभुवनात्मके, वेदे, चकारेण सूत्रस्मृत्यादिष्वपि पुरुषोत्तमः प्रथितः कथितो विख्यात इति भावः ॥१८॥

---

१. आदर्शे त्वनुमानप्रकारेणेति लिखितमस्ति।

तद्रूप यही है वह मैं ही हूँ। जिससे जड़ादि देह धर्म से अतिक्रान्त मैं आनन्द-रूप हूँ। कूटस्थ चेतन से भी उत्तम हूँ अतः चतुर्दश भुवनात्मक लोकों में, वेद में, सूत्र-स्मृतियों में भी पुरुषोत्तम कहा गया हूँ ॥१८॥

योमामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥१९॥

यतोऽहं पुरुषोत्तमः, अतो मज्ज्ञानवान् सर्वज्ञः सोऽन्यभजनरहितो मां भजतीत्याह ॥ योमामिति ॥ यो दुर्लभो माम् असंमूढो मोहादिदोषरहितो व्यवसितमतिरेवं पूर्वोक्तप्रकारेण पुरुषोत्तमं जानाति स सर्ववित् सर्वज्ञ इत्यर्थः, सर्वविद्भवतीति वा । सर्वज्ञत्वलक्षणमाह । मां सर्वभावेन भजति । भारतेतिविश्वासाय ॥१९॥

मैं पुरुषोत्तम हूँ अतः जो मुझे जानता है सर्वज्ञ है, वह अन्य भजन से रहित होकर भजन करता है। जो मोहादि दोष रहित होकर पूर्वोक्त प्रकार से मुझे जानता है वही सर्वज्ञ है। अथवा वह सब कुछ जानता है। सर्वज्ञत्व का लक्षण है मुझे सर्वभाव से भजता है 'भारत' यह सम्बोधन विश्वास के लिये है ॥१९॥

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयाऽनघ ।
एतद्बुद्धा बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्यश्च भारत ॥२०॥

इति श्रीभगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे पुरुषोत्तमयोगो नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥१५॥

उपसंहरति ॥ इतीति ॥ इति अमुना प्रकारेण गुह्यतमम् अतिगुप्त-रहस्यं शास्त्रं शासनधर्मरूपं हे अनघ निष्पाप । कुतर्काद्यनुपहतमते । इदं प्रत्यक्षं मया कृपालुनेत्यर्थः, उक्तं कथितमित्यर्थः । प्रयोजनमाह । एतदिति । बुद्धिमान् कुशल एतद्बुद्ध्वा कृतं कृत्यम् एतत्सेवारूपं येन तादृशो भवेदित्यर्थः । यद्वा बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्य इत्यर्थः । अनेन सर्वेषां दैव-

जीवानां स्वरूपज्ञानार्थं प्रकटितमिति भावः। भारतेतिसंबोधनेन साहजिक-बुद्धिमतो येन कृतकृत्यता स्यात्तत्र वंशोद्भवे त्वयि किं वक्तव्यमितिभावो व्यञ्जितः ॥२०॥

कृष्णः पञ्चदशेऽध्याये लोकानां हितकाम्यया।
पुरुषोत्तमयोगं हि पार्थाय कृपयाऽदिशत् ॥

इति श्रीभगवद्गीताऽमृततरङ्गिण्यां पञ्चदशोऽध्यायः ॥१५॥

इस प्रकार से अत्यन्त गुप्त रहस्य शास्त्र को शासन धर्मरूप हे अनघ ! अर्थात् पापशून्य ! कुतर्क आदि के द्वारा जिसकी बुद्धि भ्रमित नहीं ऐसे अर्जुन ! यह कृपालु, मैंने तुमसे सार कहा है। प्रयोजन यह है कि इसे बुद्धिमान् व्यक्ति जानकर सेवारूप हो जाता है। अथवा कृतकृत्य का अर्थ है बुद्धिमान् हो जाता है। इससे समस्त दैव-जीवों के स्वरूप ज्ञानार्थ प्राकट्य सिद्ध है। भारत यह सम्बोधन सिद्ध करता है कि इससे स्वाभाविक बुद्धि आती है उसमें भी अर्जुन तो सुन्दर वंश में जन्मे हैं अतः तुम्हारे विषय में तो कहना ही क्या है। यह भाव व्यञ्जित है।

कारिकार्थ :—पन्द्रहवें अध्याय में कृष्ण ने लोकों की हित कामना से अर्जुन को पुरुषोत्तम योग का उपदेश दिया।

॥ इति श्रीभगवद्गीतायाममृत तरङ्गिण्यां पञ्चदशोऽध्यायः ॥

* श्रीकृष्णाय नमः *

अध्याय १६

।। श्रीभगवानुवाच ।।

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ।।१।।

विमुक्तिबन्धज्ञानार्थं दैवीसम्पत्तयाऽऽसुरी ।
सलक्षणा सकार्या च षोडशे विनिरूप्यते ।।१।।

पूर्वाऽध्यायान्ते एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान् कृतकृत्यः स्यादित्युक्तम् । तत्र सृष्टौ बहव एव बुद्धिमन्तो दृश्यन्ते ते कथं नैतज्ज्ञानार्थं यतन्ते यतमानेष्वपि कथं न सर्व एव ज्ञात्वा भजनेन कृतकृत्या भवन्तीत्याशङ्क्याऽत्र दैवजीवा दैव्यामेव संपदि जाता अधिकारिणो यतमानाः कृतकृत्या भवन्तीतिज्ञापनाय दैवीसंपत्स्वरूपमाह ।। अभयमित्यादि ।। त्रयेण । अभयं भयाभावः कालादिसर्वनियामकत्वेनेश्वरज्ञानात्, सत्त्वस्य चित्तस्य सम्यक् शुद्धिः गुरूपसत्त्यादिना प्राप्तभगवन्नामावृत्त्या भगवत्परत्वम्, ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ज्ञानयोगे भगवज्ज्ञानोपाये व्यवस्थितिरेकाग्रतया स्थितिः, दानं यथाशक्त्यनभिलाषेण भगवत्प्रीत्यर्थमन्नादिविभागः, दम इन्द्रियनिग्रहः, यज्ञो यथाशक्ति यथाविधि यथाऽधिकारमग्निहोत्रादिकरणम् । चकारेण भगवद्विभूतिज्ञानेन नान्यथेत्युच्यते । स्वाध्यायो ब्राह्मयज्ञादिः, तपो भगवदर्थं देहादिक्लेशः, आर्जवं कौटिल्यराहित्यम् ।।१।।

कारिकार्थ :—मुक्ति तथा बन्ध के ज्ञानार्थं लक्षण सहित कार्य सहित दैवी सम्पत् तथा आसुरी सम्पत् का विवेचन सोलहवें अध्याय में किया जाता है ।।१।।

पूर्व अध्याय में कहा था कि इसे जानकर बुद्धिमान् कृतकृत्य हो जाता है [१५।२०] सृष्टि में बहुत से बुद्धिमान् दिखलाई देते हैं वे इस ज्ञान के लिये यत्न

क्यों नहीं करते ? जो यत्न करते हैं वे जानकर भजन करने से कृतकृत्य क्यों नहीं होते ? इस आशंका से यहाँ दैव जीव दैवी सम्पत् में अधिकारी होते हैं और यत्न करके कृतकृत्य होते हैं इसे समझाने के लिये दैवीसम्पत् का स्वरूप कहते हैं। यह स्वरूप तीन श्लोकों में है।

कालादि सर्वनियामक ईश्वर के ज्ञान से भय कभी नहीं होता। चित्त की सम्यक् शुद्धि, गुरु की सन्निधि से भगवन्नाम की आवृत्ति से भगवत्परत्व होता है। भगवान् के ज्ञानोपाय में एकाग्र स्थिति होती है। बिना चाहे भगवत्प्रीत्यर्थ अन्नादि का विभाग रूप दान, इन्द्रियनिग्रह रूप दम, यथाशक्ति, यथाविधि यथाधिकार अग्निहोत्रादि-करणरूप यज्ञ, भगवान् की विभूति ज्ञान से सम्भव है। ब्राह्मयज्ञादिरूप स्वाध्याय, भगवान् के लिये, देहादि क्लेशरूप तपस्या, कुटिलता, त्यागरूप आर्जव (दैवीसम्पत् हैं ये भगवान की कृपा से ही प्राप्त होते हैं) ॥१॥

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥२॥

अहिंसा परपीडाराहित्यं, सत्यं स्वार्थपरार्थलोभादिराहित्येन यथार्थ-भाषणम् अक्रोधो निष्कारणताडनादिभिरपि क्षोभाऽभावः, त्यागः अनासक्तिः, शान्तिः चित्तस्थैर्यम्, अपैशुनं सर्वत्र भगवदात्मबुद्धया परापवादराहित्यम्, भूतेषु दया जीवेषु भगवद्वियुक्तत्वेन दया तत्स्मरणोपदेशादिरूपा, अलोलुप्त्वं भोगेच्छया मनोधावनत्वाऽभावः, मार्दवं मृदुत्वं परदुःखाभिज्ञत्वम्, ह्रीः लज्जा प्रभुविप्रयोगजीवने सेवाद्यकरणेन लौकिकप्रवृत्तौ च, अचापलं लौकिकक्रिया-ऽऽसक्त्या भगवत्क्रियादिषु शैघ्र्याऽभावः ॥२॥

परपीडा, त्यागरूप अहिंसा, स्वार्थ-परार्थ लोभादिरहित यथार्थ भाषणरूप सत्य, बिना कारण ताडन आदि किये जाने पर भी क्षोभ न होना रूप अक्रोध, आसक्ति का अभाव, चित्त का स्थिर होना, सर्वत्र भगवान हैं इस बुद्धि से परनिन्दा से रहित होना रूप अपैशुन, भगवान् से वियुक्त जीवों पर दया करना अर्थात् उन्हें भगवान् का स्मरण उपदेश कराना, भोग की इच्छा में मन का चंचल न होनारूप अलोलुप्त्व, परदुःख ज्ञानरूप मार्दव, प्रभु के वियोग में जीवन प्राप्त करने पर भी सेवा आदि न करना, लौकिक कार्यों में प्रवृत्त होनारूप ह्री (लज्जा), लौकिक क्रियाओं में लगने से भगवान्

से सम्बन्धित क्रियाओं में शीघ्रता के अभाव रूप अचापल (भगवान् की कृपा से प्राप्त होते हैं।) ॥२॥

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥३॥

तेजो भगवत्कृपाप्रागल्भ्येनाधृष्यत्वम्, क्षमा विद्यमाने सामर्थ्ये परिभवादिषु क्रोधानुत्पत्तिः, धृतिः लौकिकालौकिकदुःखादिषु चित्तस्थैर्यम्, शौचं स्नानादिभगवत्स्मरणादिना च बाह्याभ्यन्तरशुद्धिः, अद्रोहः पराऽनिष्टचिन्तनाऽभावः अतिमानिता आत्मनि सर्वाधिक्यज्ञानं तदभावो नातिमानिता। एतानि सर्वाणि दैवीं भगवत्क्रीडौपयिकीं सात्त्विकीं संपदम् अभिजातस्य भगवदाभिमुख्येन भगवत्कृपया तस्य भवन्ति। एतद्धर्मवत्त्वं भगवदाभिमुख्यंज्ञेयमितिभावः। भारतेति विश्वासार्थं संबोधनम् ॥३॥

भगवान् की कृपा के महत्व से किसी से तिरस्कृत न होनारूप तेज, सामर्थ्य होने पर भी क्रोध उत्पन्न न होना रूप क्षमा, लौकिक और अलौकिक दुःखादिकों में चित्तस्थिति रूप धृति, स्नान-ध्यान भगवत्स्मरण आदि द्वारा बाह्य आभ्यन्तर शुद्धिरूप शौच, किसी के अमंगल का चिन्तन न करना रूप अद्रोह, मैं सबसे अधिक ज्ञानवान् नहीं हूँ एतद्रूपा अतिमानिता, ये सब भगवान् की क्रीडा की उपयोगिनी सम्पद् भगवान् की कृपा से ही प्राप्त होती हैं।

इन धर्मों से भगवान् के अभिमुख फलवाला जानना चाहिये। भारत यह सम्बोधन विश्वासार्थ है ॥३॥

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम् ॥४॥

एवं सलक्षणां दैवीं संपदमुक्त्वा आसुरीमाह ॥ दम्भ इति ॥ दम्भो धर्मध्वाजत्वम् अन्तस्तदभावेन बहिर्धर्मप्रकटनम्, दर्पो विद्यामदेन स्वात्मविस्मरणेन सर्वोपमर्दतयाऽऽधिक्येन स्थितिः, क्रोधः स्वबलाधिक्यभावनया निष्ठुरवाक्यताऽनिष्टचिन्तनं च, पारुष्यं कार्कश्यं परदुःखानभिज्ञता। एवकारेण क्वचिदपि कदाचिदप्यपारुष्यमितिज्ञापितम्। च पुनः। अज्ञानं

सर्वस्वरूपानभिज्ञता । आसुरीं संपदमभिजातस्य मदिच्छया जातस्यैतानि लक्षणानि भवन्तीत्यर्थः ।।४।।

इस प्रकार लक्षणपूर्वक दैवीसम्पद् बतलाकर आसुरी सम्पद् बतलाते हैं— दम्भ इति—भीतर धर्म न होने पर बाहर धर्मस्वरूप प्रकट करना रूप दम्भ, विद्या के अभिमान से अपने को विस्मृत कर सबसे श्रेष्ठ समानतारूप दर्प, अपने में बल अधिक है इस भावना से निष्ठुर भाषण तथा अनिष्ठ चिन्तनरूप क्रोध परुषता अर्थात् अपने से अन्यजन के दुःख को न जाननारूप पारुष्य, एवकार से वे कभी भी कठोरता त्यागते ही नहीं हैं यह सिद्ध किया है। सर्वस्वरूप अनभिज्ञतारूप अज्ञान ये सब लक्षण मेरी इच्छा से आसुरी सम्पद् युक्त व्यक्ति में होते हैं ।।४।।

दैवी संपद्विमोक्षाय निबन्धयाऽऽसुरी मता ।
मा शुचः संपदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ।।५।।

उभयोः संपदोः कार्यमाह ।। दैवीसंपदिति ।। दैवीसंपत् विमोक्षाय विशेषेण मोक्षाय पुष्टिमर्यादाभेदेन मता मत्संमतेत्यर्थः । आसुरी निबन्धाय नितरां बन्धाय पुनः संसारपर्यावर्तनेनान्ते अन्धंतमः प्रवेशाय मता संमतेत्यर्थः । एतच्छ्रवणेन युद्धोपस्थितौ कौरवादिषु क्रोधोत्पत्त्या शोचन्तमर्जुनमाश्वासयति ।। मा शुच इति । हे पाण्डव । क्षत्रियात्मजत्वेन शोकानर्ह । दैवीं संपदमभिजातोऽसि मदिच्छयाऽतो मा शुचः शोचं मा कार्षीः ।।५।।

दोनों सम्पदाओं का कार्य बतलाते हैं। दैवी सम्पत् विशेष मुक्ति के लिये पुष्टि-मर्यादा भेद सम्मत हैं। आसुरी बन्धन के लिये है। संसार में पुनरागमन इसी से होता है अन्त में अन्धतम में भी प्रवेश होता है। इसे सुनकर युद्ध में उपस्थित कौरवों पर क्रोध होने से शोकयुक्त अर्जुन से कहा। हे पाण्डव ! क्षत्रिय की सन्तान होने से तुम शोक योग्य नहीं हो। मेरी इच्छा से दैवी सम्पद् युक्त हो गये हो अतः शोक मत करो ।।५।।

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् दैव असुर एव च ।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ।।६।।

ननु दैव्यां संपदि जातस्य मम कथं क्रोधोत्पत्तिर्मनसि जायत इत्याशङ्कय नैकदोषेणैवाऽऽसुरत्वं तदुत्पत्तिस्तु संगदोषजेति तत्त्यागार्थं विस्तरेण सर्वलक्षणपूर्वकमासुरीं संपदं प्रपञ्चयितुं प्रतिजानीते ।। द्वाविति ।। अस्मिल्लोके भूतसर्गौ जीवसर्गौ द्वौ एको दैवो द्वितीय आसुरएव । चकारेण राक्षसादिरपि गृहीतः तत्र दैवो विस्तरशो विस्तारपूर्वकः पूर्वं प्रोक्त प्रकर्षेण फलादिसहितो मे मया उक्तः कथितः । हे पार्थ ! कृपापात्र ! आसुरः पूर्वं संक्षेपेणोक्तोऽतो मे मत्तो विस्तरेणोच्यमानमासुरं सर्गं श्रृणु ।६।।

यहाँ यह शङ्का की गई है कि जब मैं (अर्जुन) दैवी सम्पद् में उत्पन्न हुआ हूँ तो मेरे मन में क्रोध क्यों उत्पन्न हुआ। इसका समाधान करते हुए कहा है कि एक दोष से ही असुरत्व नहीं आता। असुरत्व तो सङ्ग दोष से हो जाता है। उसके त्याग के लिये सम्पूर्ण लक्षणोंयुक्त आसुरी सम्पद् का विवेचन किया है "द्वौ" श्लोक से। इस लोक में दो सर्ग हैं, भूतसर्ग-जीवसर्ग। एक तो दैवसर्ग है दूसरा आसुरसर्ग। चकार से राक्षसादि सर्ग भी ग्रहीत हैं। इनमें दैवसर्ग विस्तारपूर्वक कहा है उसका फल भी कहा है। हे कृपापात्रपार्थ ! आसुरसर्ग संक्षेप में कथा था अब विस्तार से सुनो ।।६।।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः ।
न शौचं नापि चाऽऽचारो नसत्यं तेषु विद्यते ।।७।।

एवं प्रतिज्ञाय विस्तरेणाऽऽह द्वादशभिः ।। प्रवृत्तिमित्यादिभिः ।। आसुरा जीवा आसुरसर्ग एवोत्पन्नाः प्रवृत्तिं मदिच्छया मत्सेवानुकूलधर्म-पदार्थादिषु प्रवृत्तिम् तथैव तदननुकूलेषु च निवृत्तिं न विदुः, न जानन्तीत्यर्थः । अज्ञाने निदर्शनमाह । न शौचमिति । बाह्याभ्यन्तरभेदेन शौचं मत्सेवानु-कूलदेहशुद्धिस्तेषु न, नापिच आचारः, आचरणं न च, नसत्यं=असत्यं तेषु विद्यते सत्यं नास्तीत्यर्थः ।।७।।

द्वादश श्लोकों से आसुर सम्पद्युक्तों के लक्षण कहे जाते हैं। जो आसुर जीव हैं वे आसुर सर्ग में उत्पन्न हुए हैं न प्रवृत्ति को जानते हैं न निवृत्ति को। प्रवृत्ति कहते हैं मेरी इच्छा से मेरी सेवा के अनुकूल धर्म पदार्थों में प्रवृत्ति उसके प्रतिकूल का नाम

निवृत्ति है उसे वे नहीं जानते। अज्ञान में दृष्टान्त है, मेरी सेवा के अनुकूल न तो उनमें देह शुद्धि है न आचरण, न सत्य ॥७॥

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् ।
अपरस्परसंभूतं किमन्यत् कामहैतुकम् ॥८॥

किंच। असत्यं वेदपुराणाद्यप्रमाणम् अप्रतिष्ठम् अव्यवस्थितम्, अनीश्वरं न विद्यते ईश्वरः कर्ता यस्य तादृशं जगत् ते असुरा आहुः वदन्ति। ननु कर्त्रभावेन कथमुत्पत्ति वदन्तीत्यत आह अपरस्परेति। अपरश्च परश्चेत्यपरस्परं स्त्रीपुरुषसंयोगस्ततो जातं कामहैतुकं स्त्रीपुरुषयोः काम एव हेतुर्यस्य तादृशम्। अन्यत्=एतदतिरिक्तं किं कारणं न किमपीत्यर्थः ॥८॥

असुर लोग वेदपुराण आदि प्रमाणों को नहीं मानते। वे ब्रह्म की प्रतिष्ठा भी नहीं स्वीकारते। कर्ता के अभाव में स्त्री-पुरुष संयोग से लोक की उत्पत्ति है। स्त्री-पुरुष में काम ही हेतु है इसके अतिरिक्त और कोई कारण नहीं है ॥८॥

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टाऽऽत्मनोऽल्पबुद्धयः ।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥६॥

किंच ॥ एतामिति ॥ एतां कामहैतुकरूपां लौकिकीं दृष्टिं दर्शनम् अवष्टभ्य आश्रित्य नष्टाऽऽत्मानः अदृष्टाऽऽत्मस्वरूपाः, अल्पबुद्धयः प्रत्यक्षमतयः, उग्रकर्माणः उग्रं हिंसाप्रधानं कर्म येषां ते अहिताः शत्रुरूपाः जगतः सर्वलोकस्य क्षयाय नरकादिपातनार्थं प्रभवन्ति उत्पद्यन्त इत्यर्थः ॥६॥

इस कामहैतुक रूप लौकिक दर्शन का आश्रय लेकर नष्ट आत्मावाले अर्थात् अदृष्ट आत्मस्वरूपवाले, प्रत्यक्षमतिवाले, उग्र कर्म (हिंसा प्रधान वृत्तिवाले) शत्रुरूप जन सम्पूर्ण जगत् के विनाश के लिये नरकादि में गिरने को उत्पन्न होते हैं ॥६॥

काममाश्रित्यदुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः ।
मोहाद् गृहीत्वाऽसद्ग्राहान् प्रवर्त्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥१०॥

किंच ॥ काममाश्रित्येति ॥ दुष्पूरं दुःखेनापि पूरयितुमशक्यं कामम् आश्रित्य दम्भः पारलौकिकवेषधारणेन धार्मिकज्ञापनं, मानं लोकपूज्यत्वम्,

मदः स्वरूपविस्मरणेन कामैकपरत्वम्, एतैरन्विताः युक्ताः, असद्ग्राहान् क्षुद्रदेवमन्त्रान् मोहात् भ्रमात् सकलकार्यसाधकान् ज्ञात्वा गृहीत्वा स्वीकृत्य अशुचिव्रताः अपेयपानादिरताः सन्तस्तदाराधनादौ प्रवर्तन्ते ॥१०॥

महान् कष्ट से भी तृप्त न किये जानेवाले काम का आश्रय लेकर, अच्छे पारलौकिक वेष धारण से धार्मिकता का बोध करानेवाले, लोक पूज्य मान को स्वरूप-विस्मृति से एकमात्र काम परायण, तुच्छ देवों को तुच्छ मन्त्रों को भ्रम से सम्पूर्ण कामनाओं को पूरा करनेवाला समझकर ग्रहण कर अपेय (शराबादि) का पान कर उसकी आराधना में लगे रहते हैं ॥१०॥

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा एतावदितिनिश्चिताः ॥११॥
आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान् ॥१२॥

किंच ॥ चिन्तामिति ॥ अपरिमेयां परिमातुमशक्यां प्रलयान्तां मरणान्तां चिन्ताम् उपाश्रिताः अहर्निशं चिन्तापरा इत्यर्थः । कामोपभोग एव परमः फलरूपो येषाम् एतावत्पुषार्थकामोपभोग एवेतिनिश्चिताः कृतनिश्चयाः तदर्थमेव आशा एव पाशास्तेषां शतानि तैर्बद्धास्तद्वशेनाऽनेक-तुच्छदेवाद्याश्रयणशीलाः, कामक्रोधावेव परम् अयनं मूलम् आश्रयणं येषां तादृशाः । कामोपभोगस्य कृतपुरुषार्थनिश्चयत्वेन कामभोगार्थम् अन्यायेन चौर्याऽपहारहिंसादिना अर्थसंचयान् ईहन्ते इच्छन्ति ॥११-१२॥

अपरिमित मरणान्त चिन्ता का आश्रय लेकर (दिन-रात चिन्तारत होकर) कामोपभोग ही फल माननेवाले अर्थात् पुरुषार्थ केवल कामों का उपभोग ही मानते हैं। आशारूपी सैकड़ों पाश में जकड़े हुए उसके वश से अनेक तुच्छ देवताओं की उपासना में लगे हुए, काम-क्रोध परायण तथा इन्हीं को परम पुरुषार्थ माननेवाले अन्याय से, चोरी से, हत्या द्वारा धन एकत्रित करने में लगे रहते हैं ॥११-१२॥

इदमद्य मया लब्धमिदं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥१३॥

एवं तेषां कर्मादिलक्षणमुक्त्वा मनसोऽसदर्थाभिनिवेशान्नरकप्राप्तिमाह ।। इदमद्येति ।। मया कृतयत्नेन इदम् अद्य लब्धं ननु यदृच्छयेतिजानन्ति, एवमेव यत्नं कुर्वाण इदं मनोरथं मनस इष्टं प्राप्स्ये प्राप्स्यामि, इदं भोगाद्यर्थं धनं मे अस्ति मदिच्छया स्थास्यति, गमिस्यतीति न जानन्ति । इदमपि मे पुनः धनं भविष्यति ।।१३।।

इस प्रकार उनके कर्मादि लक्षणों को बताकर मन की दुष्टता से नरक प्राप्ति कहते है—मैंने जो यत्न किया उससे आज यह प्राप्त कर लिया स्वाभाविक प्राप्ति नहीं मानते वे अपना यत्न मानते हैं। इस प्रकार यत्न करते हुए मनोभीष्ट फल प्राप्त करूँगा। इतना धन मेरे भोग के लिये है और मेरी इच्छा से आगे इतना रहेगा। यह धन चला जायगा इस बात को वे नहीं जानते। यह धन मुझे पुनः मिलेगा ।।१३।।

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी ।।१४।।

असौ अयं मम शत्रुः मया हतः, अपरानपि तादृशान् हनिष्ये, भगवदिच्छया विपरीतं न जानन्ति । ईश्वरोऽहं सर्वकरणसमर्थः, अहं भोगी भोगसाधनवान् कर्त्ता च, सिद्धोऽहं कृतकृत्यः, बलवान् परोपकारमर्दनसमर्थः, सुखी सिद्धेष्टसाधनः ।।१४।।

यह शत्रु मैंने मार डाला औरों को भी मार डालूंगा। भगवान् की इच्छा से विपरीत होने को वह नहीं जानते। मैं सब कुछ कर सकता हूँ, मैं भोग साधनावाला हूँ, मैं कृत कृत्य हूँ, परोपकार मर्दन में मैं समर्थ हूँ, मैं सुखी हूँ ।।१४।।

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया ।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ।।१५।।

किंच । आढ्य वपुलधनवान्, अभिजनवान् सत्कुलोत्पन्नः, मया सदृशः समः अन्यः कोऽस्ति, न कोपीत्यर्थः । तथापि यक्ष्ये यज्ञादिभिः प्रतिष्ठार्थमित्यर्थः, दास्यामि अधमेभ्योऽनुवर्तिभ्यः, मोदिष्ये हर्षमाप्स्यामि, इति=अमुना प्रकारेण अज्ञानेन विमोहिताः पूर्वोक्तधर्मेष्वभिनिविष्टा भवन्तीत्यर्थः ।।१५।।

मैं अत्यधिक सम्पन्न हूं, मैं अच्छे कुल में उत्पन्न हूँ, मेरे समान कोई नहीं है। प्रतिष्ठा के लिये मैं यज्ञ करूँगा। अपने अनुवर्तियों को कुछ दूँगा, मैं प्रसन्न हूंगा, इस प्रकार के अज्ञान से मोहित होकर पूर्वोक्त धर्मों में मन लगाते हैं ॥१५॥

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥१६॥

एवमभिनिविष्टानां फलमाह ॥ अनेकेति ॥ अनेकेषु क्षुद्रादिदेवेषु वा व्याप्तं चित्तं तेन विभ्रान्ताः विशेषेण भ्रान्ताः विक्षिप्ताः। तेनैव भ्रान्तिपरिकल्पितेन मोहमयेन जालेन समावृताः सम्यगावृताः शकुन्ता इव सूत्रजाले ततो निःसरणाऽसमर्थाः। तत्राऽपिचेन्मत्स्मरणादिकं कुर्युस्तदा तु न पतेरन् किंतु खगादिवत् स्वकुटुम्बचिन्तनपराः कामभोगेषु पूर्वोक्तरीत्या प्रसक्ताः सन्तः, अशुचौ पापाऽऽत्मके परमदुःखनिधाने नरके विषयसुखात्मके आसक्त्युत्पादके पतन्ति। पतनोक्त्या वैवश्यं ज्ञापितम् ॥१६॥

इस प्रकार अभिनिविष्टों का फल बतलाते हैं। अनेक क्षुद्र देवों में मनोरथों में व्याप्त चित्तवाले अतएव भ्रान्तिपरिकल्पित मोहमय जाल से घिरे रहते हैं जैसे पक्षी सूत्रजाल में फँसकर निकल नहीं सकते, उसमें भी यदि वे मेरा स्मरण करे तो गिरे नहीं किन्तु खगों की भाँति अपने कुटुम्ब की चिन्ता में रत, कामोपभोग में परायण होकर पापात्मक, परम दुख के निधान नरक में जो विषय सुखात्मक है आसक्ति का जनक है उसमें गिरते हैं। पतन की उक्ति से विवशता बतलाई गई है ॥१६॥

आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः ।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाऽविधिपूर्वकम् ॥१७॥

तत्र संसारविषयात्मके सुखे पतित्वा यत्कुर्वन्ति तेन च यत्फलमनुभवन्ति तदाह ॥ आत्मेत्यादि ॥ चतुर्भिः। आत्मना स्वेनैव संभाविताः स्वधर्माविष्कारेण लोकेषु उत्तमतां पूज्यतां नीताः नतु भगवदीयैः। अतएव स्तब्धाः अनम्राः स्थाणुप्रायाः। किंच धनेन यो मानो मदश्च ताभ्याम् अन्विताः युक्ताः यद्वा धनमानमदैरन्विताः तादृशाः सन्तः नामयज्ञैः शब्दात्मकैः

प्रतिष्ठार्थम् अविधिपूर्वकं मदंशादिज्ञानाभावेन मद्भजनराहित्येन ते पूर्वोक्ता आसुरा यज्ञादिकं कुर्वन्ति ॥१७॥

संसार विषयात्मक सुख में पड़कर जो करते हैं जो फल अनुभव करते हैं उसे कहते हैं—४ श्लोकों से—अपने द्वारा ही अपने प्रशंसक बनकर, अपने धर्म के आविष्कार से लोक में पूज्यता को प्राप्तकर (भगवदीयों से नहीं) ठूंठ की भाँति स्तब्ध, धन से उत्पन्न मान-मद से अन्वित, शब्दात्मक नाम यज्ञ से प्रतिष्ठा प्राप्ति के लिये विधि का परित्याग कर मेरे अंश आदि के ज्ञान के अभाव से मेरा भजन छोड़कर वे पूर्वोक्त आसुर यज्ञादिकों को करते हैं ॥१७॥

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः ।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥१८॥

अविधिपूर्वकं यजनं पूर्वं विवेचयति अहंकारमिति । अहंकारं सत्त्वाभिमानं, बलं स्वसामर्थ्यं दर्पं गर्वं, कामं मनोऽभिलाषं, क्रोधं व्यर्थं हृदयक्लेशं, चकारेण हर्षोद्वेगादयः संगृहीताः, तान् संश्रिताः सन्तः, आत्मपरदेहेषु 'मयि ते तेषु चाप्यहमित्युक्तरीत्या' स्थितं मां प्रद्विषन्तः प्रकर्षेण द्वेषं कुर्वन्तो मद्भजनादिनिन्दां कुर्वन्तः, अभ्यसूयकाः दोषरहितेषु दोषारोपकाः सन्तो यजन्त इति पूर्वेणैवसंबन्धः ॥१८॥

अवधिपूर्वक यजन का विवेचन—सत्त्वाभिमान रूप अहङ्कार, स्वसामर्थ्य रूप बल, गर्व, मनोभिलाष रूप काम, व्यर्थ में हृदय क्लेशरूपी क्रोध, चकार से हर्ष-उद्वेग आदि का अवलम्बन कर, अपने में और पर देह में 'वे मुझ में हैं मैं उनमें हूँ' ६।२६ इस रीति से स्थित मुझ से द्वेष करते हुए मेरे भजन की निन्दा करते हुए दोष रहितों में दोषारोपण करते यजन करते हैं (यह पूर्व से अन्वित है) ॥१८॥

तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराऽधमान् ।
क्षिपाम्यजस्त्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥१९॥

सर्वफलदाता च स्वयमेवातः स्वभक्तद्वेषिणां फलं न प्रयच्छमीत्याह ॥ तानहमिति ॥ अहं तान् द्विषतः क्रूरान् कठिनान् नराधमान् तामसान् संसारेषु अहंममात्मरूपेषु जन्ममरणादिरूपेषु वा तेष्वप्यासुरीष्वेव मत्प्रतिपक्ष-

रूपासु योनिषु अजस्रं निरन्तरं क्षिपामि पातयामीत्यर्थः । क्षिपामीत्युक्त्या क्रोधः सूचितः ।।१६।।

सम्पूर्ण फलों का दाता मैं ही हूं अतः श्रीकृष्ण कहते हैं कि अपने भक्तों के द्वेषियों को फल नहीं देता । मैं उन द्वेष करनेवाले क्रूर कठिन नराधमों को तामसों को अहम्-ममात्म रूपों में जन्म-मरणादि रूपों में उन आसुरी योनियों में भी मेरी प्रतिपक्ष रूपायोनियों में उन्हें निरन्तर फेंकता रहता हूं । क्षिपामि कथन से क्रोधसूचित है ।।१६।।

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ।।२०।।

तद्योनिप्राप्तानां फलमाह ।। आसुरीमिति ।। जन्मनि जन्मनि, तथात्वज्ञापनाय वीप्सा हे कौन्तेय आसुरीं योनिं मद्धर्माचरणप्रतिकूलां योनिं प्राप्य मत्प्राप्तिसाधनाऽभावात् माम् अप्राप्यैव ततो जन्मसमाप्तौ अधमां गतिम् अन्धंतमः प्रवेशरूपां यान्ति प्राप्नुवन्तीत्यर्थः । एवकारेणाऽवतारदशायां सर्वदर्शनयोग्यायामपि स्वरूपाऽज्ञानान्मद्दर्शनमप्राप्य गच्छन्तीतिज्ञापितम् । कौन्तेयेति संबोधनाद्भक्तगृहजन्मप्राप्त्या स्वप्राप्तियोग्यत्वं ज्ञापितम् ।।२०।।

उन योनियों में प्राप्तों का फल बतलाते हैं—जन्मनि में द्वित्व असुरत्व ज्ञापनार्थ है । हे कौन्तेय मेरे धर्माचरण के प्रतिकूल आसुरी योनि को प्राप्तकर मेरी प्राप्ति के साधन के अभाव में मुझे न प्राप्तकर जन्म की समाप्ति पर अधम गति में घोर नरक में पड़ते हैं । एवकार पद से अवतार दशा में सर्व दर्शन योग्य में भी स्वरूप अज्ञान से मेरे दर्शन को न प्राप्तकर वे चले जाते हैं कौन्तेय सम्बोधन द्वारा उसका भक्त घर में जन्म प्राप्ति से अपनी प्राप्ति भी कही है ।।२०।।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ।।२१।।

तेषु तदभावात्तथा उक्ताऽसुरसंगात्तन्मुख्यधर्मत्रयोत्पत्तिः स्यात्तच्च नरकद्वारं तत्र गमनसाधनरूपमतस्तत्संगत्यागमाह ।। त्रिविधमिति ।। इदम् अग्रे वक्ष्यमाणं त्रिविधं नरकस्य द्वारं प्रवेशसाधनमित्यर्थः । कीदृशं द्वारम् आत्मनो जीवस्य नाशनं विनाशकर्तृ संसारपातनात् । तद्विवेचयति । कामः

क्रोधस्तथा लोभ इति कामः स्वरमणानन्देच्छा रूपः, क्रोधः अकारणहृत्तापरूपः लोभः सर्वगुणनाशकपरस्वप्राप्तीच्छारूपः तस्मात् असुरादेतत्त्रितयं स्याद-तस्त्यजेत् तत्संगमितिशेषः ॥२१॥

उनमें उनका अभाव है 'आसुर' सङ्ग से उसके मुख्य तीन धर्मों की उत्पत्ति होती है उससे नरक द्वार मिलता है, अब आगे जो कह रहे हैं वे तीन प्रकार के नरक के द्वार हैं उनसे जीव का विनाश होता है वे तीन हैं 'काम-क्रोध तथा लोभ'। स्वयं रमण के आनन्द से इच्छा रूप काम, अकारण हृदय में तापरूप क्रोध, सर्वगुण-नाशक पराये धन की प्राप्ति इच्छारूप लोभ, ये तीनों आसुर से ही होते हैं अतः इन तीनों का संग त्याग देना चाहिये ॥२१॥

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः ।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥२२॥

तत्संगत्यागेन तत् त्रितयरहितः स्यादित्याह ॥ एतैरिति ॥ कौन्तेय । सत्संगगुणसंपन्न । तत्तत्संगत्यागे एतैस्त्रिभिस्तमोद्वारैर्विमुक्तो नरः आत्मनः श्रेयो भजनादिकम् आचरति ततस्तेन परां गतिं याति प्राप्नोति ॥२२॥

आसुर भाव के त्यागने से काम-क्रोध लोभ से भी छूट जाता है अतः कहा है कि हे सत्सङ्गगुण सम्पन्न अर्जुन ! उनके संग त्याग से इन काम क्रोध लोभ रूप तमोद्वार से छूटकर प्राणी अपने कल्याणार्थ भजनादि करता है । इस भजनादि से उसे परम गति प्राप्त होती है ॥२२॥

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥२३॥

किंच । असुराश्च अशास्त्रविहिताः असत्कर्मणि निरता अतो यश्चै-तत्संगत्यागी न किन्तु तद्भक्तोऽशास्त्रं कर्म करोति न स मुक्तिं प्राप्नोतीत्याह ॥ यः शास्त्रेति ॥ आसुरसंगात्तु यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य अवगणय्य काम-कारतः स्वेच्छातः अशास्त्रेषु वर्तते स न सिद्धिं स्वमनोभिलाषं, न सुखं स्वमनोनिर्वृतिं, न परां गतिं मोक्षं प्राप्नोतीत्यर्थः ॥२३॥

जो असुर हैं वे अशास्त्रविहित असत्कर्मों में निरत रहते हैं जो इनका सङ्ग त्याग देता है अशास्त्रीय कर्म करता है उसकी मुक्ति नहीं होती। आसुर सङ्ग के प्रभाव से जो शास्त्र विधि को त्यागकर स्वेच्छापूर्वक अशास्त्रों में प्रवृत्त होता है वह अपनी मन की अभिलाषा को कभी पूर्ण नहीं करता, और न मन शान्तिरूप सुख को प्राप्त करता है और न मोक्ष को ही प्राप्त करता है ॥२३॥

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याऽकार्यव्यस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहाऽर्हसि ॥२४॥

इति श्रीभगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे देवाऽसुरविभागो नाम षोडशोऽध्यायः ॥१६॥

तस्मादिति। तस्मात् कारणात्ते तव दैव्यां संपदि जातस्य कार्याकार्यव्यवस्थितौ इदं कार्यम् इदमकार्यम् एतयोर्व्यवस्थितौ व्यवस्थायां शास्त्रं प्रमाणमतः शास्त्रं विधानोक्तं ज्ञात्वैतत्संगेन त्वं कर्म कर्तुमिह प्रपञ्चे अर्हसि ॥२४॥

दैवासुरीयसंपत्तिविवेकेन तु षोडशे ।
संगत्यागविभागेन बन्धमोक्षौ विवेचितौ ॥१॥

इति श्रीभगवद्गीताऽमृततरङ्गिण्यां षोडशोऽध्यायः ॥१६॥

इस कारण (हे अर्जुन) जब तुझे दैवी सम्पद् में कार्य अकार्य में संशय हो कि यह कार्य करने योग्य है या नहीं तो इसमें शास्त्र को प्रमाण मानना चाहिये। अतः शास्त्र विधानोक्त को जानकर उसके आचरण से तू कर्म कर ॥२४॥

॥ इति श्रीभगवद्गीतायाममृततरङ्गिण्यां षोडशोऽध्यायः ॥

※ श्रीकृष्णाय नमः ※

अध्याय १७

॥ अर्जुन उवाच ॥

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः ॥१॥

शास्त्रविध्ययुता श्रद्धा निर्गुणैवोत्तमा मता।
इति दर्शयितुं श्रद्धा त्रिविधाऽत्र निरूप्यते ॥१॥

पूर्वाध्याये शास्त्रविधिरहितकामकारतः कर्मसु वर्त्तमानस्य न फलमित्युक्तं तत्र कामकाराऽभावे शास्त्रविधिरहितस्य श्रद्धया वर्त्तमानानामग्रे सात्त्विकत्वाद्याश्रयेण किमपि ज्ञानादिकं सत्फलं भवति नवेतिजिज्ञासुरर्जुनः पृच्छति ॥ ये शास्त्रेति ॥ ये सर्वत्यागादनन्यत्वादिशास्त्रविधिं दुस्तरत्वेनोत्सृज्य परंपराऽऽचारप्रवाहप्रवृत्तभजनादिषु श्रद्धया आदरेण युक्ताः यजन्ते देवादिपूजनंकुर्वन्ति, हे कृष्ण तेषां का निष्ठा क आश्रयः सत्त्वम् आहो रजः तमो वा। अयं भावः। पूर्वंचेत् सत्त्वाश्रयस्तदा तत एव ज्ञानोदयः पूर्वं चेद्रजस्तदा तथा कुर्वतोऽग्रे सात्त्विकत्वं, पूर्वं चेत्तमस्तदाऽग्रे राजसत्त्वं ततस्तथा कुर्वतोऽग्रे सात्त्विकत्वं ततो ज्ञानोदयस्ततो निर्गुणत्वेन त्वत्प्राप्तिः। फलात्मकनामसंबोधनेन फलाभावे तत्कारणं व्यर्थमेव तदा चारादिप्रामाण्यं निष्प्रयोजनकमतस्तेषामाश्रयस्वरूपं वक्तव्यमितिभावो व्यञ्जितः ॥१॥

कारिकार्थ :—शास्त्रविधि से युक्त निर्गुण श्रद्धा ही उत्तम मानी जाती है यह दर्शित करने के लिये तीन प्रकार की श्रद्धा को यहाँ प्रस्तुत किया गया है।

पूर्वाध्याय में शास्त्रविधि रहित स्वेच्छापूर्वक किये गये कर्मों का फल नहीं होता, यह कहा है। कामकार के अभाव में शास्त्र विधि रहित श्रद्धा से वर्तमान

सात्त्विकादि के आश्रय से ज्ञानादिक सत्फल होते हैं या नहीं इसे जानने की इच्छा से अर्जुन प्रश्न करता है—

जो सब कुछ त्यागकर अनन्यत्व आदि शास्त्र विधि को दुस्तर मानकर त्याग दे तथा परम्परा से आचार प्रवाह में प्रवृत्त भजनादिकों में श्रद्धा रखकर यजन करते हैं, देवताओं की पूजा करते हैं, हे कृष्ण ! उनका आश्रय सत्त्वगुण होता है या रजोगुण या तमोगुण। भाव यह है कि यदि प्रथम सत्त्वाश्रय हो तो उससे ही ज्ञान का उदय होगा, यदि प्रथम रजोगुण हो तो आगे सात्त्विकत्व होगा। यदि प्रथम तम का आश्रय हो तो राजसत्व उसके आगे सात्त्विकत्व और तब ज्ञानोदय तथा निर्गुणत्व द्वारा आपकी प्राप्ति होती है। फलात्मक नाम सम्बोधन के फलाभाव में उसका कारण व्यर्थ ही होगा और आचार आदि का प्रामाण्य भी प्रयोजनरहित होगा अतः उनके आश्रय का स्वरूप तो बतलाना ही उचित है, यह भाव व्यञ्जित है ॥१॥

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥२॥

अत्रोत्तरमाह श्रीकृष्णः ॥ त्रिविधेति ॥ देहिनां देहाभिमानवतां लौकिकानां श्रद्धा त्रिविधा भवति सात्त्विकी, च पुनः राजस्येव, तथा तामसी चेत्यमुना प्रकारेण त्रिविधा। सा च स्वभावजा स्वस्यौत्पत्तिकगुणजा नतु निर्गुणा। तथाचायं भावः। शास्त्रोक्तविद्धच्युक्तमद्भजनश्रद्धातो लौकिकादि-गुणज्ञानोदयो भवति निर्गुणत्वाज्जीवस्यापि निर्गुणत्वेन सत्वसंगाभावान्म-त्प्राप्तिफला श्रद्धैकरूपैव भिन्ना गुणस्वभावजा त्रिविधा च भिन्ना न तत्फल-साधिकेति भिन्नत्वज्ञापनाय तां त्रिविधां मयोच्यमानां शृणु, तच्छ्रवणादेव त्वत्संदेहनिवृत्तिर्भविष्यतीति ॥२॥

उत्तर में श्रीकृष्ण ने कहा—देहाभिमानियों में लौकिकों की श्रद्धा तीन प्रकार की होती है सात्विकी, राजसी, तामसी। यह त्रिविध श्रद्धा स्वभावजा ही है अतः सगुणा है निर्गुणा नहीं। भाव यह है कि शास्त्र में कही गई विधि से मेरे भजन श्रद्धा से लौकिक आदि गुण ज्ञान उदय होता है। निर्गुण होने से निर्गुणत्वेन सत्वसंग के अभाव

से मेरी प्राप्ति फल श्रद्धा एकरूपा ही है। तीन प्रकार की भिन्ना श्रद्धा उस फल की साधिका नहीं है। भिन्नत्व ज्ञापन के लिये उस त्रिविध श्रद्धा को सुन। उसे सुननेमात्र से ही तेरे सन्देह की निवृत्ति हो जायगी ॥२॥

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥३॥

एवं श्रोतारं श्रवणे सावधानतयाऽभिमुखीकृत्याऽऽह श्रद्धास्वरूपम् ॥ सत्त्वानुरूपेति ॥ हे भारत। सत्त्वानुरूपा मूलसत्त्वस्य अनुरूपा सदृशा अन्यधर्मास्फूर्तिपूर्वकसर्वसामर्थ्यस्फुरणाऽऽसक्त्युत्पत्तिप्रसरणाऽऽदररूपा श्रद्धा सर्वस्य सात्त्विकादित्रयस्य भवति। भारतेतिसंबोधनं तथात्वज्ञानाधिकारित्व-बोधनाय। तर्हि त्रिविधत्वं कथमित्यत आह। श्रद्धामय इति। अयं पुरुषः मदंशोऽपि नरात्मकः श्रद्धामयः श्रद्धाप्रचुरः सतु यः सात्त्विकादिभेदेन यच्छ्रद्धः यस्य श्रद्धायुक्तो भवति स एव तद्रूप एव भवतीत्यर्थः ॥३॥

इस प्रकार श्रोता को सावधानपूर्वक अभिमुख करके श्रद्धा का स्वरूप बतलाते हैं। हे भारत! सत्त्वगुण के अनुरूप मूल सत्व के अनुरूप सदृश अन्य धर्म अस्फूर्ति-पूर्वक सर्वसामर्थ्य स्फुरण आसक्ति उत्पत्ति प्रसरण आदर रूप श्रद्धा सब की सात्त्विकादित्रय की होती है। भारत सम्बोधन तथात्व ज्ञानाधिकारित्व बोधन के लिये है। त्रिविधत्व कैसे है अतः कहा है 'श्रद्धामय इति'। यह पुरुष मेरा अंश है नरात्मक है श्रद्धामय है, अतः जो सात्त्विकादि भेद से जिसकी श्रद्धायुक्त है वह तद्रूप ही होता है ॥३॥

यजन्ते सात्त्विका देवान् यक्षरक्षांसि राजसाः।
प्रेतान् भूतगणांश्चाऽन्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥४॥

तदेवप्रपञ्चयति। यजन्त इति। सात्त्विका जना देवान् सूर्येन्द्रादीन् यजन्ते पूजयन्ति, राजसाः पुनः यक्षान् धनदाधिष्ठितराक्षसान् यजन्ते। अन्ये सत्त्वसंबन्धरहितास्तामसा जनाः प्रेतान् भूतगणांश्च यजन्ते। तत्तत्पूजारुच्यैव ते तद्रूपा ज्ञातव्या इत्यर्थः ॥४॥

अब बिस्तार से कहते हैं जो सात्विक जन होते हैं वे सूर्य-इन्द्र आदि देवों की पूजा करते हैं। राक्षजीजन यक्षों की पूजा करते हैं। अन्य सत्व गुणरहित तामसजन प्रेत-भूतगणों की पूजा करते हैं। तत्तद् पूजा रुचि से वे उसी रूपवाले जानने चाहिये ।।४।।

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ।।५।।
कर्षयन्तः शरीरस्थं भूमग्राममचेतसः ।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान् विद्ध्यासुरनिश्चयान् ।।६।।

अथ सात्विकानामपि देवादिपूजननिश्चयोऽप्यासुर एव अनुक्तत्वादित्याह द्वयेन । अशास्त्रेति । ये जनाः जननादिक्लेशेन अज्ञाः अशास्त्रविहितम्अन्धपारंपर्यागतं शास्त्रनिषिद्धं वा दम्भाहंकारसंयुक्ताः परप्रतारणस्वोत्तमत्वख्यापनाऽज्ञानाभ्यां देवताप्रसादार्थं सात्त्विकवदाभासमानं निश्चयेन तपः देहक्लेशम् अभोजनादिना ये तप्यन्ते कुर्वन्ति । ये च घोरं यक्षादिप्रसादरूपं राज्यधनाद्यपेक्षार्थं तपः कुर्वन्ति । कामरागबलान्विताः कामो विषयाभिलाषः, रागो भोगासक्तिः, बलमाग्रहस्तैरन्विताः प्रेरिताः सन्तः ।। किंच ।। कर्षयन्त इति ।। भूतग्रामं पृथिव्यादिसमूहं शरीरस्थं-भगवत्क्रीडार्थमास्थितं देहे कर्षयन्तः भगवत्तोषादिरहितवृथोपवासादिभिः कृशं कुर्वन्तः, अचेतसः ज्ञानशून्याः मां च स्वलीलार्थं प्रेरकत्वेन अन्तः शरीरस्थं शरीरमध्येस्थितं भजनादिरूपमदाज्ञोल्लङ्घनेन मदंशं कर्षयन्तः क्लेशयन्तः पूर्वोक्तरीत्या ये तपः कुर्वन्ति तान् आसुरनिश्चयान् आसुरो मत्प्रतिपक्षरूपो निश्चयो येषां तादृशान् विद्धि जानीहि । एतेन ये मत्संबन्धरहिततपस्यादिधर्मानपि कुर्वन्ति ते त्याज्या एवेतिज्ञापितम् ।।५-६।।

इसके पश्चात् सात्विकादिकों का भी देवादिपूजन का निश्चय आसुर है। इसे दो श्लोकों से कहा है। जो जन जनन आदि क्लेशों से अपरिचित हैं वे शास्त्ररहित अथवा शास्त्र निषिद्ध दम्भ तथा अहंकार से युक्त दूसरों को ठगनेवाली तथा अपने को उत्तम बतलाने के लिये देवताओं की प्रसन्नता के लिये सात्विक की भांति निश्चय

से तपः क्लेश जो करते हैं तथा जो घोर यक्षादिकों की पूजा राज्य धनादि की अपेक्षा से करते हैं, काम विषयाभिलाष, भोगासक्ति राग बल=आग्रह से प्रेरित होते हैं और पृथिवी आदि समुदायवाले शरीर को भगवान् के तोष आदि से रहित वृथा उपवास आदि से कृश करते हैं, ज्ञान शून्य होकर मुझे अपनी लीला के लिये प्रेरक होने से शरीर के मध्य में स्थित भजनादि रूप मेरी आज्ञा के उल्लङ्घन से मेरे ही अंश को क्लेशयुक्त करके पूर्वोक्त रीति से जो तपस्या करते हैं उन्हें मेरा प्रतिपक्षरूप आसुर ही समझना चाहिये। जो मेरे सम्बन्धरहित तपस्यादि धर्मों को भी करते हैं वे भी त्याज्य हैं यह ज्ञापित किया है ॥५-६॥

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः।
यज्ञस्तपस्तथा दानंतेषां भेदमिमं शृणु ॥७॥

एवं धर्मभेदानुक्त्वा आहारादिभेदेनापि तद्भेदज्ञानमाह ॥ आहारस्त्विदयाद्यः ॥ तु पुनः आहारोऽपि सर्वस्य त्रिविधस्य लोकस्य त्रिविधः सात्त्विकादिरूपः प्रियो भवति। यथा यज्ञो यजनं, तपः देहादिक्लेशः, दानं तेषां भेदम् अग्रे मया प्रोच्यमानम् इमं शृणु ॥७॥

इस प्रकार धर्म के भेदों को बतलाकर आहार आदि भेदों से भी उस भेद ज्ञान को कहते हैं—आहार भी तीन प्रकार का है—यजनरूप यज्ञ, देहादि क्लेशरूप तपः दान के भेद मैं कहता हूँ सुनो ॥७॥

आयुः सत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्द्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥८॥

एवं सावधानं कृत्वाह ॥ आयुरिति ॥ आयुर्जीवितं, सत्त्वं हृदयं शुद्धम्, बलं सामर्थ्यम्, आरोग्यं रोगाभावः, सुखं मनस्तोषः, प्रीतिः स्नेहः, एतेषां विवर्द्धनाः, विशेषेण सफलतया धर्माद्यर्थोपयोगित्वेन वृद्धिकराः। तत्र आयुर्वृद्धिकरः पर्वयज्ञावशेषः सत्त्वसाधको[1] गुर्वाद्युच्छिष्टरूपः, बलकरः पितृदेवादिशेषः, आरोग्यकरो जनन्याद्युपस्कृतः सुखकरः सन्मार्गोपार्जितः, प्रीति-

१. पवित्रयज्ञावशेषः इतिटिप्पण्याम्।

करो मित्रादिगृहस्थः। ते च स्वरूपतोऽप्येतादृशाः रस्याः रसयुक्ताः स्निग्धाः स्नेहयुक्ताः स्थिराः चिरकालावस्थायित्वाद्देहपोषकाः हृद्याः हृष्टा एव हृदयाऽऽनन्दकर्त्तारः। एतादृशा आहाराः सात्विकानां प्रिया भवन्तीतिशेषः। एवमाहारकर्तारः सात्त्विका ज्ञेया इत्यर्थः।।८।।

सात्त्विकादि भेद से आहार का त्रैविध्य कहते हैं :—आयु, हृद्य, बल, आरोग्य, मनस्तोष, स्नेह अर्थोपयोगी होने से वृद्धिकारक है। एवं यज्ञ अवशेषरूप आयु है, गुरु आदि का उच्छिष्ट रूप सत्त्व, पितृदेवादि शेष बलशील हैं, जननी आदि से उपस्कृत आरोग्यकर, सन्मार्ग से उपार्जित सुखकर, मित्रादि गृहस्थ प्रीति कर, ये स्वरूप से भी रसयुक्त, स्नेहयुक्त चिरकाल अवस्थित होने से देहपोषक हैं ये सब हृष्ट हैं अर्थात् हृदय को आनन्द करनेवाले हैं। ऐसे आहार सात्विकों के प्रिय कहे गये हैं। इस प्रकार के रस्यस्निग्ध आहार करनेवाले सात्त्विक समझने चाहिये ।।८।।

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ।।९।।

राजसानाह ।। कट्विति ।। अतिशब्दः सर्वत्रानुसंबद्ध्यते। कट्वादिषु अतिकटुः कारवेल्लादिः। अत्यम्लः आम्रातकादिः। अतिलवणः क्षारबहुल-रोचकशाकादिः। अत्युष्णः सबाष्पपक्वान्नादिः। अतितीक्ष्णो मरिचादिः। अतिरूक्षश्चणकमसूरकोद्रवादिः। अतिविदाही राजकादिः[1]। एवमेतेऽति-कट्वादयः पञ्चयज्ञादिरहिताः स्वार्थकृता आहारा राजसस्येष्टाः प्रियाः। दुःखशोकाऽऽमयप्रदाः दुःखं भक्षणसमय एव रसनाविकारादिरूपं, शोको भक्षणानन्तरमजीर्णोद्गारादिना भक्षितपश्चात्तापादिरूपः, आमयो रोगो ज्वरादिः। एतानि सर्वाणि प्रददति यच्छन्तीति तथा। एतादृगाहारकर्त्तारो राजसा ज्ञेया इत्यर्थः ।।९।।

अब राक्षसों का विवरण है :—अति शब्द कटु आदि शब्दों में सभी में लगता है—अत्यन्त कटु कारवेल्लादि पदार्थ, अत्यम्ल आम्रातक आदि, अतिलवण क्षार बहुल रोचक शाकादि, अत्युष्ण सबाष्प पक्व अन्नादि, अतितीक्ष्ण मरिच आदि, अति-

---

१. रायीतीप्रसिद्धः।

रूक्ष-चणक-मसूर-कोद्रव आदि, अतिविदाहीराजक आदि इस प्रकार ये अति कटु आदि पञ्चयज्ञादि रहित स्वार्थ कृत आहार राजस गुणवालों को इष्ट हैं। परन्तु ये पदार्थ दुःख-शोक-आमयप्रद हैं—दुःख अर्थात् भक्षण समय में ही रसना विकार आदिरूप दुःख, भोजन के उपरान्त अजीर्ण उद्गार आदि से भक्षित पश्चात्ताप आदि रूप, ज्वरादि रोग आते हैं। ऐसे आहार करनेवाले राजस समझने चाहिये ॥९॥

यातयामं गतरसं पूतिपर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥१०॥

अथ तामसमाह ॥ यातयाममिति ॥ यातो व्यतीतो यामः प्रहरो यस्य तादृशं पक्वान्नकृषिरादिकं शैत्यादिना भक्षणायोग्यमित्यर्थः। गतरसं शुष्कं, पूति दुर्गन्धं, पर्युषितं व्यतीतरात्रम्, उच्छिष्टम् अन्यभुक्तावशिष्टम्, अमेध्यं कलिङ्गमूलकबिम्बादिकम् एतादृशं भोजनं तामसानां प्रियम्। एतस्य फलकीर्तनं स्वरूपत एव दुष्टत्वात्। एवंभोजनप्रियो तामसो ज्ञेय इत्यर्थः। निर्गुणाहारकैर्मदुच्छिष्टभोक्तृभिः पूर्वोक्तत्रिविधमभोजनं तद्भोजिनश्च त्याज्या इत्यर्थश्चैतन्निरूपणेन ज्ञापितः ॥१०॥

तामस पदार्थों को बतलाते हैं—प्रहर के बाद पके हुए अन्न, खिचड़ी आदि जो ठण्डे हो जाते हैं अतः जो खाने के योग्य नहीं रहते, सूखे दुर्गन्धवाले, रात के बने हुए, अन्य के खाये से बचे, मूली बैंगन आदि भोजन तामसों को प्रिय कहे गये हैं। अर्थात् जिन्हें उक्त पदार्थ अच्छे लगते हैं उन्हें तामस समझने चाहिये। निर्गुण आहार करनेवालों को मेरे उच्छिष्ट को प्राप्त करनेवालों को चाहिये कि वे तामस भोजन का और उनके भोजन करनेवालों का त्याग कर दें ॥१०॥

अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ॥११॥

अहारानन्तरं यज्ञस्य प्रतिज्ञातत्वात् त्रिविधयज्ञरूपमाह ॥ अफलेति ॥ न विद्यतेऽन्यत्फलं यस्मात्तादृशः स्वयमेव फलरूपो भगवत्प्रसादस्तदाकाङ्क्षिभिः पुरुषैः विधिना अवश्यकर्त्तव्यत्वेन दृष्टो बोधितो यो यज्ञो

भगवदाज्ञप्तत्वाद्यष्टव्यमेव नतु फ़लानुसंधानेनेति[1] मनः समाधाय निश्चलं कृत्वा इज्यते अनुष्ठीयते स यज्ञः सात्त्विक इत्यर्थः। एतादृग्यज्ञकर्ता सात्त्विको ज्ञेयः ॥११॥

आहार के पश्चात् यज्ञ का विवेचन है अतः यज्ञ का त्रिविधरूप भी वर्णित किया है—सात्विक यज्ञ की परिभाषा बतलाते है—जिससे अन्य फल कोई न हो स्वयं ही फलरूप जो भगवत्प्रसाद उसे चाहनेवाले पुरुषों के द्वारा जो अवश्य कर्त्तव्य से समझा गया हो क्योंकि भगवान् ने कहा है कि—"यजन करना चहिये। फल की कामना नहीं करनी चाहिये" अतः मन को निश्चल करके जो अनुष्ठान किया जाता है वह सात्विक यज्ञ है, ऐसे यज्ञ का करनेवाला सात्विक समझना चाहिये ॥११॥

अभिसंधाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत्।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥१२॥

राजसमाह ॥ अभिसंधायेति ॥ तु पुनः फलं स्वर्गादिकम् अभिसंधाय उद्दिश्य दम्भार्थं लोके स्वख्यापनार्थं चाप्येव यत्तु इज्यते अनुष्ठीयते तं यज्ञं राजसं विद्धि। तत्कर्त्तारश्च राजसा ज्ञेयाः ॥१२॥

स्वर्गादि के उद्देश्य से तथा लोक में ख्याति प्राप्ति के उद्देश्य से जो यजन किया जाता है वह राजस है उसके करनेवाले को राजस समझना चाहिये ॥१२॥

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम्।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥१३॥

तामसमाह ॥ विधिहीनमिति ॥ वेदोक्तविधिरहितम्, असृष्टान्नं पात्रान्नरहितं मन्त्रैर्देवताह्वानादिरूपैर्हीनं शून्यम् अदक्षिणं वेधदक्षिणारहितं, श्रद्धया आदरेण विरहितं शून्यं यज्ञं तामसं परिचक्षते कथयन्ति महान्त इतिशेषः ॥१३॥

तामस यज्ञ :—वेदोक्त विधि से रहित, पात्रान्न रहित, मन्त्र तथा देवताओं के बिना आह्वान किये हुए प्रस्तुत यज्ञ, दक्षिणारहित, आदर शून्य यज्ञ तामस कहा गया है ॥१३॥

---

१. स्वर्गादिफलानुसंधानेनेत्यर्थः।

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥१४॥

अथ यज्ञानन्तरं तपसः प्रतिज्ञातत्वात्तपसस्त्रैविध्यं वक्तुं तस्य च शरीरवाङ्मनोभेदेन त्रिविधत्वात्तत्त्रितयनिरूपणपूर्वकं त्रैविध्यकथनार्थं शारीरादिकत्रयमाह देवद्विजेति । त्रयेण । देवाः ब्रह्माद्याः, द्विजाः वेदैकनिष्ठाः, गुरवः सरहस्यमन्त्रोपदेष्टारः, प्राज्ञाः पण्डिताः शास्त्रपरिनिष्ठितबुद्धयः तेषां पूजनं यथाविधि । शौचं मृदादिना, आर्जवं ऋजुता, ब्रह्मचर्यम् इन्द्रियनिग्रहः, अहिंसा परद्रोहराहित्यं, चकारेणेर्ष्यादयः । एतत्सर्वं शरीरसंबन्धि तप उच्यते, कथ्यते इत्यर्थः ॥१४॥

तप के भेद—यज्ञ के अनन्तर तप की चर्चा की जा चुकी है अतः तप के तीन भेद कहते हैं—शरीर-वाणी और मन तीन हैं अतः शारीरादि त्रिविध भेदवाला तप कहते हैं—ब्रह्मादिदेव, वेद में निष्ठ द्विज, सरहस्य मन्त्रोपदेष्टा गुरु, शास्त्र परिनिष्ठित बुद्धिवाले प्राज्ञ, इनका यथाविधि पूजन करना शारीर तप है तथा मृत्तिका आदि से पवित्र होना, सरलता रखना इन्द्रिय निग्रह रूप ब्रह्मचर्य, परद्रोह राहित्यरूप अहिंसा, चकार से ईर्ष्या आदि यह सब शरीर सम्बन्धी तप कहा गया है ॥१४॥

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥१५॥

वाचिकमाह ॥ अनुद्वेगेति ॥ उद्वेगं भयं नोत्पादयति कस्यापि तादृशं वाक्यं, सत्यं लोभादिराहित्येन यथार्थभाषणरूपं यत् प्रियं परलोकसाधकं हितं लौकिकादिसाधकं । चकारेण लौकिकस्यानावश्यकत्वेपि वक्तव्यतासूचिता । स्वाध्यायस्य वेदस्य अभ्यसनम् अभ्यासः । चकारेण स्मृतीनामपि । एवकारेण वेदाविरोधेन स्मृत्याद्यभ्यासः । एतत्सर्वं वाङ्मयं वाचः संबन्धि तप उच्यते ॥१५॥

वाङ्मय तप—जो भय पैदा न करे ऐसा वाक्य, लोभरहित यथार्थ भाषणरूप सत्य, परलोक साधक प्रिय लौकिकादि साधक हित वाचिक तप है । लौकिक के अनावश्यक को चकार से सिद्ध किया है । वेद का अभ्यासरूप स्वाध्याय चकार से

स्मृति का अभ्यास भी, एवकार से वेद के विरोध को छोड़कर स्मृति आदि का अभ्यास, यह सब वाङ्मय तप है ॥१५॥

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥१६॥

मानसमाह ॥ मनः प्रसाद इति ॥ मनः प्रसादः मनः स्वच्छतया सत्परिचिन्तनं, सौम्यत्वम् अक्रूरता, मौनं मननम्, आत्मविनिग्रहः आत्मनो विषयेभ्य आकर्षणं, भावसंशुद्धिः स्नेहादिविषयेषु कापट्याभावः । इति= अमुना प्रकारेणैतत्सर्वं मानसं मनः संबन्धि तप उच्यते ॥१६॥

मानस तप—मनः प्रसाद, सत् चिन्तन, अक्रूरता, मनन, विषयों से आत्मा का दूर रखना, स्नेहादि विषयों में कपट का अभाव ये मानस सम्बन्धित तप कहे गये हैं ॥१६॥

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः ।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥१७॥

एवं शारीरादित्रैविध्यं तपस उक्त्वा सात्त्विकादिभेदैस्त्रैविध्यमाह ॥ श्रद्धयेति ॥ तत्तपः त्रिविधं शारीरादिकं, परया श्रद्धया अनन्यादरेण, अफलाकाङ्क्षिभिः फलापेक्षारहितैः युक्तैः शास्त्राज्ञाकारिभिः तप्तं सात्त्विकं परिचक्षते कथयन्ति ॥१७॥

इस प्रकार शारीर आदि तीन भेदों से तप के तीन भेद बतलाकर सात्विक आदि तीन भेद भी तप के बतलाते हैं—वह शारीर-वाचिक-मानस तप अनन्य आदर से फल की अपेक्षा से रहितों से युक्तों से, शास्त्र की आज्ञा का पालन करनेवालों से अनुष्ठित तप सात्त्विक कहा गया है ॥१७॥

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत् ।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥१८॥

राजसमाह ॥ सत्कारेति ॥ तत् त्रिविधं तपः इह लोकेषु सत्कारः साधुत्वादिशब्दः, मानः उत्तमत्वेन सभादिषूच्चोपवेशनादिरूपः पूजालाभः ।

एतदर्थं दम्भेनैव च परप्रतारणरूपेण यत्क्रियते तु चलं पूर्वोक्ताभावे अध्रुवं परलोकादिसाधनरहितं तत्तपः राजसं प्रोक्तं शास्त्रेषु कथितमित्यर्थः ।।१८।।

वह त्रिविध तप इस लोक में साधुत्व आदि शब्दों से सत्कार किया गया कि—'अमुक तपस्वी है' इत्यादि द्वारा सत्कृत किया गया, सभा आदि में उच्चासन पर पूजित हुआ, दम्भ द्वारा परप्रतारण किया गया—परलोकादि साधन रहित जो चल तप है वह राजस है। ऐसा शास्त्रों में लिखा है ।।१८।।

मूढग्राहेणाऽऽत्मनो यत्पीडया क्रियते तपः ।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ।।१९।।

तामसमाह ।। मूढेति ।। मूढग्राहेण मूर्खताजनितदुराग्रहेण आत्मना जीवस्य पीडया यत्तपः क्रियते, वा परस्योत्सादनार्थम् अन्यस्य विनाशार्थं तत्तामसम् उदाहृतं सम्यक् न युक्तमित्यर्थः ।।१९।।

मूर्खताजनित दुराग्रह से अपनी शक्ति न जानकर पीड़ा के लिये जो तप किया जाता है अथवा किसी दूसरे को कष्ट पहुँचाने के उद्देश्य से जो तप किया जाता है वह तामस है। वह ठीक नहीं है। किसी दूसरे का विनाश करना भी ठीक नहीं है ।।१९।।

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ।।२०।।

अथ पूर्वप्रतिज्ञातदानत्रैविध्यमाह ।। दातव्यमिति ।। "धनं मूलमनर्थानामित्यादिवाक्यैः, संचिताऽनर्थकारित्वज्ञानपूर्वकदत्तेष्टभक्त्यादिसाधकत्वज्ञानेन दातव्यमितिज्ञात्वा अनुपकारिणे प्रत्युपकारासमर्थाय दीनाय 'सीदत्कुटुंबेभ्य'[1] इत्याद्युक्तधर्मविशिष्टाय यद्दानं दीयते, देशे कुरुक्षेत्रादौ ग्रहणादौ चकारेण अकाले विवाहाद्युपस्थितौ याचमानाय पात्रे वेदविशारदाय चकारेण अपात्रे बुभुक्षिताय यत्तद्दानं सात्त्विकं स्मृतं प्रसिद्धमित्यर्थः ।।२०।।

दान की त्रिविधता—प्रथम सात्त्विक दान बतलाते हैं—धन अनर्थों का मूल है ऐसा शास्त्रों में लिखा है अतः अनर्थकारित्व ज्ञानपूर्वक दिया गया अथवा इष्ट

---

१. श्रीभागवते दशमस्कन्धे नृगराज प्रकरणे ।

भक्ति का साधक होगा इस ज्ञान से 'देना चाहिये' यह जानकर, प्रत्युपकार असमर्थ दीन के लिये दिया गया दान सात्त्विक है—"कुटुम्ब पालन में जो अर्थाभाव के कारण दुःखित हो" इस वचन से दीन को दिया गया दान, कुरुक्षेत्र आदि देश में ग्रहण आदि में, अकाल में विवाह आदि की परिस्थिति में माँगनेवालों को दिया गया दान, वेदवेत्ता को दिया दान, अपात्र भूखे को दिया दान सात्त्विक प्रसिद्ध है ॥२०॥

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः ।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥२१॥

यत्त्विति । तुशब्देन तादृग्दानस्यानुचितत्वं ज्ञाप्यते । यत्तु प्रत्युपकारार्थं महाराजकृपापात्रब्राह्मणाय अग्रे स्वोपकारकादित्वोद्देशेन दानं, वा पुनः फलधर्मादिचतुष्टयमुद्दिश्य परिक्लिष्टं चित्तक्लेशयुक्तं फलोपकारासंदेहेन दीयते तत् दानं राजसम् उदाहृतं कथितमित्यर्थः ॥२१॥

तु शब्द से उस प्रकार के दान का अनौचित्य बतलाते है—जो प्रत्युपकार की भावना से महाराज के कृपापात्र ब्राह्मण के लिये देता है ऐसा दिया दान, अथवा धर्म आदि चतुष्टय के उद्देश्य से दिया दान, चित्त में क्लेश करके दिया दान, मुझे भी इसका फल मिलेगा इस उद्देश्य से दिया गया दान, राजस कहा गया है ॥२१॥

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥२२॥

तामसमाह ॥ अदेश इति ॥ अदेशे कीकटादौ म्लेच्छादिसन्निधाने वा, अकाले अश्रद्धावस्थायामाशौचादौ अपात्रेभ्यः गणिकाचारणवन्दिभ्यो यद्दानं दीयते तत्तामसं फलादिरहितम् उदाहृतम् । च पुनः देशादिसंपत्तौ पात्रेभ्योऽपि यत् असत्कृतं सत्कारपूजादिरहितम् अवज्ञातं स्वरूपज्ञानपूर्वकतिरस्कारं यद्दीयते तदपि तथेत्यर्थः । एवं यज्ञादीनां त्रैविध्यनिरूपणेनैतत्त्रैविध्यरहितं निर्गुणमेव तत्सर्वं यज्ञादिकं कर्त्तव्यमितिज्ञापितम् । तथाहि भगवदिच्छायां सत्यां तज्ज्ञानपूर्वकं भगवद्विभूतियागो भक्त्यङ्गत्वेन कार्यो युधिष्ठिरवत् "यक्ष्ये विभूतीर्भवत" इत्यादिविज्ञापनपूर्वकम् । तपोऽपि भगवदर्थकसर्वसुखपरित्यागपूर्वकक्लेशादिसहनरूपं ज्ञानरूपं वा कार्यम् । दानं च भक्तिसिद्ध्यर्थं भगवद्भक्ताय वेदविदे ब्राह्मणाय दातव्यम् ॥२२।

कीकट आदि देशों में अथवा म्लेच्छों के सामने, अशौच आदि में गणिका, चारण वन्दियों को दिया दान तामस कहा गया है। देश-पात्र आदि के ठीक होने पर भी जो सत्कार पूजा आदि से रहित होकर स्वरूप समझे बिना दिया दान भी वैसा ही है। इस प्रकार यज्ञों के त्रैविध्य से त्रैविध्यरहित निर्गुण ही यज्ञादि करना चाहिये यह बतलाया है। भगवान् की इच्छा होने पर ज्ञानपूर्वक विभूति याग भक्ति का अंग मानकर करना चाहिये जैसे युधिष्ठिर ने कहा 'आपकी विभूतियों की पूजा करता हूँ' (श्रीमद्भागवत १०।७२।३)। ऐसे ज्ञानपूर्वक तप भी भगवान् के निमित्त सर्वसुख परित्यागपूर्वक क्लेशादि सहनरूप ज्ञानरूप यज्ञ करना चाहिये। दान भक्ति की सिद्धि के लिये भगवद्भक्त के लिये वेदज्ञ ब्राह्मण के लिये देना चाहिये ॥२२॥

ओंतत्सदितिनिर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥२३॥

ननु देशकालाद्यभावकृतानां यज्ञानां यदि तामसत्वं तदा निर्गुणेष्वपि समः समाधिरित्याशङ्क्य तेषां देशकालादिसंपत्त्यभावेऽपि तत्संपत्तिर्भवतीत्याशयेनाह ॥ ओंतत्सदिति ॥ ओंतत्सदित्येवरूपो ब्रह्मणः पुरुषोत्तमस्य त्रिविधो निर्देशो नामव्यपदेशः स्मृतो भक्तैः तत्र ओमित्येकाक्षरं ब्रह्मेत्यादिभिरोमिति ब्रह्मणः संज्ञा नामेति। यतो वाचो निवर्तन्ते आनन्दमात्रमिति यदित्यारभ्य ततो न ज्ञायते तु तदित्यन्तादिवाक्येभ्यस्तदित्यपि ब्रह्मण एव नाम। मूलसत्तावाचकत्वेन सच्छब्दोऽपि ब्रह्मवाचक एव। एतत्त्रिविधमपि ब्रह्मणो नाम। स्वरूपज्ञानपूर्वकं सर्वत्र यज्ञादिक्रियासु आदौ विनियुक्तं सर्वदेशादिसंपत्तिसाधकमितिज्ञापनाय पूर्वसिद्धं तथात्वमाह। ब्राह्मणा इति। येन त्रिविधनिर्देशेन ब्राह्मणा ब्रह्मज्ञा ब्रह्मप्रापका वा वेदाः ब्रह्मस्वरूपास्तज्ज्ञा वा, चकारेण सशब्दार्थाः। यज्ञाः यजनात्मकाः, चकारेण साधिदैवाः। पुरा सृष्ट्यादौ विहिता विधात्रा निर्मिताः, अतः पूर्वमेतदुदाहरणात्सर्वं संपद्यत इतिभावः। अथवा तेन ब्रह्मणोऽयं त्रिविधो निर्देशस्तेन ब्रह्मणा पूर्वमेते निर्मिताः स्वार्थं, ततस्तत्स्वरूपं ज्ञानपूर्वकनामत्रयोदाहरणसंसूचनात्मकेन निर्गुणानां सर्वं संपत्स्यत इतिभावः ॥२३॥

यदि यह विचार करें कि देश कालादि के विचार रहित किये गये यज्ञ तामस हैं तो निर्गुणों में भी वही बात होगी अतः कहते हैं कि देश-काल आदि सम्पत्ति के

अभाव में भी परिपूर्णता हो जाती है उस आशय से यह 'ओं तत्सत्' श्लोक कहा है। 'ओं तत् सत्' इसमें ब्रह्मपुरुषोत्तम का त्रिविध नाम व्यपदेश है ऐसा भक्तों का मत है। 'ओं नाम' निर्देश तो 'ओम्' यह एकाक्षर ब्रह्म है (८।१३) में प्राप्त है यहाँ ओ३म् यह ब्रह्म का ही नाम कहा है इसी प्रकार 'यतो वाचोनिवर्तन्ते' (तै० उ० २।४-२।६) श्रुति के व्याख्यान में 'आनन्दमात्रमिति' इसके 'यत्' पद से लेकर "ततो न ज्ञायते तु तत्" यहाँ तक के वाक्य में 'तत्' का प्रतिपादन है और यह तत् ब्रह्म का ही नाम है। मूल सत्ता वाचक होने से सत् शब्द भी ब्रह्म वाचक है। अतः 'ओ३म् तत् सत्' ये तीनों ब्रह्म के ही नाम हैं। स्वरूप ज्ञानपूर्वक सम्पूर्ण यज्ञक्रियाओं में सर्वप्रथम सर्व-देशादि सम्पत्ति का साधक ओ३म् ही रखा जाता है इसे ज्ञापित करने के लिये उसका पूर्व अस्तित्व बतलाते हैं—जिस त्रिविध (ओ३म् तत्-सत्) निर्देश से ब्राह्मण=ब्रह्म जाननेवाले, ब्रह्म प्राप्त करनेवाले, वेद ब्रह्मस्वरूप को जाननेवाले (चकार से सत् शब्द का अर्थ समझना चाहिये) यजनात्मक यज्ञ (चकार से साधिदैव) सृष्टि के प्रारम्भ में विधाता ने निर्मित किये हैं उसके उच्चारण से समस्त फल की प्राप्ति हो जाती है यह भाव है। अथवा उसने ब्रह्म का ही यह त्रिविध निर्देश किया है अतः ब्रह्मा ने इन तीनों को रचा था अपने प्रयोजन से और उसका स्वरूप ज्ञानपूर्वक नामत्रय उदाहरण पूर्वक निर्गुणों को फल देने हेतु सूचित किया है ॥२३॥

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपः क्रियाः।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥२४॥

यत एतदुदाहरणेन सर्वं संपद्यते तत्तस्मात् त्रिगुणानां भक्तानां ज्ञानिनां मुमुक्षूणां च लौकिके सतां चैतन्नामत्रितयं साधकमित्याह ॥ तस्मादिति ॥ तस्मात्कारणाद्ब्रह्मवादिनां भगवद्भक्तानां यज्ञदानतपः क्रियाः भगवदर्थिकाः ओमित्युदाहृत्य ताः सततं निरन्तरं विधानोक्ताः भगवत्प्रीत्यर्थं प्रवर्त्तन्ते प्रकर्षेण वर्त्तन्ते भवन्तीत्यर्थः ॥२४॥

इस त्रिविध ओ३म्-तत्-सत् के उच्चारण से सब कुछ परिपूर्ण होता है अतः त्रिगुण भक्तों को मुमुक्षुओं को लौकिक व्यवहार में भी यह नाम त्रितय साधक है इसे 'तस्मात्' श्लोक से कहा है। इस कारण से ब्रह्मवादियों किंवा भगवद्भक्तों की भगवदर्थ की गई यज्ञ-दान-तप क्रिया 'ओम्' शब्द के उच्चारण से भगवान् की प्रीति देनेवाली होती है ॥२४॥

तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपःक्रियाः ।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकांक्षिभिः ॥२५॥

भक्तानामुक्त्वा ज्ञानिनां द्वितीयनामसंबन्धिफलमाह ॥ तदिति ॥ तत् इति उदाहृत्य तद्ब्रह्म स्वाज्ञापरिपालनेन प्रीयादित्युदाहृत्य फलं स्वर्गादिसुखरूपम् अनभिसंधाय फलाभिलाषं मनस्यकृत्वा मोक्षकाङ्क्षिभिर्निर्दोषैर्यज्ञतपःक्रियाः यज्ञः अग्निहोत्रादिः, तपः कृच्छ्रादिः, तदादयः क्रियाः क्रियन्ते । तच्छब्दोदाहरणात्ताश्च संपन्ना भूत्वा मोक्षसंपादिका भवन्तीत्यर्थः ॥२५॥

'ओम्' शब्द के उच्चारण से समस्त क्रियायें भक्तों की पूर्ण हो जाती हैं उसी प्रकार 'तत्' इस द्वितीय नाम निर्देश से ज्ञानियों की क्रियायें पूर्ण हो जाती हैं— उस ब्रह्म की आज्ञा के पालन से (प्रीयात्) प्रसन्न हो ऐसा कथन करने से स्वर्गादि-सुख रूप फल की अभिलाषा को त्यागकर मोक्ष चाहनेवाले अग्निहोत्रादि यज्ञ, कृच्छ्र आदि तप करते हैं अथवा 'तत्' कहकर समस्त क्रिया करते हैं । तत् शब्द के उच्चारण से वे सम्पन्न होकर मोक्ष की सम्पादिका हो जाती हैं ॥२५॥

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते ।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ॥२६॥

लौकिकसत्सु सदितिनाम तत्संपादकं भवतीत्याह ॥ सद्भाव इति ॥ सद्भावे आस्तिक्यभावे साधुभावे उत्तमत्वभावे च सदित्येतन्नाम प्रयुज्यते तथा प्रशस्ते कर्मणि भगवदर्थके कर्मणि हे पार्थ सदितिशब्दः युज्यते युक्तो भवतीतिभावः ॥२६॥

लौकिक सज्जनों में 'सत्' यह नाम सत् का सम्पादक होता है—आस्तिक्य भाव होने पर या उत्तमत्व भाव के होने पर 'सत्' यह नाम प्रयुक्त किया जाता है उसी प्रकार हे पार्थ ! भगवान् के लिये किये गये प्रशस्त कर्म में 'सत्' यह शब्द युक्त होता है ॥२६॥

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते ।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥२७॥

अथ भगवत्परत्वं सर्वत्रैव सच्छब्दे एवोच्यते इत्याह ।। यज्ञे तपसीति ।। यज्ञे अग्निहोत्रादौ, तपसि कृच्छ्रादौ, दाने तुलापुरुषादौ या स्थितिः भगवदेकनिष्ठतया करणं तद्रूपा च सा सदिति उच्यते । च पुनः तदर्थीयमेव कर्म यस्यैतन्नामत्रयं तस्य भगवत एव अर्थीयं सेवादिसामग्रीसंपादनरूपं सदित्येव अभिधीयते ।।२७।।

भगवत् परत्व सर्वत्र ही सत् शब्द से समझा जाता है। अग्निहोत्रादि यज्ञों में कृच्छ्र आदि तप में, तुलादान आदि दान विधि में जो भगवान् की एकमात्र निष्ठा है वह सत्रूपा ही है। उसके लिये ही जो यह कर्म है वह 'सत्' त्रिविध नामवाला होकर भगवान् की ही सेवा का साधक है। भगवान् की सेवादि सामग्री का सम्पादन करने वाला सत् ही है ।।२७।।

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् ।
असदित्युच्यते पार्थ नच तत्प्रेत्य नो इह ।।२८।।

इति श्रीभगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे श्रद्धाविवेकयोगो नाम सप्तदशोऽध्यायः ।।१७।।

अथैतदतिरिक्तं श्रद्धाविहीनमेतदपि असदित्युच्यत इत्याह ।। अश्रद्धयेति ।। अश्रद्धया श्रद्धां विना हुतं हवनादिकं, दत्तं दानादि, तप्तं तपः । च पुनः यत्किंचित् कृतं कर्मयागतीर्थस्नानादिकं, हे पार्थ ! मद्भक्त ! तत्सर्वम् असदित्युच्यते, तच्च प्रेत्य परलोके न फलति मत्संबन्धाभावात्, इहलोके न फलं सदनादृतत्वात् । अतो मत्संबन्ध्येव लौकिकालौकिकं फलतीति तदेवकर्त्तव्यमितिनिरूपितम् ।।२८।।

निष्फलं त्रिगुणं कर्म सश्रद्धमपि यत्कृतम् ।
सफलं निर्गुणं चातः कर्त्तव्यमिति रूपितम् ।।

इति श्रीभगवद्गीताऽमृततरङ्गिण्यां सप्तदशोऽध्यायः ।।१७।।

इससे भिन्न श्रद्धाविहीन 'असत्' कहा गया है। श्रद्धारहित किया गया हवनादि, दानादि, तप तथा और भी जो याग-तीर्थस्नानादिक है। हे मेरे भक्त पार्थ, वह सब असत् है मेरे सम्बन्ध से रहित होने के कारण वह परलोक में भी फलदायी नहीं होता और इस लोक में भी सज्जनों द्वारा अनादृत होने से फलदायी नहीं है। कारण यह है जो यज्ञ-दान-तप मुझ से सम्बन्ध रखकर किये जाते हैं वे लोक में भी फलते हैं और परलोक में भी फलते हैं अतः मुझ से सम्बन्ध रखकर ही यज्ञादि करने चाहिये ॥२८॥

कारिकार्थ :—श्रद्धापूर्वक किया गया त्रिगुण (सत्त्व-रज-तम युक्त) कर्म सफल है अतः वही करना चाहिये।

॥ इति श्रीभगवद्गीतायाममृततरङ्गिण्यां सप्तदशोऽध्यायः ॥

* श्रीकृष्णाय नमः *

अध्याय १८

॥ अर्जुन उवाच ॥

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् ।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ॥१॥

अष्टादशानां विद्यानां फलमेतद्यतो मतम् ।
सर्वत्यागेन कर्त्तव्यो ह्याश्रयः सर्वभावतः ॥१॥
अतः पार्थाय सुप्रीतः प्राहाष्टादशसंज्ञके ।
अध्याये स्वाश्रयं श्रीमत्कृष्णो देवकीनन्दनः ॥२॥

अत्र सप्तदशाऽध्यायेभगवद्वाक्यतरणिकिरणविपाटितहृदयमोहान्धकारोऽर्जुनः संन्यासकर्मफलत्यागयोरेव भगवत्प्राप्तिहेतुत्वनिश्चयप्रकाशितहृत्सरोरुहः स्वबुद्धिनिश्चयेन संन्यासोत्तमज्ञानोऽपि भगवदुक्तस्वमुख्यत्वज्ञानेन तत्सिसाधयिषुस्तयोस्तत्त्वं पृच्छति ॥ अर्जुन उवाच ॥ संन्यासस्येति ॥ हे हृषीकेश ! एतत्तत्वज्ञानार्थं मदिन्द्रियप्रेरक "सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्याऽऽस्ते सुखं वशी । संन्यासयोगयुक्ताऽऽत्मा विमुक्तो मामुपैष्यसी"त्यादिना संन्यासस्य स्वप्राप्तिरुक्ता, तत्र तस्य तत्त्वं यादृशेन त्वत्प्राप्तिर्भवति तादृक् तत्त्वं, हे महाबाहो, अहं वेदितुं ज्ञातुम् इच्छामि तज्ज्ञापयेत्यर्थः । महत् क्रियाशक्तिमत्त्वोद्धारणसमर्थ ! त्वत्संबन्धेनैतत्तत्त्वोपदेशेन मामुद्धरेत्युक्तं भवति । च पुनः हे केशिनिषूदन, दैत्यनिवारक ! दैत्याऽऽवेशेन कायक्लेशादिककृतत्यागात् पृथक् त्यागस्य त्वत्सेवार्थकृतत्यागस्य तत्त्वं मुख्यरूपं वेदितुं ज्ञातुम् इच्छामि ॥१॥

कारिकार्थ :—१८ विद्याओं का फल भगवान् की प्राप्ति है, अतः सब कुछ त्यागकर सम्पूर्ण रूप से उसका आश्रय करना चाहिये ॥१॥

अतः देवकीनन्दन श्रीकृष्ण ने अठारहवें अध्याय में प्रसन्न होकर अर्जुन को अपने आश्रय का उपदेश दिया है ॥२॥

सत्रह अध्यायों के श्रवण से भगवान् के वाक्यरूपी सूर्य की किरणों से अर्जुन के हृदय का मोहरूपी अन्धकार फट गया उसने यह जान लिया कि संन्यास और कर्मफल के त्यागने से ही भगवान् की प्राप्ति सम्भव है इससे उसका हृत् कमल खिल उठा और अपने बुद्धि निश्चय से संन्यास के उत्तम ज्ञानवाला होकर भी भगवान् के कहे गये अपने उत्तम ज्ञान से उसे सिद्ध करने की इच्छा से दोनों का (संन्यास और त्याग का) तत्त्व पूछता है। हे हृषीकेश! अर्थात् इस तत्त्व ज्ञान के लिये इन्द्रियों के प्रेरक! आपने यह कहा था कि सम्पूर्ण कर्मों को मन से निकाल कर जितेन्द्रिय सुखी होता है। संन्यास योगवाला मुझे ही मुक्त होकर प्राप्त कर लेता है (गीता ५।१३) इससे आपने संन्यास को अपनी प्राप्ति ही कहा था। अतः कैसे उससे आपकी प्राप्ति होती है उसे जानना चाहता हूँ। आप महत् क्रिया युक्त हैं शक्तिशाली हैं आप उपदेश से मेरा उद्धार करो। हे दैत्यनिवारक! दैत्यावेश से शरीर क्लेशादि कृतत्याग से पृथक् त्याग का आपकी सेवा के लिये किये त्याग का तत्त्व मुख्य रूप से जानना चाहता हूँ ॥१॥

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥२॥

अस्योत्तरमाह श्रीभगवान् ॥ काम्यानामिति ॥ काम्यानां ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत। सर्वपाप्मानं तरति ब्रह्महत्यां तरति योऽश्वमेधेन यजते इत्यादिकर्मणां न्यासं परित्यागं कवयो निर्दुष्टशब्दरसिकाः संन्यासं विदुः जनन्तीत्यर्थः। अत्रायं भावः। संन्यासशब्देन सम्यक् प्रकारेण न्यासं स्थापनं तच्च काम्यानां कामितफलपरित्यागेन भवदर्थफलार्थस्थापनरूपं शब्दार्थज्ञानेन ते जानन्ति। एतेन तेषामपि शब्दार्थज्ञानवत्त्वमेवोक्तं न तु तत्त्वज्ञानवत्त्वमिति-भावः। किंच। ये विचक्षणा विशेषेण व्याख्यानसमर्थाः चातुर्यादियुक्ताः सर्व-कर्मणां नित्यनैमित्तिकानामपि फलत्यागं त्यागं प्राहुः। यद्यपि नित्यकर्मसु फलं न श्रूयते। अहरहः संध्यामुपासीत यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयात् इत्यादिषु

तथापि प्रत्यवायपरिहार एव फलमितिकल्पयन्ति। एतदेव विचक्षणत्वेनोक्तम्। तेऽपि तत्त्वं न जानन्तीत्यर्थः ॥२॥

श्रीकृष्ण ने कहा—काम्य कर्मों के परित्याग को कवि संन्यास कहते हैं 'ज्योतिष्टोम से स्वर्ग की कामनावाला यजन करे' जो अश्वमेध यज्ञ करता है सब पापों से छूट जाता है ब्रह्महत्या के पाप से भी छूट जाता है (आप० श्रौ० १०।१।२।१) इत्यादि वाक्यों द्वारा काम्य कर्म कहे गये हैं इनका परित्याग संन्यास है। कवि से तात्पर्य है निर्दुष्ट शब्द के रसिकों से। भाव यह है कि संन्यास की शाब्दिक व्युत्पत्ति है—ठीक प्रकार से स्थापन करना। वह कामित फलों के त्याग से भगवान् के लिये फलार्थ स्थापन रूप शब्दार्थ ज्ञान से वे जानते हैं। इस कथन से उनका भी शब्द-अर्थ ज्ञानवत्त्व ही कहा है तत्त्व ज्ञानवत्त्व नहीं। विशेष व्याख्यान समर्थ विद्वान् (चातुर्यादि गुणों से युक्त) नित्य नैमित्तिकों का भी फल-त्याग त्याग कहते हैं। यद्यपि नित्य कर्मों में फल नहीं है जैसे 'प्रतिदिन सन्ध्या करो' "जीवन पर्यन्त अग्निहोत्र करो" इनके करने से कोई फल नहीं है तथापि जो इनके न करने से प्रायश्चित्त करना होता है उसका न करना ही फल है ऐसा कल्पित करते हैं। इसी बात के लिये विचक्षण सम्बोधन रखा गया है। अर्थात् वे भी तत्त्व को नहीं जानते ॥२॥

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः ।
यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥३॥

किंच ॥ त्याज्यमिति ॥ एके मनस ईषणो मनीषिणो विवेकिनः दोषवत् कर्म ज्ञानादिसाधनरहितं त्याज्यमिति प्राहुः प्रकर्षेण प्रमाण्यादिना आहुः। अपरे कर्मवादिनो मीमांसकाः यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यमित्याहुः विहितत्वात्। तस्माद्यज्ञं परमं वदन्ति। तस्माद्दानमिति च। तस्मात्तपः परममिति च। एतेन ते कर्मण एव ईश्वरत्वं वदन्त्यतस्तेऽपि न जानन्ति ॥३॥

विवेकी जन दोषवत् कर्म ज्ञानादि साधन रहित को त्याज्य बतलाते हैं और इसे सप्रमाण सिद्ध करते हैं। दूसरे कर्मवादी मीमांसकों का कथन है कि यज्ञ-दान तप त्याज्य नहीं हैं। उनका कथन है कि "यज्ञ ही महान् है (महा ना० १७।१०) दान ही परम तत्त्व है—महा ना० १७।५ इसी में तप भी महान् कहा है। वे मीमांसक कर्म को ईश्वर कहते हैं अतः वे भी नहीं जानते ॥३॥

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः ॥४॥

एवं सर्वेषां तत्त्वाज्ञानेन मतान्युक्त्वा तन्मतेषु तत्त्वज्ञानार्थं तन्मत-निश्चितं स्वमतमाह निश्चयमिति। तत्र बहुभिर्बहुधा प्रपञ्चिते त्यागे हे भरत-सत्तम सत्कुलोत्पन्नत्वेन श्रवणयोग्य ! मे मत्तो निश्चयं निर्धारितं शृणु। एवमभिमुखीकृत्याह। त्याग इति। हे पुरुषव्याघ्र पुरुषश्रेष्ठ। पुरुषस्य भगवद्भजनाधिकारित्वात्तेषु श्रेष्ठत्वोक्तौ व्याघ्रत्वोक्त्या तथाश्रवणानन्तरं करणेन पौरुषप्रकटनसमर्थत्वं ज्ञापयित्वाह॥ त्यागो हीति॥ त्यागो निश्चयेन त्रिविधः संप्रकीर्तितः सम्यक्प्रकारेण कथितः ॥४॥

इस प्रकार तत्त्व के न जाननेवाले मतों को बतलाकर उनके मतों में तत्त्व-ज्ञान के लिये अपना निश्चित मत कहते हैं—इसमें भी बहुविध प्रपञ्चित त्याग में हे भरत सत्तम सत्कुलोत्पन्नत्व-श्रवणयोग्य ! मुझ से निर्धारित मत सुन। इस प्रकार अपनी ओर अभिमुख करके त्याग की चर्चा की है। हे पुरुषव्याघ्र ! पुरुष का भगवान् के भजन में अधिकार है उनमें श्रेष्ठता बतलाने के लिये व्याघ्र सम्बोधन है। उस प्रकार श्रवण के अनन्तर करण से पौरुष प्रकटन समर्थत्व बतलाकर कहा है 'त्याग' इति। त्याग तीन प्रकार का है ॥४॥

यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥५॥

त्रिविधत्वं पश्चाद्वक्ष्यति पूर्वं निश्चयमाह ॥ यज्ञदानेति॥ द्वयेन। यज्ञादिकं कर्म न त्याज्यं यतः कार्यम् अवश्यं कर्त्तव्यं तत् प्रत्यवायपरि-हारार्थम्। यज्ञो यजनं, दानं तपश्च मनीषिणां ज्ञानिनां तत्स्वरूपविदुषां स्वरूपज्ञाने कृतान्येतानि पावनान्येव चित्तशोधकानि अत एतत्त्रितयात्मकं कर्म कार्यम्। एवकारेण नान्यफलाभिलाषया कर्त्तव्यानीति व्यञ्जितम् ॥५॥

त्रिविधत्व आगे कहेंगे (१८:७-९) प्रथम निश्चय बतलाते हैं, 'यज्ञ-दान दो श्लोकों से' यज्ञादि कर्म त्याज्य नहीं हैं। प्रत्यवाय परिहार के लिये वे यज्ञ दान आदि

अवश्य करने चाहिये। यजन-दान-तप ये सब चित्त के शोधक हैं। अतः यह त्रितयात्मक कर्म करने चाहिये। एवकार से अन्य फल की अभिलाषा नहीं करनी चाहिये यह व्यङ्ग्य है ॥५॥

एतान्यपि तु कर्माणि संगं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥६॥

यथा कृतानि पावनानि भवन्ति तथाह। एतानीति। तु पुनः पावनार्थकान्यपि एतानि यज्ञादीनि कर्माणि, संगं तदभिनिवेशं, च पुनः फलानि स्वर्गसुखादीनि, मदाज्ञात्वेन कर्त्तव्यानि इति मे निश्चितं पूर्वोक्तमतेषु उत्तमं मतम् ॥६॥

इस प्रकार पावन कर्म यज्ञ-दान-तप आदि स्वर्ग सुख आदि की अभिलाषा त्यागकर मेरी आज्ञा पालन मात्र उद्देश्य से करने चाहिये यह पूर्वोक्त मतों से उत्तम है ॥६॥

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥७॥

एवं निश्चितार्थमुक्त्वा पूर्वोक्तत्रैविध्यमाह ॥ नियतस्येति ॥ त्रयेण। नियतस्य तु नियतस्य भक्त्यङ्गत्वेनोक्तस्य पुनः कर्मणः संन्यासस्त्यागो नोपपद्यते न उप समीपे भगवतः पद्यते प्राप्तो भवतीत्यर्थः। अतस्तादृशकर्मणस्त्याग एव मोक्षार्थक इति मोहात् भ्रमेण यस्तस्य परित्यागः स तामसः अज्ञानात्मकः परिकीर्तितः ॥७॥

इस प्रकार निश्चितार्थ को बतलाकर पूर्वोक्त के भी तीन भेद हैं। नियत तो भक्ति का अंग है इसलिये इस कर्म का त्याग नहीं कहा है। नोपपद्यते का अर्थ है— भगवान् के समीप प्राप्त नहीं होता। अतः इस प्रकार के कर्म का त्याग मोक्ष के लिये है इस मोह से जो परित्याग है वह तामस है अर्थात् अज्ञानात्मक है ॥७॥

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत्।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥८॥

राजसमाह ।। दुःखमित्येवेति ।। त्यागो भगवदासक्त्या भगवदर्थक इत्यज्ञात्वा दुःखमित्येव लौकिकराजससुखप्रतिबन्धकं ज्ञात्वा कायक्लेशभयात् आयाससाध्यभयेन यत्कर्म यस्त्यजेत् स राजसं त्यागं कृत्वा त्यागफलं मत्प्रसादादिरूपं न लभेदेव, न प्राप्नोत्येवेत्यर्थः ।।८।।

जो त्याग को भगवान् के निमित्त नहीं जानते, वे दुःखित होते है । लौकिक राजस सुख प्रतिबन्धक है ऐसा मानकर काय-क्लेश भय से जो कर्म का त्याग करता है वह राजस त्याग करके त्याग के फल मेरी कृपा आदि रूप को प्राप्त नहीं करता ।।८।।

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ।
संगं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ।।९।।

सात्त्विकमाह ।। कार्यमित्येवेति ।। नियतं भक्त्यङ्गत्वेन कार्यमित्येव मदाज्ञात्वेनावश्यकर्त्तव्यमेव एवं ज्ञात्वा संगं त्यक्त्वा तत्कर्तृत्वाभिमानं फलं तज्जं स्वर्गादिसुखं च त्यक्त्वा यत्कर्म क्रियते स त्याग एव सात्त्विकः मदाज्ञारूपकरणेन स्वार्थफलाभावात् सात्त्विकः । अतएव मतः मत्संमत इत्यर्थः ।।९।।

नियत कर्म तो मेरी आज्ञा मानकर सर्वदा करने ही चाहिये क्योंकि वे तो भक्ति के ही अंग हैं । इस प्रकार जानकर संग का त्यागकर उसके कर्तापन के अभिमान फल का त्यागकर और उससे मिलनेवाले स्वर्ग आदि सुख का त्यागकर जो कर्म किया जाता है वह सात्त्विक कर्म है । वह मेरी आज्ञा से किया गया है और स्वार्थ फल का उसमें अभाव है अतः वह सात्त्विक है ।।९।।

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नाऽनुषज्जते ।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ।।१०।।

ननु संगं फलं च त्यक्त्वा यत्कर्म करोति तस्य त्यागरूपता सात्त्विकता च कथं संपद्यते ? इत्याशङ्क्याह ।। न द्वेष्टीति ।। अकुशलं स्वरूपतः क्लेशादिसाधकं पश्चाच्च दुःखाप्तिरूपं तादृशं न द्वेष्टि, किंतु भगवदाज्ञारूपत्वात्तत्समये पुनः करणादतएव भवेत्[1] । कुशले कृतकर्मजातसुखोऽपि

---

१. अकुशलकर्मसमये सर्वथा पारवश्येन पुनःकरणादतएव त्यागी भवेदित्यर्थः ।

मदाज्ञाव्यतिरिक्तोत्तमत्व ज्ञानेन सत्त्वसमाविष्टः सत्त्वात्मकधैर्यवान् न अनुषज्जते नाऽऽसक्तो भवतीत्यर्थः । तत्र हेतुः मेधावी बुद्धिमान् छिन्नसन्देहः मदिच्छयैव सुखदुःखादिज्ञानेन कर्मसु द्वेषाऽऽसक्तिरहितो यः स त्यागी इति ज्ञातव्य इत्यर्थः ॥१०॥

यदि यह विचार करें कि संग को और फल को त्यागकर जो कर्म करता है वह त्याग की परिधि में कैसे आता है उसे सात्त्विक कैसे समझा जाय । अतः कहा है कि जो स्वरूप से ही क्लेशादि का साधक है बाद में दुःख प्राप्तिमात्र है उससे वह द्वेष नहीं करता किन्तु उस कर्म को भगवान् की आज्ञा मानकर करता है । कुशल कर्म करने पर सुख मिलता है किन्तु स्वर्गादि प्राप्ति मेरी आज्ञा से नहीं है । अतः सत्त्वात्मक धैर्यशाली स्वर्गादि मिलनेवाले साधनों में आसक्त नहीं होता । वह मेधावी है उसका संशय दूर हो गया है मेरी इच्छा से ही सुख दुःख आदि ज्ञान से कर्मों में द्वेष आसक्ति रहित है वही त्यागी है ॥१०॥

नहि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥११॥

ननु कर्मफलत्यागे तत्करणं किंप्रयोजनमित्यत आह ॥ नहीति ॥ देहभृता देहाऽध्यासवता अशेषतः कर्माणि त्यक्तुं न शक्यम् । हीति युक्तश्चायमर्थः । देहाध्यासे फलापेक्षणात् लोकापेक्षणाच्च कथं त्यागः कर्त्तव्य इति । यतो यस्तु=यश्च पुनः कर्मफलत्यागी कृतकर्मणां फलानभिलाषी सत्यागी इति अभिधीयते ॥११॥

कर्म फल त्यागने पर भी कर्म को नहीं त्यागना चाहिये कारण यह है कि जिसने देह धारण किया है वह कर्मो का त्याग तो कभी कर ही नहीं सकता । देह का जब तक अध्यास है (अवस्तु में वस्तु का आरोप अध्यास कहलता है) लोक की जबतक अपेक्षा है त्याग सम्भव नहीं है । और जो कर्म करके कर्म के फल की अभिलाषा नहीं करता वह त्यागी है ॥११॥

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम् ।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य नतु संन्यासिनां क्वचित् ॥१२॥

एवं कर्मफलत्यागिनस्त्यागित्वमुपपाद्याथ कर्मफलत्यागफलमाह ॥ अनिष्टमिष्टमिति ॥ कर्मणः फलं त्रिविधम् अनिष्टम् इष्टं मिश्रं च। तत्राऽनिष्टं नरकशूकरादियोनिप्राप्तियातनारूपम्। इष्टं देवभावेन स्वर्गादिसुखरूपम्। मिश्रं सन्मनुष्यजन्मराज्यादिभोगरूपम्। तत्त्रिविधं कर्मफलम् अत्यागिनां कर्मफलाऽत्यागिनां प्रेत्य परत्र लोके भवति। नतु क्वचिदपि संन्यासिनां कर्मफलत्यागिनां भवतीत्यर्थः ॥१२॥

कर्म फल त्यागनेवाला ही त्यागी है यह बतलाकर अब कर्म फल के त्याग को बतलाते हैं—कर्म का फल तीन प्रकार का होता है अनिष्ट-इष्ट और मिश्र। अनिष्ट तो नरक प्राप्ति, शूकर आदि योनि प्राप्तिरूप है इसमें यातना की प्राप्ति होनी है। इष्ट-देवों की उपासना और स्वर्गादि सुखों की प्राप्तिरूप है। मिश्र-अच्छे मानव कुल में जन्म लेकर राज्यादि भोगों का भोगना है। वह त्रिविध कर्मफल कर्म फल न त्यागनेवालों को मरने के पश्चात् परलोक में मिलता है। संन्यासियों को कर्म फल त्यागियों को नहीं होता ॥१२॥

पंचैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥१३॥

ननु संगफलपरित्यागेऽपि कर्मकर्त्तुः फलं तु संभावितमेव भोजनतृप्तिवदौषधार्थभक्षितमादकद्रव्यजोन्मादवदतः कथं फलं न भवेदित्याशङ्क्याह ॥ पञ्चैतानीति ॥ श्लोकपञ्चकेन। हे महाबाहो फलत्यागक्रियाकरणसमर्थ! सर्वकर्मणां सिद्धये फलाशये सांख्ये त्यागात्यागनिर्णायके कृतान्ते कृतस्य कर्मणोऽन्तः समाप्तिर्यत्र स कृतान्तो वेदान्तस्तस्मिन् प्रोक्तानि एतान्यग्रे प्रोच्यमानानि पञ्चकारणानि मे मत्तो निबोध जानीहि ॥१३॥

संग फल के त्यागने पर भी कर्म करने का फल तो मिलेगा ही जैसे भोजन कर्म करने से तृप्ति तो होगी ही, मादक द्रव्य से उन्माद फल होगा ही अतः कर्म का फल तो मिलेगा ही, तब कहा है (५ श्लोकों से) हे फल त्यागने की क्रिया करने में समर्थ! समस्त कर्मों की सिद्धि के लिये त्याग-अत्याग के निर्णायक शास्त्र सांख्य में कृतान्त कृत कर्म का अन्तः समाप्ति जिसमें है ऐसे वेदान्त शास्त्र में कहे हैं अब ये ५ कारण जो कहे जाते हैं समझो ॥१३॥

अधिष्ठानं तथा कर्त्ता करणं च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥१४॥

एवं प्रतिज्ञाय तान्येवाह ॥ अधिष्ठानमिति ॥ अधिष्ठानं लिङ्गशरीरं कर्ता कर्तृत्वाऽऽत्मकाभिमानरूपोऽहंकारः, करणं चेन्द्रियाणि पृथग्विधम् अनेकप्रकारकम्। चकारेण स्वाधिदैविकसहितम्। विविधाः कार्यकारण-फलादिभिरनेकप्रकारकाः पृथग्भूताः भिन्नरूपेण जाताः प्राणादीनां चेष्टाः व्यापाराः अत्र। एतन्मध्य एव सर्वप्रेरकोन्तर्यामी दैवं पञ्चमं मुख्यं कारण-मित्यर्थः। एवकारेण तदविरोधेनान्येषां कारणत्वमुक्तम् ॥१४॥

उन कारणों को बतलाते हैं—लिङ्गशरीर, कर्तृत्व अभिमानरूप अहंकार १० इन्द्रियाँ, चकार से अधिदेव सहित। कार्य-कारण फलादि से अनेक प्रकार के हैं इनसे प्राणादि के चेष्टारूप व्यापार भी कहे गये हैं इनके मध्य सबका प्रेरक अन्तर्यामी दैव पाँचवा मुख्य कारण है। एवकार से उसके बिना विरोध के अन्यों को कारण को कहा जाता है ॥१४॥

शरीरवाङ्मनोभिर्यत् कर्म प्रारभते नरः ।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः ॥१५॥

पञ्चानामेव सर्वकर्महेतुत्वमाह ॥ शरीरेति ॥ कर्म त्रिविधं शारीरं, वाचनिकं, मानसिकम्। अतः शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म नरो मनुष्यः प्रारभते न्याय्यं वा मदाज्ञया मदिच्छारूपं, विपरीतं स्वफलभोगार्थरूपं विपरीत-मन्याय्यं वा प्रारभते तस्यैते पूर्वोक्ता पञ्चहेतवः कारणरूपा इत्यर्थः। विकल्प-वाचकवाशब्दद्वयेन मदिच्छाज्ञानाभावे न्याय्यस्य वेदोक्तत्वेनावश्यप्राप्तस्यापि विपरीतत्वं, तज्ज्ञाने विपरीतस्यापि न्याय्यत्वमितिज्ञापितम् ॥१५॥

पाँचों का सर्व कर्म हेतुत्व कहते हैं—कर्म तीन प्रकार का है शारीर, वाचनिक, मानसिक। जो मानव शरीर-वाणी-मन से जो कर्म प्रारम्भ करता है मेरी इच्छा से आज्ञा से करता है—अथवा जो विपरीत फल भोग के लिये प्रारम्भ करता है उसी के लिये ५ कारण हैं। विकल्प के वाचक दो बार 'वा' शब्द के प्रयोग से यह समझना

चाहिये कि मेरी इच्छा ज्ञान के अभाव से जो न्याय्य है वेदोक्त कर्म द्वारा अवश्य प्राप्त है विपरीत है, ज्ञान होने पर विपरीत भी न्याय्य है ॥१५॥

तत्रैवं सति कर्त्तारमात्मानं केवलं तु यः ।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥१६॥

किमतो यद्येवमत आह ॥ तत्रेति ॥ तत्र सर्वकर्मसु पञ्चहेतवो मत्प्रेरिता इत्येवं सति स केवलम् एकम् आत्मानं जीवं, तुशब्देन अकर्तारं यः अकृतबुद्धित्वात् गुरूपदेशप्राप्तविवेकाभावात् दुर्मतिः दुर्बुद्धिः स्वमौढ्येन पश्यति स न पश्यति आत्मानं मां चेतिभावः । एवं यः कर्म करोति तस्य तत्फलतीतिभावः ॥१६॥

जो सम्पूर्ण कर्मों में पाँच हेतुओं को जो मेरे द्वारा प्रेरित हैं उनमें से केवल जीव को, अकर्त्ता रूप को देखता है वह दुर्बुद्धि है क्योंकि उसने गुरु से उपदेश ग्रहण नहीं किया है। वह मूढ आत्मा को और मुझको नहीं देखता। जो इस प्रकार कर्म करता है उसको वह फल मिलता है यह भाव है ॥१६॥

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वाऽपि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥१७॥

अथ गुरूपदेशकृतबुद्धेर्मदाज्ञयाऽवश्यकर्त्तव्यत्वेन मदिच्छया जायमानत्वेन चाहंकाररहितस्य कर्मफलाभावं कैमुतिकन्यायेन प्रदर्शयन्नाह ॥ यस्येति ॥ अहंकृतः=अहं कर्तेत्येतादृशो मिथ्याऽभिनिवेशरूपो भावो यस्य नास्ति । किंच यस्य बुद्धिर्मदिच्छया ज्ञातसुखदुःखफलेषु कृतकर्मजज्ञाने न लिप्यते, न सज्जते स इमाँल्लोकानासुरान् मदिच्छया हत्वापि लोकैर्हन्तृत्वेन परिदृश्यमानोऽपि न हन्ति किंतु मदिच्छयैव हन्ति अतएव तेन कर्मणा न निबध्यते बन्धनं न प्राप्नोतीत्यर्थः । यत्र विपरीतकर्मबन्धनाभावस्तत्र विहितकर्मणा मत्सेवादिप्रतिवन्धकफलाप्रतिबन्धे किं वाच्यमितिभावः ॥१७॥

गुरु के उपदेश द्वारा, मेरी आज्ञा से किये आवश्यक कर्मों से अहङ्कार शून्य को फल नहीं मिलता इसे कौमुतिक न्याय से बतलाते हैं—जिसे—'मैं करनेवाला हूँ' ऐसा मिथ्या अहङ्कार नहीं है और जिसकी बुद्धि मेरी इच्छा से ज्ञात सुख-दुःख फलों में किये

कर्म के ज्ञान में लिप्त नहीं है वह इन आसुर लोकों को मेरी इच्छा से नष्ट करके भी, लोक के द्वारा हन्ता रूप उसका होता है तब भी वह मारता नहीं वह मेरी इच्छा से ही मारता है अतः वह उस कर्म से बन्धन को प्राप्त नहीं करता। जहाँ विपरीत कर्म बन्धन का अभाव है वहाँ विहित कर्म से मेरी सेवा आदि के प्रतिबन्धक फल के अप्रतिबन्ध में तो कहना ही क्या है ॥१७॥

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥१८॥

किंच। कर्मप्रेरणमपि त्रिगुणात्मकं तत्फलं च त्रिगुणं त्रिगुणानामेव कर्तॄणां भवति, निर्गुणस्य च फलाननुसंधानेन मदाज्ञया करणात्तत्फलानधिकारित्वादपि बन्धो नास्तीत्याह ॥ ज्ञानमिति ॥ ज्ञानं फलस्वरूपावबोधपूर्वकाऽऽत्माधीनत्वेनाऽवबोधः, ज्ञेयं फलसाधकं कर्म, परिज्ञाता ज्ञानज्ञेययोः स्वरूपज्ञस्तदाश्रयभूतो जीवः। एवंज्ञानादित्रयमधिकृत्य कर्मचोदना कर्मप्रेरणा त्रिविधा। एवं करणं साधकं, कर्म तत्फलकक्रिया, कर्त्ता क्रियाप्रवृत्तिमान् इति=अमुना प्रकारेण कर्मसंग्रह कर्म संगृह्यतेऽस्मिन्निति कर्मसंग्रहः। करणादित्रयमपि कारकं, क्रियाश्रयात्मकः सोऽपि त्रिविधः। अनेन निर्गुणानधिकारित्वं निरूपितम् ॥१८॥

कर्म प्रेरण भी त्रिगुणात्मक है उसका फल भी त्रिगुण कर्त्ताओं को प्राप्त होता है। निर्गुण में फल का अनुसन्धान नहीं होता वह मेरी आज्ञा से किया जाता है उसमें फल का अधिकार नहीं है तब भी बन्धन नहीं है। ज्ञान कहते है फलस्वरूप के अवबोध पूर्वक आत्मा के आधीन होने से अवबोध होना, ज्ञेय अर्थात् फल साधक कर्म, परिज्ञाता=ज्ञान-ज्ञेय का स्वरूप जाननेवाला उनका आश्रयभूत जीव। इसी प्रकार ज्ञानादि तीन को अधिकार करके कर्म प्रेरणा तीन प्रकार की है। इसी प्रकार करण साधक, कर्म तत्फल क्रिया, क्रिया प्रवृतिमान कर्त्ता इस प्रकार से कर्म संग्रह है। करणादि तीन भी कारण हैं क्रिया आश्रयात्मक भी तीन प्रकार का है। इससे निर्गुण अनधिकारित्व भी निरूपित किया है ॥१८॥

ज्ञानं कर्म च कर्त्ता च त्रिधैव गुणभेदतः।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥१९॥

अथ ज्ञानादित्रयमपि त्रिगुणभेदेन प्रत्येकं त्रिविधमस्तीत्याह ।। ज्ञानमिति ।। ज्ञानं साधनं, कर्म क्रिया, कर्त्ता पुरुष एतत्त्रयमपि गुणभेदेन सात्त्विकादिभेदतस्त्रिधैव । गुणसंख्याने गुणाः कार्यभेदेन संख्यायन्ते गण्यन्ते वा अस्मिन्निति सांख्यशास्त्रे प्रोच्यते तान्यपि तत्रोक्तानि यथावत् मदुक्तानि शृणु । सांख्यप्रोक्तानि तान्यपि शृण्वित्युक्त्या सप्तदशाऽध्याये स्वोक्तत्रैविध्यस्य निर्गुणाधिकारसंपादकानि कर्माणि भवन्ति नत्वेतानीति स्वरूपवैजात्यज्ञानार्थं श्रोतव्यानीतिज्ञापितम् ।।१९।।

ज्ञानादि तीन भी तीन गुणों के भेद के कारण तीन प्रकार के हैं । साधन-क्रिया-पुरुष ये तीनों सात्विकादि भेद से तीन प्रकार के हैं । कार्य के भेद से गुणों की जहां गणना की जाती है वह शास्त्र सांख्य कहलाता है उस शास्त्र में भी यह बात मैंने कही है उसे सुनो । सांख्य शास्त्र में भी कहे गये हैं उन्हें भी सुनो । सत्रहवें अध्याय में प्रोक्त त्रैविध्यक निर्गुण अधिकार सम्पादक कर्म होते हैं । केवल यही नहीं । स्वरूप भेद ज्ञान के लिये इन्हें सुनना चाहिये ।।१९।।

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ।।२०।।

एवं कथनं प्रतिज्ञाय पूर्वं ज्ञानत्रैविध्यमाह । तत्र प्रथमं सात्त्विकत्वं ज्ञानस्याह ।। सर्वभूतेष्विति ।। येन ज्ञानेन सर्वेषु ब्रह्मादिस्थावरान्तेषु विभक्तेषु वैचित्र्यार्थं नानारूपैः परस्परं भिन्नेषु अविभक्तम् अनुस्यूतम् एकं भावं भगवत्क्रीडारूपम् अतएव अव्ययं निर्विकारम् ईक्षते आलोचनाऽऽत्मकतया पश्यति तज्ज्ञानं सात्त्विकं विद्धि ।।२०।।

ज्ञान की त्रिविधता कहते हैं—जिस ज्ञान से ब्रह्मा से स्थावर पर्यन्त विभक्त नाना रूपों में विभिन्नों में भी एक अविभक्त भगवत्क्रीडारूप भाव है अतः वह विकार-रहित है वह आलोचनात्मक रूप से देखा गया ज्ञान सात्त्विक है ।।२०।।

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान् पृथग्विधान् ।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ।।२१।।

राजसमाह ।। पृथक्त्वेनेति ।। ज्ञानस्य सात्त्विकात्मकत्वाद्वक्ष्यमाणज्ञानस्य शब्दमात्रसाम्यज्ञापनाय तुशब्दः। पृथक्त्वेन क्रीडामयैकराहित्येन तु नानाभावान् अनेकान् जीवान् पृथग्विधान् नानाभिलाषरूपान् सुखिदुःखीत्यादिपशुपक्षिमनुजतृणस्तंबादीन् सर्वेषु भूतेषु येन पश्यति तज्ज्ञानं राजसं विक्षिप्तमानसात्मकं विद्धि ।।२१।।

ज्ञान सात्त्विकात्मक है तथा कहे जानेवाले ज्ञान का शब्द मात्र साम्य है इसे बतलाने के लिये तु शब्द है। क्रीडामय एक रहितत्व के अभाव से नाना प्रकार के जीवों को नाना अभिलाषाओं के रूप में सुखी-दुःखी आदि पशु-पक्षि मनुज तृण-स्थाणु आदि सम्पूर्ण भूतों में देखता है वह राजस ज्ञान है। इसमें मन विक्षिप्त रहता है ।।२१।।

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन् कार्येऽसक्तमहैतुकम् ।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ।।२२।।

मानसं ज्ञानमाह ।। यत्त्विति ।। यत् एकस्मिन् कार्ये भक्ते लीलास्वरूपे वा कृत्स्नवत् पूर्णवत् नतु सर्वलीलासामग्र्यादिविशिष्टाविर्भूतभगवदनुभवानन्दभगवद्रूपत्वेन सक्तम्, अहैतुकभगवदाकारत्वेन तत्स्मारकानन्दानुभावोपपत्तिरहितम्, अतत्त्वार्थवत् भगवदाविर्भावियुक्तम् अल्पं परिच्छिन्नं स्वरूपतः फलतश्च तज्ज्ञानं तामसं निष्फलं विपरीतफलं वा उदाहृतम् ।।२२।।

जो एक कार्य में या लीलास्वरूप में मक्त होकर भी पूर्ण के समान हो किन्तु भगवान् की लीला सामग्री आदि से विशिष्ट आविर्भूत भगवत् आनन्दानुभवरूप भगवद्रूप से सक्त न हो अतः कहा है असक्तम्, भगवान् के आकार होने से उनके स्मारक आनन्दानुभव उपपत्तिरहित अहैतुक जो हो, तथा भगवान् के आविर्माव से वियुक्त 'अतत्त्वार्थवत्' हो स्वरूप से या फल से परिच्छिन्न हो वह ज्ञान विपरीत फलवाला तामस कहा गया है ।।२२।।

नियतं संगरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ।।२३।।

एवं ज्ञानस्वरूपमुक्त्वा त्रिविधकर्मरूपमाह ।। नियतमिति ।। नियतं नित्यं, संगरहितम् अज्ञानासक्तिरहितम्, अरागद्वेषतः कृतं संसारानुरागेण

शत्रुमारणाद्यर्थं द्वेषेण रहितम्, अफलप्रेप्सुना फलानभिलाषेण भगवत्तोष-हेतुत्वेन कृतं कर्म तत् सात्त्विकम् उच्यते ॥२३॥

इस प्रकार ज्ञान के स्वरूप को बतलाकर त्रिविध कर्मरूप का प्रतिपादन करते हैं। नित्य, अज्ञान की आसक्ति से रहित, अराग द्वेष से किया संसार अनुराग से शत्रु के मारण के लिये द्वेष रहित-फल की अभिलाषा छोड़कर भगवान् के तोष के हेतु किया कर्म सात्त्विक है ॥२३॥

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः।
क्रियते बहुलाऽऽयासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥२४॥

राजसं कर्माह ॥ यत्त्विति ॥ यत् पुनः कर्म कामेप्सुना फलप्राप्त्यभिलाषेण वा, फलाभिलाषरहितेन साहंकारेण लोकेषु स्वमहत्त्वख्यापनाय पुनः बहुलाऽऽयासम् अतिक्लेशयुक्तं शारीरोपद्रवसहितं क्रियते तत् कर्म राज-समुदाहृतम् ॥२४॥

जो कर्म फल की प्राप्ति की अभिलाषा से फलाभिलाष रहित अहङ्कार से लोकों में अपनी प्रतिष्ठा द्योतित कराने के लिये अति क्लेशयुक्त=शरीर के उपद्रव के साथ किया जाता है, वह राजस है ॥२४॥

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनपेक्ष्य च पौरुषम्।
मोहादारभ्यते कर्म तत्तामसमुदाहृतम् ॥२५॥

तामसं कर्माह ॥ अनुबन्धमिति ॥ अनुबन्धम् अनु=कर्मकरणानन्तरं बन्धस्तज्जनितशुभाशुभफलरूपत्वं, क्षयं व्यर्थदेहात्मकमोक्षसाधनव्ययं, हिंसाम् आत्मनः संसारपातनरूपां, पौरुषं पुरुषार्थमोक्षं चकारेण धर्ममपि अनवेक्ष्य अपर्यालोच्य मोहात् स्वसुखभोगभ्रमात् कर्म तामसं विपरीतफलात्मक-मुदाहृतम् ॥२५॥

अनु अर्थात् कर्म करने के पश्चात् बन्ध अर्थात् कर्म से उत्पन्न शुभाशुभ फलरूप, अनुबन्ध तथा व्यर्थ देहात्मक मोक्ष साधन व्ययरूप क्षय आत्मा के संसार पातन रूप हिंसा, पुरुषार्थ मोक्ष, चकार से धर्म भी बिना विचार किये जो किया जाय वह मोह

से स्वसुख भोग के भ्रम से जो कर्म किया जाय विपरीत फलवाला तामस कर्म कहलाता है ॥२५॥

मुक्तसंगोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः ।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते ॥२६॥

कर्म निरूप्य कर्तारं त्रिविधमाह ॥ मुक्तसंगः त्यक्तासक्तिः, अनहंवादी साभिमानोक्तिशून्यः, धृत्युत्साहसमन्वितः धृतिर्धैर्यं दुःखादिसहनरूपम् उत्साहः उत्तमत्वज्ञानेनोद्यमस्ताभ्यां समन्वितो युक्तः, सिद्ध्यसिद्ध्योः कृतकर्मफलाफलयोर्निर्विकारः हर्षविषादरहितः । एतादृशः कर्ता सात्त्विक उच्यते ॥२६॥

कर्म का निरूपण करके कर्ता की त्रिविधता कहते हैं, आसक्ति त्यागकर अभिमान त्यागकर, धैर्य, उत्साह से किये कर्म को फलाफल में विकार रहित रहना हर्ष विषाद रहित रहना कर्त्ता की सात्विकता का द्योतन कराता है ॥२६॥

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसाऽऽत्मकोऽशुचिः ।
हर्षशोकान्वितः कर्त्ता राजसः परिकीर्तितः ॥२७॥

राजसमाह ॥ रागीति ॥ रागी स्वसंबन्धित्वज्ञानभ्रमेण तदर्थप्रयत्नेन लौकिकाऽऽसक्तः, कर्मफलप्रेप्सुः कर्मफलाभिलाषप्रवृत्तिमान्, लुब्धः बहुफलाऽल्पकर्म श्रुतप्रामाण्यविधृतसर्वाभिलाषप्रवृत्तः, हिंसात्मकः परपीडनस्वभावः, अशुचिः स्नानाऽऽचमनादिशौचविहीनः, हर्षशोकान्वितः फलसिद्धौ हर्षः, असिद्धौ शोकस्ताभ्यामन्वित एतादृशः कर्त्ता राजसः विक्षिप्तस्वभावः परिकीर्तितः ॥२७॥

रागी अर्थात् अपने सम्बन्ध के ज्ञान के भ्रम से तदर्थ प्रयत्न से लौकिकासक्त, कर्म फल की अभिलाषा में प्रवृत्त, बहुत फल, देनेवाली अल्प कर्मशाली अभिलाषाओं में प्रवृत्ति रखनेवाला, परपीडन स्वभाववाला स्नान-आचमन आदि शौच से रहित, फल की सिद्धि में हर्ष, फल की असिद्धि में शोक इनसे युक्त कर्त्ता राजस अर्थात् चल चित्तवाला कहा गया है ॥२७॥

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैकृतिकोऽलसः ।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्त्ता तामस उच्यते ॥२८॥

तामसमाह ।। अयुक्त इति ।। अयुक्तः पूर्वापरानुसंधानरहितः, प्राकृतः प्रकृतिजन्यसद्भावरहितः, स्तब्धः अनम्रः, शठो धूर्तः, नैकृतिकः सर्वावमानी वा, अलसः अनुद्यमी, विषादी अकार्यशोचनस्वभावः, दीर्घसूत्री क्षणसाध्यकार्यस्य माससंपादनशील एतादृशः कर्त्ता तामस उच्यते ।।२८।।

पूर्वापर अनुसन्धान रहित, स्वाभाविक सद्भावशून्य, अनम्र, धूर्त सर्वावमानी अनुद्यमी, अकार्य को सोचनेवाला, क्षण भर में होनेवाले कार्य को मास में करनेवाला कर्त्ता तामस कहा गया है ।।२८।।

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु ।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनञ्जय ।।२९।।

ज्ञानं ज्ञेयमित्यत्र ज्ञेयपरिज्ञात्रोश्चोल्लेखः कृतः सोऽत्र कर्तृत्रैविध्ये परिज्ञातुः प्रवेशः कर्मत्रैविध्ये च ज्ञेयस्य। करणस्य निरूपणार्थं बुद्धेर्धृतेश्च त्रैविध्ये प्रतिजानीते ।। बुद्धेरिति ।। बुद्धेरिन्द्रियात्मिकाया धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं भेदं पृथक्त्वेन भिन्नत्वेन, मयेतिशेषः प्रोच्यमानम् अशेषेण हे धनञ्जय सर्वत्रोत्कर्षयुक्त ! शृणु ।।२९।।

१८।१८ में ज्ञेय का ज्ञाता का उल्लेख किया गया है। कर्त्ता के त्रैविध्य में परिज्ञाता का प्रवेश और कर्म त्रैविध्य में ज्ञेय का प्रवेश है। करण के निरूपण के लिये बुद्धि की तथा धृति की त्रिविधता कहते हैं—इन्द्रियात्मिका बुद्धि की धृति की त्रिविधता हे धनञ्जय=हे सर्वोत्कर्षयुक्त, सुनो ।।२९।।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये ।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ।।३०।।

एवं सावधानं कृत्वा बुद्धित्रैविध्यमाह ।। प्रवृत्तिमिति ।। त्रयेण। प्रवृत्तिं भगवदिङ्गितधर्मे, निवृत्तिं तदभावरूपे अधर्मे। कार्याकार्ये सत्परिपंथ्यभावे देशे भजनं कार्यम् अतथाभूते वा भजनातिरिक्तं सर्वमेवाकार्यम्। तथा भगवत्संबन्धरहितसम्बन्धे भयं भगवद्विस्मरणात्मकमृत्युरूपं, तत्संबन्धिन्यभयं भयाभावं, बन्धं भगवत्सेवाज्ञाभावकर्मणि, मोक्षं सेवादिकर्मणि इति या

बुद्धिर्वेत्ति जानाति, हे पार्थ तथाज्ञानयोग्य ! सा बुद्धिः सात्त्विकी सत्त्व-संबन्धिनी ज्ञातव्येतिशेषः ॥३०॥

बुद्धि के तीन भेद—प्रवृत्ति में अर्थात् भगवदिङ्गित धर्म में तदभावरूप अधर्म वाली निवृत्ति में, कार्याकार्य में—अर्थात् सत् के अभावयुक्त देश में भजन करना चाहिये और वैसा न होने पर भजन के अतिरिक्त कुछ भी नहीं करना चाहिये, भगवत् सम्बन्धरहित सम्बन्ध में भगवद्विस्मरणात्मक मृत्युरूप भय तत्सम्बन्धि भयाभाव, बन्ध अर्थात् भगवत्सेवाङ्ग अभाव कर्म में, मोक्ष अर्थात् सेवादि कर्म में जो बुद्धि होती है वह हे पार्थ=तथा ज्ञान योग्य ! सत्त्वसम्बन्धिनी जाननी चाहिये ॥३०॥

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाऽकार्यमेव च ।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥३१॥

राजसीमाह ॥ ययेति ॥ यया बुद्ध्या धर्मं भगवदिच्छारूपम्, अधर्मम् अनिच्छात्मकं भगवद्भजनम्, अकार्यं तदतिरिक्तं कर्म, अयथावत् संदिग्धम् अन्यथा वा प्रजानाति, हे पार्थ सा बुद्धिः राजसी ॥३१॥

जिस बुद्धि से भगवदिच्छारूप धर्म, अनिच्छात्मक अधर्म, भगवद्भजन रूप कार्य तदतिरिक्त कर्म अकार्य, सन्दिग्ध को जो अन्यथा जानता है, हे पार्थ ! वह बुद्धि राजसी है ॥३१॥

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता ।
सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥३२॥

तामसीमाह ॥ अधर्ममिति ॥ या तमसा अज्ञानेनाऽऽवृता सती अधर्मं भगवदिच्छाऽननुरूपम् अकर्तव्यं धर्मं फलदातृ कर्तव्यम् इति मन्यते, च पुनः सर्वार्थान् अकार्यकार्याऽभयभयादीन् विपरीतान् मन्यते, हे पार्थ ! सा बुद्धिस्तामसी मन्तव्येत्यर्थः ॥३२॥

जो अज्ञान से आवृत होकर भगवदिच्छा के विपरीत अकर्त्तव्य रूप अधर्म को फल देनेवाला कर्त्तव्यरूप धर्म मानते हैं सम्पूर्ण अर्थों को अकार्य, कार्य अभय आदि को विपरीत मानते हैं, हे पार्थ ! वह बुद्धि तामसी जाननी चाहिये ॥३२॥

धृत्या यया धारयते मनः प्राणेन्द्रियक्रियाः ।
योगेनाऽव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ।।३३।।

अथ धृतेस्त्रैविध्यमाह ।। धृत्येति ।। यया अव्यभिचारिण्या विषयान्तराऽभिलाषरहितया धृत्या, योगेन सर्वतो मनः संगनिवृत्तिपूर्वकभगवदेकपरचित्तेन मनः प्राणेन्द्रियक्रियाः मनसश्चाञ्चल्यरूपाः, प्राणस्य क्षुदुद्बोधरूपाः, इन्द्रियाणां विषयाभिलाषरूपाः, क्रियाः धारयते नियच्छति, हे पार्थ सा धृतिः सात्त्विकी उच्यत इत्यर्थः ।।३३।।

धृति के तीन भेद :—जिस विषयान्तर अभिलाषा से रहित धृति से सबसे मन संग की निवृत्ति कर भगवदेक चित्त से मन-प्राण-इन्द्रिय क्रिया अर्थात् मन की चाञ्चल्य रूपा धृति, प्राण की क्षुद् उद्बोध रूपा धृति, इन्द्रियों की विषयाभिलाषा रूपा क्रिया धारण की जाती है, हे पार्थ ! वह धृति सात्त्विकी है ।।३३।।

यया तु धर्मकामार्थान् धृत्या धारयतेऽर्जुन ।
प्रसंगेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ।।३४।।

राजसीमाह ।। ययेति ।। तु पुनः, हे अर्जुन नाम्नैव मुक्त्यधिकारिन् ! यया धृत्या फलाकाङ्क्षी फलाभिलाषयुक्तः सन् प्रसंगेन फलप्रसंगेन नतु मद्भजनौपयिकत्वेन धर्मार्थकामान् धारयते पोषयति तद्बुद्धयुक्तसाधनैः, हे पार्थ सा धृतिः राजसी रजः संबन्धिस्वभोगादिरूपफला उच्यत इत्यर्थः ।।३४

हे नाम से ही मुक्ति के अधिकारी ! जिस धृति से फल की अभिलाषायुक्त होकर फल के प्रसंग से (भजन के उपयोगित्व से नहीं) धर्म अर्थ काम को धारण करता है पोषण करता है, हे पार्थ ! वह धृति रजःसम्बन्धि स्वभोगादि रूप फलवाली कही जाती है ।।३४।।

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च ।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी ।।३५।।

तामसीमाह ।। ययेति ।। दुर्मेधाः दुर्बुद्धिः यया आग्रहरूपया स्वप्नं निद्रां मोहरूपां, भयं भगवदिच्छाऽज्ञानेन शत्रुचौरादिभ्यो मृत्युतो वा, शोकं

भगवत्कृतार्थस्यासमीचीनज्ञानेन चिन्तनं, विषादं सखेदं, मदं स्वाज्ञानरूपम् एवकारेण मांसादिभक्षणं च न विमुञ्चति विशेषेण सदोषत्वज्ञानाभावेनापिकरणम् एवं या न त्यजति हे पार्थ ! सा धृतिस्तामसी निष्फलेत्यर्थः ।.३५।।

दुर्मेधा जिस आग्रहरूपा बुद्धि से स्वप्न अर्थात् मोहरूपा निद्रा, भगवान् की इच्छा के ज्ञान से शत्रु चोरादि से अथवा मृत्यु से होनेवाला भय, भगवत् कृत अर्थ के असमीचीन ज्ञान से चिन्तन रूप शोक, खेद, स्वाज्ञान रूप मद एवकार से मांसादि भक्षण नहीं छोड़ता, विशेषतः सदोषत्व ज्ञान के अभाव में भी करने को जो न त्यागे हे पार्थ वह धृति तामसी निष्फला है ।।३५।।

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ।।३६।।
यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ।।३७।।

एवं धृतित्रैविध्यमुक्त्वा तस्याः सुखफलात्मकत्वात् सुखत्रैविध्यकथनं प्रतिजानीते ।। सुखमिति ।। इदानीं धृतिज्ञानानन्तरं सुखं पुनस्त्रिविधं, हे भरतर्षभ ! सुखश्रवणयोग्य मे मत्तः शृणु । एवं प्रतिज्ञाय तत्त्रैविध्यमाह । अभ्यासादिति । अभ्यासात् निरन्तरानुशीलनाद् यत्र यस्मिन् रमते आनन्दानुभवं प्राप्नोति नत्वाऽऽपातन्तो विषयसुख इव क्षणमात्रानुभवमाप्नोति, च पुनः यदनुशीलने दुःखान्तं संसारान्तं नितरां गच्छति ।।३६।।

किंच । यत्तत् वक्तुमशक्यमनुभवैकवेद्यम् अग्रे प्रथमं विषमिव लौकिकसुखपरित्यागे जीवितहरणवत् कटुतया पारिभाति परिणामे फलपरिपाकदशायाम् अमृतोपमम् आतंमधुरे मादतुल्य वा; अतिमबुद्धिप्रसादजम् आत्मसंबन्धिनी मदंशसंबन्धिनी या बुद्धिस्तत्प्रसादो नाम रजस्तमोजविकारराहित्येन शुद्धत्वं तज्ज तत्सुखं सात्त्विकं सत्त्वसंबन्धजं प्रोक्तं तज्ज्ञैरितिशेषः ।।३७।।

इस प्रकार धृति का त्रैविध्य बतलाकर उसका सुख फलात्मक होने से सुख त्रैविध्य कथन कहते हैं । सात्त्विक सुख कहते हैं—जिस सात्त्विकत्व से अभिमत समाधि

सुख में अभ्यास से अति परिचय से तृप्त होता है विषय सुख की भाँति शीघ्र ही नहीं। जिसमें रमण करता हुआ दुःख का अन्त करता है वैसे विषय सुख के अन्त में दुःख होता है। ज्ञान वैराग्य ध्यान समाधि के आरम्भ में विष की भांति अत्यन्त आयास साध्यत्व होने से दुःखावह की भाँति होता है। परिणाम में ज्ञान-वैराग्य आदि परिपाक में अमृतोपम है उसमें हेतु है—आत्मविषया बुद्धि आत्म बुद्धि उसका प्रसाद निद्रा आलस्य आदि से रहित स्वच्छतापूर्वक रहना उससे उत्पन्न ऐसा जो समाधियुक्त वह योगियों ने सात्त्विक कहा है ॥३६-३७॥

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥३८॥

राजसमाह ॥ विषयेन्द्रियेति ॥ विषयाणाम् इन्द्रियाणां च संयोगात् तत् प्रसिद्धं स्रग्गन्धवस्त्राऽऽभरणस्त्रीसंगादिरूपं भगवत्संबन्धरहितसुखम् अग्रे प्रथमम् आपाततः अमृतोपमम् अतिमिष्टतमं परिणामे फलदशायां विषमिव भगवद्विस्मृतिकारकत्वेन जीवहरणैकस्वभावं तत्सुखं राजसं स्मृतं प्रसिद्धमित्यर्थः ॥३८॥

इन्द्रियों के संयोग से प्रसिद्ध माला-गन्ध-वस्त्र-आभरण स्त्रीसंगादिरूप भगवत्सम्बन्धरहित सुख आपाततः अमृतोपम है। परिणाम में फल दशा में विष की भाँति भगवान् की विस्मृति कारक होने से जीव हरण स्वभाववाला जो सुख है वह राजस है ॥३८॥

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः ।
निद्राऽऽलस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥३९॥

तामसमाह ॥ यदग्र इति ॥ यत् अग्रे प्रथमं च पुनः अनुबन्धे पश्चात् परिणामदशायां च निद्राऽऽलस्यप्रमादोत्थं निद्रा इन्द्रियापटुत्वेन सुखदुःखाभावात्मकानन्ददशात्मिका, आलस्यं क्रियाऽकरणेन शैथिल्येन स्थितिः, सुखाभिमानः प्रमादः कर्त्तव्यपूजाध्ययनकर्मानवधाने तूष्णींस्थितिरूपाज्ञानस्यानन्दभ्रमः। एतेभ्य उपस्थितम् आत्मनो जीवस्य मोहनं मोहकारकं भगवद्विस्मरणकारकं सुखं तामसं निष्फलं समुदाहृतं ज्ञानिभिरितिशेषः ॥३९॥

प्रथम अनुबन्ध में पश्चात् परिणाम दशा में इन्द्रियों के प्रमाद से सुख-दुःख अभावात्मक आनन्ददशात्मिका निद्रा, क्रिया करने में शिथिलता रूप आलस्य, सुखाभिमान रूप प्रमाद, कर्त्तव्य, पूजा अध्ययन कर्म के मध्य सावधान न रहने पर चुप रहना रूप अज्ञानरूप आनन्दभ्रम इनसे मिला हुआ जीव को मोहकारक भगवद्विस्मरण कारक सुख तामस निष्फल कहा गया है। यह ज्ञानियों का मत है ॥३९॥

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥४०॥

एवं यज्ञादीनां सर्वेषां त्रिविधरूपमुक्त्वाप्यथ स्वसंबन्धातिरिक्तस्य त्रिगुणात्मकतां सर्वस्याह ॥ न तदस्तीति ॥ एभिः प्रकृतिजैः प्रकृत्युद्भवैस्त्रिभिः सात्त्विकादिभिर्गुणैर्मुक्तं रहितं सत्त्वं प्राणिजातं यत्स्थावरादिकमन्यद्वा पृथिव्यां मनुष्येषु, वाशब्देन नागादिलोकेषु च दिवि देवलोके वा पुनः देवेषु स्यात् तत् नास्तीत्यर्थः। सात्विकादिष्वपि त्रैविध्यमस्तीति वापुनरित्यनेन केवलसात्त्विकत्वाद्देवेष्वसंभावितत्वादस्त्येवेतिनिर्धारितम् ॥४०॥

इस प्रकार यज्ञादिकों का त्रैविध्य बतलाकर स्वसम्बन्धातिरिक्त त्रिगुणात्मकता को बतलाते हैं। इन प्रकृति से उत्पन्न तीन सात्त्विकादि गुणों से रहित चराचर जगत् में या नागादि लोकों में या देवलोक में कुछ भी नहीं है। सात्विकादि में भी त्रैविध्य है। केवल सात्त्विक होने से देवों में न होने से त्रैविध्य है ही ॥४०॥

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप ।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥४१॥

नन्वेवं चेत्सर्वं त्रिगुणात्मकमेव तदा गुणात्मकस्य जीवस्य त्रिगुणात्मकबन्धकक्रियादिकरणात्कथं मोक्ष इत्याशङ्क्य शास्त्रद्वारा जीवोद्धारं कर्तुं शास्त्रस्वरूपज्ञानार्थं प्रसंगादर्जुनाय गीतामाहात्म्यतः पूर्वोक्तमुपसंहरन् मोक्षप्रकरणमारभते ॥ ब्राह्मणेत्यादि ॥ यावदध्यायसमाप्ति। हे परन्तप ! परम् उत्कृष्टं तपो यस्येत्यनेन श्रवणयोग्यतोक्ता। ब्राह्मणक्षत्रियविशां त्रैवर्णिकानां च पुनः शूद्राणां, वेदानधिकृतत्वाच्छूद्राणां भिन्नतया कथनम् स्वभावः स्वस्य

मम यो भावः सात्विकादिभेदेने विचित्रदर्शनेच्छा तेन प्रभव उत्पत्तिर्येषां तैरेतादृशैर्गुणैः कर्माणि प्रविभक्तानि प्रकर्षेण विभागतः सात्विकादेर्विहितानीत्यर्थः ॥४१॥

यदि सब कुछ त्रिगुणात्मक है तो जीव गुणात्मक है त्रिगुणात्मक बन्ध क्रिया करने से फिर उसकी मोक्ष कैसे होगी ? इस आशंका से शास्त्र द्वारा जीवों के उद्धार करने के लिये शास्त्र स्वरूप ज्ञान के लिये प्रसंग से अर्जुन के लिये गीता माहात्म्य से पूर्वोक्त चर्चा का उपसंहार करते हुए मोक्ष प्रकरण का प्रारम्भ करते है यह अध्याय की समाप्ति तक है। हे परन्तप ! अर्थात् उत्कृष्ट तपवाला इससे श्रवण योग्यता कही गई है। ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य तीनों वर्णों को वेदाध्ययन का अधिकार है शूद्र को नहीं है. अतः शूद्र का उल्लेख पृथक् किया है। स्वभाव का अर्थ है अपना भाव। सात्विकादि भेद से विचित्र दर्शन इच्छा से उससे उत्पत्ति जिनकी है ऐसे सात्विकादि गुणों से कर्मों को विभागपूर्वक सात्विकादि का निरूपण है ॥४१॥

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥४२॥

तत्र प्रथमं ब्राह्मणस्य स्वाभाविकानि कर्माण्याह ॥ शमः इति ॥ शमः शान्तिः मत्परैकचित्तत्वं, दमः इन्द्रियोपसंयमः, तपः शरीरक्लेशः, शौचं वाह्याभ्यन्तरभेदेन द्विविधं शान्तिः क्षमा, आर्जवं सरलता। एवकारेण कुटिलेष्वपि चेत्यर्थः। ज्ञानं शास्त्रीयं विज्ञानम् अनुभवः, आस्तिक्यं प्रमाणोक्तफलोत्कर्षे अस्तीति निश्चयबुद्धिः। एवमेतत्सर्वं ब्राह्मणस्य स्वभावजं स्वभावाज्जातं कर्म ॥४२॥

प्रथम ब्राह्मण का स्वभाविक कर्म वतलाते हैं। शम (मुझ में चित्त लगाना) दम (इन्द्रिय संयम) तप (शरीर क्लेश) शौच (वाह्य-आभ्यन्तर भेद से) क्षान्ति (क्षमा) आर्जव (सरलता) एवकार से कुटिलों में भी, शास्त्रीय ज्ञान, अनुभवरूप विज्ञान आस्तिक्य (प्रमाणोक्त फलोत्कर्ष में) 'अस्ति' ऐसी निश्चय बुद्धिवाला यह ब्राह्मण का स्वभावज कर्म है ॥४२॥

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥४३॥

क्षत्रियस्याह ।। शौर्यमिति ।। शौर्यं पराक्रमः, तेजः प्रगल्भता, धृतिर्धैर्यं, दाक्ष्यं सर्वकर्मकौशलं, युद्धे चापि अपलायनम् अपराङ्मुखता । अपिशब्देन सर्वत्राऽपलायनत्वं चकारेण द्यूतादपीति दानं दानशीलता, च ईश्वरभावः नियमनैकस्वभावत्वम् एतत् क्षात्रं कर्म क्षत्रियस्य स्वभावजं स्वस्वभावाज्जातं कर्म ।।४३।।

क्षत्रिय का कर्म—पराक्रम, प्रगल्भता, धैर्य, सम्पूर्ण कर्मों में कुशलता, युद्ध में खड़े रहना, अपि शब्द से अन्यत्र स्थलों से भी न भागना, चकार से जूए से भी न भागना, दानशीलता, नियन्त्रण करना, यह क्षत्रिय का स्वभावज कर्म है ।।४३।।

कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।।
परिचर्याऽऽत्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ।।४४।।

वैश्यस्याह ।। कृषीति ।। कृषिः कर्षणं, गोरक्ष्यं पशुपालनं, वाणिज्यं क्रयविक्रयात्मकम् एतत् वैश्यस्य स्वभावाज्जातं कर्म । शूद्रस्याह । परिचर्यात्मकमिति । त्रैवर्णिकसेवनात्मकं शूद्रस्यापि स्वभावजं स्वभावाज्जातं कर्म यद्वा मत्परिचर्यात्मकं कर्म सर्वेषां पूर्वोक्तानां शूद्रस्यापीत्यर्थः ।।४४।।

वैश्य का कर्म—खेती करना, पशुपालन, क्रय-विक्रय करना, यह वैश्य का कर्म है, शूद्र का कर्म—तीनों वर्णों की सेवा करना अथवा मेरी परिचर्या करना सभी वर्णों का तथा शूद्र का भी कर्म है ।।४४।।

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ।।४५।।

यदर्थं कर्म निरूपितं तदाह ।। स्वे स्वे इति ।। स्वे स्वे स्वस्वविहिते कर्मणि अभिरतः प्रीतियुक्तो नरो मनुष्यः संसिद्धिं सम्यक् सिद्धिं मत्प्रसादात्मिकां लभते प्राप्नोति ननु प्रीतिमात्रेण कथं सिद्धिरित्यत आह । स्वकर्मेति । सार्द्धेन । स्वकर्मनिरतः स्वविहितकर्मनिष्ठो यथा येन प्रकारेण सिद्धिं विन्दति जानाति तं प्रकारं शृणु ।।४५।।

अपने अपने विहित कर्मों में प्रीतियुक्त लगा मनुष्य मेरी कृपा रूप सिद्धि को प्राप्त कर लेता है । प्रीतिमात्र से सिद्धि में शङ्का नहीं करनी चाहिये अतः कहा है स्वविहित कर्म में लगा जिस प्रकार से सिद्धि प्राप्त करता है सुनो—।।४५।।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ।।४६।।

तं प्रकारमेवाह ।। यत इति ।। यतो भगवतः भूतानां प्राणिनां प्रवृत्तिः उत्पत्तिर्भवति । सर्वकर्मसु वा यतः प्रवृत्तिः प्रकर्षेण वर्तनमनुसरणं भवति । येन कारणरूपेण इदं सर्वं विश्वं ततं व्याप्तं तं भगवन्तं स्वकर्मणा आत्मकर्मणा भक्त्या अभ्यर्च्य संपूज्य मानवः मनोर्जातो मनुष्यः सद्धर्मरूपः सिद्धि विन्दति लभत इत्यर्थः ।।४६।।

जिन भगवान् से समस्त प्राणियों की उत्पत्ति होती है अथवा समस्त कर्मों में जिनसे प्रेरणा मिलती है तथा जिनने कारण रूप से इस समस्त संसार को व्याप्त कर रखा है उन भगवान् को आत्म कर्म से भक्ति से पूजित करके मानव सद्धर्म रूप सिद्धि को प्राप्त करता है ।।४६।।

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम् ।।४७।।

स्वकर्मार्चने विशेषमाह ।। श्रेयानिति ।। स्वनुष्ठितात् सुष्ठु अनुष्ठितात् परधर्मात् कर्ममार्गीयात् विगुणोऽपि स्वधर्मः श्रेयान् श्रेष्ठ इत्यर्थः । ननु विगुणत्वात् कथं श्रेष्ठत्वमित्यत आह । स्वभावनियतं भगवद्भावनियमोक्तं कर्म कुर्वन् वैगुण्यजमन्यत्यागजं च किल्विशं न आप्नोति ।।४७।।

स्वकर्म करने में वैशिष्ट्य—अच्छी प्रकार अनुष्ठित किये गये परधर्म से कर्ममार्गीय से त्रिगुण भी स्वधर्म श्रेष्ठत्व कैसे है अतः कहा है—भगवद्भावनियमोक्त कर्म करता हुआ अन्य त्यागज किल्विष प्राप्त नहीं होता ।।४७।।

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ।।४८।।

यतो विगुणोऽपि भगवद्धर्मः श्रेष्ठः, अतो भगवत्कर्म न त्याज्यमित्याह ।। सहजमिति ।। हे कौन्तेय स्त्रीत्वदोषसाहित्येऽपि भक्तगुणानुगृहीत ! सहजं

स्वाभाविकं भगवत्क्रीडेच्छया सह जातं कर्म सदोषमपि लौकिकमपि पुरुषं स्वस्मिन् प्रवृत्तिं न त्यजेत्। अतः सर्वथा सिद्धिप्रापकं कुर्यादिवेत्यर्थः। कुतो न त्यजेदित्यत आह। सर्वेति। हि निश्चयेन सर्वारम्भाः धूमेन अग्निरिव दोषेण मत्संबन्धाभावरूपेण आवृताः अतस्तानि स्वदोषेणैव त्यागं कारयन्ति यथा धूमाऽऽवृतोऽग्निरार्द्रेन्धनं नाग्नितां संपादयति धूमाऽऽवृतत्वान्न सुखसेव्यो भवति, निर्धूमस्तु तद्विपरीतत्वात्तथात्वं करोत्येवं मत्कर्माऽपि निर्दोषत्वान्न त्यजेदितिभावः ॥४८॥

भगवद्धर्म त्रिगुण होने पर भी श्रेष्ठ है अतः उसे कभी त्यागना नहीं चाहिये हे कौन्तेय (स्त्रीत्व दोष सहित होने पर भी भक्त गुणानुगृहीत) स्वाभाविक भगवान् की क्रीड़ा इच्छा से सहजात कर्म दोष सहित होने पर भी त्याज्य नहीं है। अतः सर्वथा सिद्धि प्रापक कर है। उसे क्यों नहीं छोड़े इसका समाधान करते हुए कहा है—सम्पूर्ण आरम्भ धूयें से आवृत्त अग्नि के समान मेरे सम्बन्ध अभाव रूप से आवृत हैं अतः वे अपने दोष से ही त्याग कराते हैं। जिस प्रकार धूमावृत अग्नि गीले ईंधन से अग्नि प्रज्वलित नहीं होती, धूमावृत अग्नि सुख सेव्य नहीं होती परन्तु निर्धूम अग्नि सुख सेव्य होती है ऐसे ही मेरा कर्म भी निर्दोष होने से न त्यागे ॥४८॥

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥४९॥

यतो मत्कर्म सदोषमपि न त्यजेत् अन्यानि च स्वफलभोगं कारयित्वा त्यजन्ति ततः स्वयमेव तत्त्यागः कर्त्तव्यस्तेन च सिद्धिं प्राप्नुयादित्याह ॥ असक्तेति। सर्वत्र सर्वकर्मादिषु असक्तबुद्धिः असक्ता बुद्धिर्यस्य तादृशः, जितात्मा वशीकृतान्तःकरणः, विगतस्पृहः फलाभिलाषरहितः संन्यासेन परमाम् उत्कृष्टां नैष्कर्म्यसिद्धिं कर्मनिवृत्तिफलरूपां सिद्धिम् अधिगच्छति प्राप्नोतीत्यर्थः। आसक्त्याद्यभिलाषान्ताभावकथनेनैतद्युक्तस्त्यागेनाऽपि सिद्धिं न प्राप्नोति तत्कर्मनिष्ठयैव भवतीतिव्यञ्जितम् ॥४९॥

क्योंकि मेरा कर्म दोष सहित होने पर भी न त्यागे अन्य अपने फल भोग कराकर छोड़ देते हैं तब तो स्वतः ही त्याग कर देना चाहिये उसी से सिद्धि प्राप्त हो जायगी अतः कहा है—सब कर्मों में आसक्त नहीं होना चाहिये, अन्तःकरण वश में

होना चाहिये, फल की अभिलाषा नहीं करनी चाहिये ऐसे सन्यास से उत्कृष्ट नैष्कर्म्य सिद्धि (कर्म निवृत्ति फलरूपा को) प्राप्त करता है। आसक्ति से अभिलाषान्त अभाव कथन से इनसे युक्त त्याग से भी सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकता कर्म निष्ठा से ही सिद्धि प्राप्त होगी यह व्यञ्जित है ॥४६॥

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाऽऽप्नोति निबोध मे ।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥५०॥

अथ सिद्धिप्राप्तेः फलमाह ॥ सिद्धिमिति ॥ सिद्धि पूर्वोक्तां प्राप्तः सन् यथा येन प्रकारेण ब्रह्म प्राप्नोति तं प्रकारं मे मत्तः समासेनैव संक्षेपेणैव निबोध जानीहि। या प्राप्ति ज्ञानस्य परा उत्कृष्टा निष्ठा स्थितिरित्यर्थः ॥५०॥

सिद्धि प्राप्ति का फल बतलाते हैं—सिद्धि प्राप्त किया हुआ ब्रह्म को प्राप्त करता है उसे सुनो, जो प्राप्ति ज्ञान की परा निष्ठा है ॥५०॥

बुद्धया विशुद्धया युक्तो धृत्याऽऽत्मानं नियम्य च ।
शब्दादीन् विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥५१॥

तदेवाह ॥ बुद्धयेति ॥ विशुद्धया सर्वसंगरहितमदेकनिष्ठया बुद्धया युक्तो धृत्या मदिच्छाऽज्ञाने दुःखाद्याभासेऽपि मल्लीलाज्ञानात्मकधैर्येण आत्मानं जीवं नियम्य वशीकृत्य। चकारेणाऽचलं कृत्वा शब्दादीन् विषयान् इन्द्रियेभ्यस्त्यक्त्वा च पुनः रागद्वेषौ मित्रशत्रुज्ञानरूपौ व्युदस्य दूरीकृत्य ब्रह्मभूयाय कल्पत इति तृतीयश्लोकेनान्वयः ॥५१॥

सम्पूर्ण संग त्यागकर मेरी एक निष्ठावाली बुद्धि से युक्त होकर धृति अर्थात् मेरी इच्छा के न जानने से दुःखादि के आभास में मेरी लीला ज्ञानात्मक धैर्य से, जीव को वश में करके, चकार से जीव को अचल करके शब्दादि विषयों को इन्द्रियों से छुड़ाकर मित्ररूप राग तथा शत्रुरूप द्वेष को दूर करके ब्रह्म भाव को प्राप्त होता है (यह तृतीय श्लोक से अन्वय है) ॥५१॥

विविक्तसेवी लघ्धाशी[1] यतवाक्कायमानसः ।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥५२॥

---

१. लघ्वाशीति क्वचित्पाठः ।

किंच । विविक्तसेवी एकान्ते मत्सेवनपरः, लब्धाशी लब्धः प्राप्तो यो मत्प्रसादो लाभरूपस्तद्भोजनकृत् । यतवाक्कायमानसः । यतानि वशीकृतानि कायवाङ्मनांसि येन सः । तथाहि । वचनेन मन्नामकथाद्यतिरिक्तं न वदति, कायश्च मत्सेवातिरिक्तकार्ये नोपयाति मनोऽपि मदन्यन्न स्मरति । नित्यं ध्यानयोगपरः ध्यानेन यो योगो मत्संयोगस्तस्मिन् परस्तत्परः, वैराग्यं सर्ववस्तुदोषालोचनात्मकं समुपाश्रितः सम्यक् उपसमीपे आश्रितः । अनेन विकारसत्त्वेऽपि तद्राहित्यं निरूपितम् ॥५२॥

और एकान्त में मेरी सेवा में रत मेरे प्रसाद से प्राप्त को पानेवाला, वाणी-काया और मन को वश में करनेवाला (अर्थात् वचन से मेरी नाम कथा से अतिरिक्त न बोलना, मेरी सेवा से अतिरिक्त कार्य न करना, मन द्वारा भी मुझ से अन्य का स्मरण न करना), ध्यान से जो योग होता है अर्थात् मेरा संयोग होता है उसमें परायण रहनेवाला, सर्व वस्तु दोषालोचनात्मक वैराग्य का आश्रय लेनेवाला । इससे विकार होने पर भी तद्राहित्य बतलाया है ॥५२॥

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥५३॥

किंच । अहंकारमिति । स्वज्ञानादिरूपं बलं सामर्थ्यं, दर्पं गर्वं, कामं विषयभोगरूपं, क्रोधं निष्ठुरवाक्यरूपं, परिग्रहं गृहस्त्र्यपत्यादिकं, निर्ममो ममतारहितः सन् विमुच्य त्यक्त्वा शान्तो भगवदानुभवाश्लिष्टो ब्रह्मभूयाय ब्रह्मात्मकस्वरूपावस्थानाय ब्राह्मेनन्त्यादिसूत्रोक्तरीत्या कल्पते समर्थो भवतीत्यर्थः ॥५३॥

और स्व ज्ञानादि रूप सामर्थ्य, गर्व, विषय भोग रूप काम, निष्ठुर वाक्यरूप क्रोध, गृह स्त्री अपत्य आदिरूप परिग्रह, ममता रहित होकर भगवद् अनुभव में लीन होकर ब्रह्मात्मक स्वरूप अवस्थान के लिये ब्राह्मेण (ब्र० सू० ४।४।५) इत्यादि सूत्रोक्त रीति से समर्थ होता है ॥५३॥

ब्रह्मभूतः प्रसन्नाऽऽत्मा न शोचति न काङ्क्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥५४॥

ब्रह्मात्मावस्थितेः फलमाह ॥ ब्रह्मभूत इति ॥ ब्रह्मात्माऽवस्थितः, प्रसन्नः आनन्दयुक्त आत्मा चेतो यस्य तादृशः सन् नष्टपदार्थेषु भगवल्लीला-ज्ञानेन न शोचति, प्राप्तव्यं तदिच्छां बिना न काङ्क्षति। सर्वेषु भूतेषु कार्यात्मकस्वरूपज्ञानेन समः परां प्रेमलक्षणां मद्भक्तिं लभते ॥५४॥

ब्रह्मात्म स्थिति में फल कहते हैं—ब्रह्मात्म में अवस्थित आनन्दयुक्त चित्तवाला, नष्ट पदार्थों में भगवल्लीला ज्ञान से शोच नहीं करता, प्राप्त होने योग्य की कांक्षा न करनेवाला, सम्पूर्ण भूतों में कार्यात्मक स्वरूप ज्ञान से प्रेम लक्षणा भक्ति को प्राप्त करता है ॥५४॥

भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चाऽस्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥५५॥

भक्तिलाभफलमाह भक्त्येति। ततस्तदनन्तरं भक्त्या भजनेन वा अगणितानन्दलीलारूपो यश्च केवलमानन्दरसरूपोऽस्मि तादृशं मां तत्त्वतः कारणात्मकधर्मैः अभिजानाति सर्वथा जानाति तदनन्तरं तत्त्वतो ज्ञात्वा मां लीलाकर्त्तारं विशते आनन्दरूपो भवतीत्यर्थः। यद्वा मां ज्ञात्वा विशते लीलास्विति शेषः ॥५५॥

भक्ति लाभ का फल बतलाते हैं—तदनन्तर भजन से अगणित आनन्द लीला-रूप मुझे वह कारणात्मक धर्मों से जानता है। तत्त्वपूर्वक मुझे जानकर लीला करने-वाला जो मैं हूँ उसमें स्थित होता है अर्थात् आनन्द रूप होता है। अथवा मुझे जानकर लीलाओं में प्रविष्ट होता है ॥५५॥

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥५६॥

एवं स्वकर्मफलमुक्त्वा स्वसंबन्धिकर्मफलमाह ॥ सर्वकर्माण्यपीति ॥ सदा निरन्तरम् मद्व्यपाश्रयः अहमेवाश्रयणीयो यस्य तादृशः सन् सर्व-कर्माण्यपि मदाज्ञारूपेण नतु फलाभिलाषेण कुर्वाणो मत्प्रसादात् शाश्वतम् अनादि, अव्ययम् अविनाशि एतादृशं पदम् अक्षरम् अवाप्नोति प्राप्नो-तीत्यर्थः ॥५६॥

इस प्रकार अपने कर्म का फल बतलाकर, स्वसम्बन्धि कर्म फल बतलाते हैं— मैं ही जिसका सदा आश्रय हूँ ऐसा समस्त कर्मों को मेरी आज्ञा रूप में करता हुआ फलाभिलाषारहित होकर मेरी कृपा से शाश्वत नाश न होनेवाले अक्षर को प्राप्त करता है ॥५६॥

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥५७॥

यस्मान्मदाश्रितस्य कर्मकरणेऽपि तद्बाधरहितं फलं भगवत्यतस्त्वमप्येवं कुर्वित्याह ॥ चेतसेति ॥ चेतसा बहिरप्रदर्शयन् निष्कपटतया सर्वकर्माणि संन्यस्य मयि सम्यक् प्रकारेण स्थापयित्वा समर्प्येतियावत् मदाज्ञया कुर्वाणो मत्परः अहमेव परो मुख्यः प्राप्यो यस्यैतादृशः सन् बुद्धया व्यवसायात्मिकया योगम् उक्तप्रकारम् उपाश्रित्य सततं निरन्तरं मच्चित्तः मय्येव चित्तं यस्य तादृशो भव ॥५७॥

मेरे आश्रित के कर्म करने पर सम्बन्धित बाध रहित फल होता है अतः तू भी वैसा ही कर, अतः कहा है—चित्त से सम्पूर्ण कर्मों से निष्कपट सन्यास लेकर अर्थात् उन कर्मों को मुझे समर्पित करके मेरी आज्ञा से कर्म करता हुआ, मैं ही प्राप्य हूँ ऐसी बुद्धिवाला होकर, व्यवसायात्मक बुद्धि से उक्त प्रकार का अवलम्बन करके मुझ में चित्त लगानेवाला बन ॥५७॥

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।
अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनंक्ष्यसि ॥५८॥

तादृग्भूते फलमाह ॥ मच्चित्त इति ॥ मच्चित्तः सन् सर्वदुर्गाणि ऐहिकपारलौकिकसंकटस्थानानि कर्मकरणेऽपि साधनयुक्तोऽपि मदाज्ञाकरणात् मत्प्रसादात्तरिष्यसि । विपक्षे बाधकमाह । अथेति । अथ भिन्नप्रकारेण अहंकारात् स्वज्ञानाभिमानेनावश्यं कर्मभोगनैयत्यादकरणार्थं चेत् त्वं न श्रोष्यसि तदा विनंक्ष्यसि मत्संबन्धाद्भ्रश्यसीत्यर्थः ॥५८॥

फल कहते हैं—मुझ में चित्त लगाकर इस लोक के परलोक के संकट स्थानों को कर्म करने पर भी साधनयुक्त होने पर भी मेरी आज्ञा से करने से मेरी कृपा से तर जाओगे । विपक्ष में बाधक कहते हैं—अहंकार से अर्थात् स्वज्ञान अभिमान से अवश्य

कर्म-भोग की नियतता से न करने से यदि तुम नहीं सुनोगे तो मेरे सम्बन्ध से नष्ट हो जाओगे ।।५८।।

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ।।५९।।

किंच ।। यदहंकारमिति ।। यत् पूर्वोक्तं गुर्वादिहननाद्यधर्मरूपं अहंकारम् तत् अज्ञानम् आश्रित्य मद्वाक्याश्रवणेन नयोत्स्ये न युद्धं करिष्यामीतिमन्यसे अध्यवस्यसे, एष ते व्यवसायो निश्चयो मिथ्या असद्रूपो निष्फल इत्यर्थः । पराधीनत्वादित्याह । प्रकृतिः मदधीना मदाज्ञाविमुखं त्वां नियोक्ष्यति युद्धे प्रवर्त्तयिष्यतीत्यर्थः । अत्रायं भावः । मदाज्ञाविमुखस्य प्राकृतत्वेन ज्ञाते प्रकृतिनियोज्यत्वं, मदाज्ञाप्रवर्तमानस्य तदनियोज्यत्वं ।।५९।।

और गुरु (द्रोणाचार्यादि) को कैसे मारूँ ? वह तो अधर्म है इत्यादि रूप जो अहङ्कार है उस अज्ञान का आश्रय लेकर मेरे वचनों को न मानकर युद्ध नहीं करूँगा ऐसा व्यवसाय निष्फल है। प्रकृति मेरे आधीन है वह मेरी आज्ञा से विमुख तुमको युद्ध में प्रवृत्त करेगी, भाव यह है कि मेरी आज्ञा से विमुख प्राकृतत्व ज्ञान से प्रकृति उस पर नियन्त्रण करेगी मेरी आज्ञा से प्रवर्तमान होने पर प्रकृति उसका कुछ बिगाड़ नहीं कर सकती ।।५९।।

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा ।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोपि तत् ।।६०।।

किंच स्वभावजेनेति । हे कौन्तेय ! स्नेहपात्र स्वभावजेन मत्क्रीडोत्पन्नेन स्वेन क्षात्रकर्मणा शौर्यादिरूपेण निबद्धो यन्त्रितो यत् मोहात् युद्धं कर्तुं नेच्छसि तत् अवशोऽपि करिष्यसि अतो मदाज्ञयैव कुर्वित्यर्थः ।।६०।।

हे कौन्तेय ! (स्नेहपात्र) मेरी क्रीड़ा से उत्पन्न अपने क्षात्र कर्म से शौर्यादि रूप से यन्त्रित होकर मोह से जो युद्ध नहीं करना चाहते हो उसे अवश होकर भी करोगे अतः मेरी आज्ञा से ही करो ।।६०।।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ।।६१।।

नन्वीश्वराज्ञाव्यतिरेक प्रकृतिकर्मणोः कथं तथात्वमित्याह ।। ईश्वर इति ।। हे अर्जुन ! वृक्षजातीय नामत्त्वेन ज्ञानाऽनर्ह ! ईश्वरो नियामकस्तत्त्वेन सर्वभूतानां हृद्देशे हृदयमध्ये तिष्ठति मायया सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि शरीरारूढानि भ्रामयँस्तिष्ठति यथा दारुयन्त्रारूढानि कृत्रिमभूतानि सूत्रधारश्चालयति तथा मायया भ्रामयंस्तिष्ठतीतिवार्थः । अत ईश्वरप्रेरितानेव प्रकृतिः कर्म च साधकतया प्रेरयतीत्यर्थः ।।६१।।

ईश्वर की आज्ञा के बिना प्रकृति और कर्म वैसे कैसे हो सकते हैं ? अतः कहते हैं—हे अर्जुन ! (वृक्ष जाती में एक अर्जुन नामक वृक्ष है अतः ज्ञान अयोग्य तात्पर्य से यहाँ सम्बोधन है) नियामक ईश्वर सम्पूर्ण भूतों के हृदय देश में रहता है, माया द्वारा सम्पूर्ण भूतों को शरीर रूप यन्त्र पर घुमाकर रहता है। जैसे काष्ठ के बने पुतले को सूत्र से नचाया जाता है वैसे ही माया द्वारा मानव घुमाया जा रहा है। अतः ईश्वर द्वारा प्रेरितों को ही प्रकृति और कर्म साधक बनकर प्रेरणा देते हैं ।।६१।।

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ।।६२।।

मामज्ञात्वा मदाज्ञां चेन्न करोषि तदा हृदयस्थितेश्वरस्यैव शरणं गच्छेत्याह ।। तमेवेति ।। हे भारत सत्कुलोत्पन्नत्वादहंकाररहित तं पूर्वोक्तं हृदयस्थितमेव ईश्वरं सर्वभावेन सकल्पविकल्पान् परित्यज्य सर्वात्मना शरणं गच्छ, ततस्तत्प्रसादात् परां शान्तिं शाश्वतं नित्यं स्थानं पूर्वश्लोकोक्तमक्षरात्मकं प्राप्स्यसि ।।६२।।

मुझे न जानकर मेरी आज्ञा को यदि नहीं करोगे तो हृदय में स्थित ईश्वर की ही शरण में जाओ। हे भारत ! (सत्कुल में उत्पन्न होने के कारण अहंकार रहित) उस हृदय में स्थित ईश्वर को ही समस्त संकल्प विकल्पों को त्यागकर सर्वात्मना शरण में जाओ—उसकी कृपा से शान्ति-शाश्वत नित्य स्थान अक्षरात्मक को प्राप्त करोगे ।।६२

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया ।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ।।६३।।

अथ सकलगीताशास्त्रार्थमुपसंहरन्नाह ।। इतीति ।। इति अमुना प्रकारेण ते तव मया सर्वकर्त्रा गुह्यात् गोप्यात् गुह्यतरं गोप्यतरं मन्त्रबीजवत् सर्वशास्त्रज्ञानसारात्मकं ज्ञानम् अख्यातम् आसमन्तात् ससाधनं प्रसिद्धतयोक्तमित्यर्थः । एतत् मदुपदिष्टगीताशास्त्रार्थम् अशेषेण पूर्वापरानुसन्धानेन विमृश्य पर्यालोच्य यथा कर्तुम् इच्छसि उत्तमत्वेन तथा कुरु । एतद्विमर्शात् तदाज्ञाकरणे एव बुद्धिर्भविष्यतीत्याशयेन यथेच्छसीत्युक्तमितिभावः ।।६३।।

सम्पूर्ण गीता शास्त्रार्थ का उपसंहार करते हैं—इस प्रकार से तेरे लिये सबके कर्त्ता मैंने गोप्य मन्त्र की भाँति सम्पूर्ण शास्त्रों का ज्ञान सारात्मक तत्त्व साधन सहित कहा है—इस मेरे द्वारा उपदिष्ट गीता शास्त्रार्थ को पूर्वापरता से विचार कर जो उचित समझो करो, उसके विमर्श से उसकी आज्ञा में ही बुद्धि होगी इस आशय से कहा है "यथेच्छसि" ।।६३।।

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः ।
इष्टोसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ।।६४।।

विमृश्यकारित्वमीश्वरोक्तावसंभावितमितिविचारेण शोचन्तमर्जुनकृपया तद्द्वारा च लोकानुद्दिधीर्षुर्निश्चितार्थं स्वयमेवाह ।। सर्वगुह्येति ।। सर्वगुह्येऽतिगुह्यं गोप्यं गुह्यतमं मे परमं फलरूपं वचो भूयः पूर्वमुक्तमपि तत्प्रकरणेषु इदानीम् एकीकृत्य पुनर्वक्ष्यमाणं शृणु । एवं सारभूतमेकीकृत्य कथने हेतुमाह । इष्टोऽसीति । मे मम दृढम् अत्यन्तम् अप्रियकरणेऽपि अन्यथाभावरहितः इष्टः प्रियोऽसि ततः कारणात्ते हितं वक्ष्यामि कथयामि ।।७४।।

विमर्श ईश्वर की उक्ति में असम्भव है ऐसा सोचनेवाले अर्जुन से और उसके द्वारा लोकों के उद्धार की कामना से निश्चितार्थ कहा है—सम्पूर्ण गुह्यों में भी गुह्यतम मेरे फलरूप वचन को जो पहले विभिन्न प्रसंगों में कहा गया है अब एकत्र करके सुन क्योंकि तू अप्रिय करने पर भी हित करनेवाला है अतः प्रिय है इसीलिये मैं अब कहता हूँ ।।६४।।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ।।६५।।

एवं प्रतिज्ञाय तत्स्वरूपमाह मन्मनाइति । मन्मना मय्येव मनो यस्य तादृशो भव, मद्भक्तः मयि स्नेहयुक्तो भव, मद्याजी मत्पूजनशीलो भव मां नमस्कुरु मयि सर्वाधिक्यज्ञानवान् भवेत्यर्थः । एवंभूतःसन् सत्यं सत्यरूपं मामेव एष्यसि प्राप्स्यसि, नात्र संदेहः कर्त्तव्यः यतो मे मम प्रियोऽसि अतस्ते तुभ्यं प्रतिजाने प्रतिज्ञां करोमि ॥६५॥

हे अर्जुन ! मुझ में ही मन लगा, मुझ में स्नेह कर, मेरी पूजा में लग, मुझ में सर्वाधिक ज्ञानवाले बनो, इस प्रकार मुझे ही प्राप्त करोगे । सन्देह न करना, क्योंकि मेरे प्रिय हो ! अतः प्रतिज्ञा करता हूँ ॥६५॥

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि माशुचः ॥६६॥

नन्वेतत्कथं सिद्धये दित्याशङ्क्याह ॥ सर्वधर्मानिति ॥ सर्वधर्मान् चोदनालक्षणान् परित्यज्य कर्त्तव्योत्तमत्वलक्षणज्ञानाभावेन त्यक्त्वा माम् एकं मुख्यं पुरुषोत्तमं शरणं व्रज इत्यर्थः । धर्मानितिबहुवचनेन मामेकमित्येकवचनेन च तत्रायाससाध्यत्वं साङ्गानुष्ठेयत्वम् अत्र सुखसेव्यत्वं सर्वफलदानसामर्थ्यं च ज्ञापितम् सर्वधर्मपदेन लौकिकालौकिकधर्मत्यागयुक्तो भवेत्यसंकुचितवृत्त्या । निःशेषेणास्यार्थस्तु श्रीमद्विट्ठलेश्वरैरस्मत्प्रभुचरणैर्निरूपित इति नात्रप्रपञ्च्यते । एवं सर्वधर्मत्यागेन शरणागतौ पूर्वोक्तं सिद्धयतीत्यर्थः । ननु पूर्वजन्मसंचितपापप्रतिबन्धकतया कथं सर्वधर्मत्याग शरणागतिर्वा सेत्स्यतीत्यत आह । अहमिति । अहं त्वां पूर्वोक्तस्वेष्टत्वात् सर्वपापेभ्यः प्रतिबन्धकरूपेभ्यो मोक्षयिष्यामि मोचयिष्यामि, प्रतिबन्धकपापादिस्मरणेन मा शुचः । शोकं माकार्षीः ॥६६॥

यदि यह कहें कि सिद्धि कैसे हो ! इस आशंका से कहा है—सम्पूर्ण चोदना लक्षणवाले धर्मों को कर्त्तव्य, उत्तमत्व, लक्षण ज्ञान अभाव से त्यागकर मुझ मुख्य पुरुषोत्तम को प्राप्तकर । 'धर्मान्' बहुवचन है, 'मामेकम्' में एक वचन है इससे आयास साध्यत्व सांग अनुष्ठेय है समझना चाहिये है यहाँ सुख सेव्यत्व, सर्वफल दान सामर्थ्य ज्ञापित है । सर्वधर्म पद से तात्पर्य-लौकिक-अलौकिक धर्म त्याग से है । यह असंकुचित वृत्ति से कहा गया है । विशेषतः श्रीमद्विट्ठलेश्वर हमारे प्रभु

चरण ने निरूपित किया है अतः यहाँ हम अधिक विस्तार नहीं करते। इस प्रकार सर्व धर्म त्याग से शरणागति में पूर्वोक्त की सिद्धि है। यदि यह शंका होवे कि सर्वधर्म त्याग अथवा शरणागति तब तक नहीं हो सकती जब तक पूर्व जन्म संचित पाप प्रतिबन्धक हैं तो कहा है—मैं तुझे पूर्वोक्त स्वेष्ट से सर्वपापों से प्रतिबन्धक रूपों से मुक्त कर दूंगा, प्रतिबन्धक पाप आदि के स्मरण से शोक मत करो ॥६६॥

इदं ते-नाऽतपस्काय नाऽभक्ताय कदाचन।
नचाशुश्रूषवे वाच्यं नच मां योऽभ्यसूयति ॥६७॥

एवं सकलशास्त्रार्थगीतार्थतत्त्वमुपदिश्य लोकोद्धारार्थमेतदुपदेशनेन मार्गप्रवर्तनार्थमधिकारिणमाह ॥ इदं ये इति ॥ इदं सर्वशास्त्ररहस्यं ते त्वया अतपस्काय स्वाचारहीनाय न वाच्यम्। नच अभक्ताय मद्भक्तिरहिताय कदाचन वाच्यम्। कदाचनेतिपदनाऽभक्तसंसर्गिणे भक्तायाऽपि न वाच्यमितिज्ञापितम्। नच पुनः अशुश्रूषवे श्रवणेच्छारहिताय अनासक्तायेत्यर्थः। यद्वा मत्परिचर्याहीनाय च न वाच्यम्। यो मां पुरुषोत्तमं बाहिर्मुख्येण अभ्यसूयति दोषारोपपूर्वकं कौटिल्येन निन्दति तस्मै च नच वाच्यम् ॥६७॥

इस प्रकार सकल शास्त्रार्थ गीतार्थ तत्त्व का उपदेश कर लोकोद्धारार्थ उपदेश से मार्ग प्रवर्तन के लिये अधिकारी बतलाते हैं। इस सर्वशास्त्र रहस्य को आचारहीन को न कहना, मेरी भक्ति से रहित को भी न कहना। 'कदाचन' इस पद से अभक्त संसर्गी भक्त को भी नहीं कहना चाहिये, और जो सुनने की इच्छा से रहित हो उससे भी न कहना अथवा मेरी परिचर्याहीन को भी न कहना जो मुझ पुरुषोत्तम की निन्दा करे उसे भी इसका रहस्य न बतलाना ॥६७॥

य इदं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥६८॥

एतमेतद्दोषयुक्तेभ्यो न वाच्यमेतद्दोषरहितेभ्यश्च सर्वथा वाच्यमित्येतदुपदेशनफलमाह ॥ य इदमिति ॥ यः कश्चन दुर्लभः मद्भक्तिरसाविष्टं इमं पूर्वश्लोकोक्तं परमं सर्वोत्कृष्टं गुह्यं गोप्यं मद्भक्तेषु पूर्वोक्तदोषरहित-

तद्गुणसुसंपन्नेषु अभिधास्यति वक्ष्यति श्रोता वक्ताचैतच्छ्रवणेन असंशयः संदेहरहितः सन् परां सर्वोत्कृष्टां पूर्वोक्तां मयि भक्तिं कृत्वा मामेव एष्यति प्राप्नोतीत्यर्थः ॥६८॥

इस प्रकार उक्त दोषों से युक्तों से यह रहस्य न कहना और इन पूर्वोक्त दोष रहितों से इसे कहना। जो कोई मेरी भक्तिरस से आविष्ट इस पूर्व श्लोकोक्त सर्वोत्कृष्ट गोप्य को मेरे भक्तों को बतलायेगा, श्रोता वक्ता दोनों इसके श्रवण से सन्देहरहित होकर सर्वोत्कृष्ट मेरी भक्ति को करके मुझे ही प्राप्त करेंगे ॥६८॥

नच तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।
भविता नच मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥६९॥

ननु कथमेतत्कथनश्रवणमात्रेण त्वां प्राप्नोतीत्यत आह ॥ नचेति ॥ तस्मादेतद्वक्तुः सकाशात् मनुष्येषु अधिकारिषु मे प्रियकृत्तमः प्रियकर्तृषु मध्ये अतिशयितो नच, नास्तीत्यर्थः मद्भक्तानां मत्संगार्थयत्नप्रदर्शकत्वा-दितिभावः। च पुनः तस्मात् श्रोतुः सकाशात् श्रुत्वा मदाज्ञप्तसेवादिकरणात् अन्यो भुवि प्रियतरो भविता नेत्यर्थः ॥६९॥

यदि यह कहें कि इसके श्रवणमात्र से तुम्हारी प्राप्ति कैसे सम्भव है तो कहते हैं इसके वक्ता से बढ़कर मेरा मनुष्यों में कोई प्रिय नहीं है। मेरे भक्तों का मेरे संग के लिये यत्न प्रदर्शक वही है। श्रोता द्वारा मेरी आज्ञा दी गई सेवा करने से और कोई अन्य प्रिय नहीं है ॥६९॥

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः ।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥७०॥

एवमुपदेष्टुः श्रोतुश्च फलमुक्त्वा पाठकर्तुः फलमाह ॥ अध्येष्यत इति ॥ आवयोः श्रीकृष्णार्जुनयोः धर्म्यं धर्मयुक्तं धर्मोत्पादकं वा संवादं सोत्तर-प्रत्युत्तरं गीतात्मकं सम्यक्प्रकारेण वदनात्मकं यश्च अध्येष्यते ध्यानं कृत्वा जपरूपेण पठिष्यति। तेनाध्ययनेन सर्वयज्ञश्रेष्ठेन ज्ञानयज्ञेन ज्ञानात्मकमद्य-जनेन अहं तस्य इष्टः प्रियः स्यां भवेयमित्यर्थः। इति=एवंप्रकारिका मे मम मतिः बुद्धिरित्यर्थः स्वमतित्वकथनेनैतत्पाठस्याऽऽवश्यकत्वं करणे च स्वप्रसा-दावश्यत्वं ज्ञापितमितिभावः ॥७०॥

इस प्रकार उपदेष्टा श्रोता को फल बताकर पाठकर्त्ता का फल बतलाते हैं। जो हम दोनों (श्रीकृष्ण अर्जुन) के इस धर्मोत्पादक संवाद को उत्तर प्रत्युत्तर सहित बदनात्मक इस गीता का ध्यानपूर्वक जाप करेंगे पढेंगे उस अध्ययन से सर्व यज्ञ श्रेष्ठ ज्ञानयज्ञ से (ज्ञानात्मक मेरे यजन से) मेरे प्रिय बनेंगे। ऐसा मेरा विचार है। अपनी बुद्धि के कथन से इस पाठ का माहात्म्य और करने से स्वप्रसाद का आवश्यकत्व बतलाया है ।।७०।।

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः ।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान् प्राप्नुयात् पुण्यकर्मणाम् ।।७१।।

एवंरूपज्ञानेनैकस्य पठतो योऽन्यः कश्चिच्छृणोति तस्यापि फलतीत्याह ।। श्रद्धावानिति ।। यो नरः श्रद्धावानेतच्छ्रवणेनाहंकृतार्थो भविष्यामीत्यत्यादरयुक्तः शृणुयादप्यर्थानवबोधेनापि स शुभान् मोक्षप्रापकान् लोकान् प्राप्नुयात् । च पुनः अनसूयः किमिति दम्भार्थमुच्चैः पाषण्डी पठतीत्याद्यसूयारहितः सम्यक् गीतां पठतीत्याद्यनुमोदते मनसि सोऽपि मुक्तः संसारात् पुण्यकर्मणां लोकान् स्वर्गादीन् प्राप्नुयात् ।।७१।।

इस प्रकार के ज्ञान से एक के पढ़ने से जो अन्य भी सुनता है उसको भी फल मिलता है—जो नर श्रद्धावान् हैं—अर्थात् इसके सुनने से मैं कृतार्थ हो जाऊँगा ऐसे आदर से युक्त) वह सुने, चाहे अर्थ न भी जाने तब भी मोक्ष प्रापक लोकों को प्राप्त करता है। असूया दम्भ के लिये जो उच्च स्वर से पढ़ता है वह पाखण्डी है उसमें) असूया रहित जो अच्छी प्रकार से गीता पढ़ता है मन से भी अनुमोदन करता है वह संसार से मुक्त होकर पुण्यकर्म स्वर्गादि लोकों को प्राप्त करता है ।।७१।।

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा ।
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रणष्टस्ते धनञ्जय ।।७२।।

एवं संसारमुक्तिः शुभलोकप्राप्तिश्च मोहनाशो भवति, स च भगवन्मुखाच्छ्रवणेऽर्जुनस्यैव[1] ततः पुनर्युद्धादिकरणात्तदा कथमन्यस्य भवेदिति

१. अर्जुनस्यैव नेति प्रतिभाति ।

बहिर्मुखशङ्कामपनुदन् भगवानर्जुनं पृच्छति। कच्चिदेतदिति । हे पार्थ ! श्रद्धयैतच्छ्रवणयोग्य कच्चिदिति प्रश्नार्थः। त्वया एकाग्रेण चेतसा प्रणिहितेन मनसा एतन्मयोक्तं श्रुतं ? तेन श्रवणेन हे धनञ्जय ! ते अज्ञानसंमोहः अज्ञानेन मत्स्वरूपेङ्गिताज्ञानेन जनितो यः संमोहः आसुरमारणजपापोत्पत्तिरूपः सम्यक्प्रकारको मोहो भ्रमो नष्टः ? ते तवेत्यर्थः ॥७२॥

इस प्रकार संसार मुक्ति, शुभलोक प्राप्ति और मोह नाश होता है वह भगवान् के मुख से सुनकर अर्जुन को ही होगा पुनः युद्ध करने से किसी अन्य को कैसे होगा अतः भगवान् अर्जुन से पूछते हैं—हे श्रद्धा से श्रवण योग्य पार्थ ! तुमने सावधानी से मेरी कही बात सुनी, उस सुनने से हे धनञ्जय ! मेरे स्वरूप से इंगित अज्ञान से जनित जो सम्मोह आसुर मारण से उत्पन्न पापोत्पत्तिरूप भ्रम नष्ट हुआ कि नहीं ? ॥७२॥

॥ अर्जुन उवाच ॥

नष्टो मोहःस्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव ॥७३॥

एवं प्रश्ने नष्टमोहः सन् अर्जुन उत्तरं प्राह । नष्टो मोह इति । अज्ञानकृतो मोहो नष्टःत्वदुक्तिश्रवणेनेतिशेषः। अधिकमपिजातं हे अच्युत सर्वत्र च्युतिरहित ! मयाअहंकाराज्ञानसहितेन त्वत्प्रसादात् स्मृतिः तत्स्वरूपात्मिका लब्धा प्राप्ता प्रसादादितिकथनेन साधनालभ्यतोक्ता। अतो दासस्य प्रभ्वाज्ञाकरणमेव धर्मो नत्वन्योऽपि धर्माधर्मविचारः एवं गतसंदेहः संस्तवाग्रे दासत्वेन स्थितोऽस्मि इदानीं तव वचनं पूर्वोक्तं युद्धादिरूपं सर्वधर्मत्यागरूपं त्वद्भक्तेष्वेतदुपदेशरूपं च करिष्ये ॥७३॥

इस प्रकार पूछने पर नष्ट मोहवाला अर्जुन बोला—आपके वचन से अज्ञानकृत मोह नष्ट हो गया, हे च्युतिरहित, अहङ्कार अज्ञान सहित तुम्हारे प्रसाद से तत्स्वरूपात्मिका स्मृति प्राप्त कर ली, 'प्रसादात्' इस कथन से साधन से भगवान् की अप्राप्ति कही है अतः दास का धर्म इतना ही है कि वह प्रभु की आज्ञा का पालन करे। अन्य धर्माधर्म विचार नहीं इस प्रकार सन्देह रहित होकर आपके सामने दासरूप से स्थित हूँ इस समय आपके वचनरूप युद्धादिरूप सर्व धर्म त्यागरूप तुम्हारे भक्तों में इस उपदेश को स्थापित करूँगा ॥७३॥

॥ संजय उवाच ॥

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः ।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं लोमहर्षणम् ॥७४॥

एवं धृतराष्ट्रपृष्टश्रीकृष्णार्जुनसंवादं सफलमशेषतः कथयित्वा भगवति सासूयत्वात् धृतराष्ट्रस्य फलाभावकथनार्थं स्वस्य च तदग्रे कथनावश्यकत्वाय स्वस्य श्रवणानन्दभवनकारणज्ञापनाय स्तुतकथानुसंधानेन संजयउवाच ॥ इतीति ॥ इति=अमुना प्रकारेण अहं त्वदीयत्वेन द्वेषसंबन्धयुक्तोऽपि वासुदेवस्य मोक्षदातुः महात्मनो भगवद्भक्तस्य पार्थस्य च इमं मया पूर्वोक्तं संवादम् उत्तरप्रत्युत्तररूपम् अद्भुतम् । अलौकिकं रोमहर्षणं रोमहर्षकरम् आनन्दोद्बोधकम् अश्रौषं श्रुतवानस्मि ॥७४॥

इस प्रकार धृतराष्ट्र के पूछे गये श्रीकृष्णार्जुन संवाद को फलसहित सम्पूर्ण को बतलाकर भगवान् में असूया रखनेवाले धृतराष्ट्र को फलाभाव अपने लिये श्रवणानन्द भवन कारण ज्ञापन के लिये स्तुत कथा अनुसन्धान से संजय ने कहा—इस प्रकार तुम्हारे द्वेष सम्बन्ध से युक्त मोक्षदाता वासुदेव महात्मा भगवद्भक्त पार्थ के उत्तर-प्रत्युत्तररूप अद्भुत संवाद को, रोमहर्षण आनन्दोद्बोधक को मैंने सुना ॥७४॥

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम् ।
योगं योगेश्वरात् कृष्णात् साक्षात्कथयतः स्वयम् ॥७५॥

ननु द्वेषभावसंबन्धे सति कथं श्रुतमित्यत आह ॥ व्यासप्रसादादिति ॥ व्यासस्य भगवज्ज्ञानावतारस्य प्रसादात् चक्षुःश्रोत्रादिकं व्यासेनालौकिकं दिव्यं दत्तं तेन श्रुतवानस्मि । किंतदितिश्रुतमित्यत आह । एतत् परिदृश्यमानं गुह्यं गोप्यं परं सर्वोत्कृष्टं योगं योगेश्वरात् कृष्णात् साक्षात् स्वयं कथयतः श्रुतवानस्मि ॥७५॥

यदि यह कहें कि द्वेषभाव सम्बन्ध होने पर कैसे सुना तो कहते हैं भगवान् के ज्ञानावतार व्यास की कृपा से जो चक्षु-श्रोत्रादि अलौकिक मिले उनसे सुन सका—वह क्या सुना अतः कहते हैं—सर्वोत्कृष्ट योग योगेश्वर कृष्ण से साक्षात् कथन करते समय सुना है ॥७५॥

राजन् संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम् ।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥७६॥

किंच ॥ राजन्निति ॥ राजन्, इमं केशवार्जुनयोः संवादम् अद्भुतं लौकिकोपपत्तिरहितं पुण्यजनकं संस्मृत्य सादरं संस्मृत्य मुहुर्मुहुः वारं वारं हृष्यामि हर्षं प्राप्नोमि ॥७६॥

हे राजन् ! इस केशव—अर्जुन के अद्भुत संवाद को जो लौकिक उपपत्तिरहित तथा पुण्य जनक है, बार-बार स्मरण करके हर्षित हो रहा हूँ ॥७६॥

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः ।
विस्मयो मे महान् राजन् हृष्यामि च पुनः पुनः ॥७७॥

किंच तच्चेति । तत् अत्यद्भुतम् अलौकिकरूपं संस्मृत्य, च पुनः हरेः सर्वदुःखहर्तुः पुरुषोत्तमसंबन्धिरूपं संस्मृत्य मे विस्मयो महान् जातः, कथं त्वदीया जेष्यन्तीति । मूलभूतस्वरूपदर्शनेन सर्वे मोक्षं प्राप्स्यन्तीति पुनः पुनः वारं वारमादरेण हृष्यामि । यद्वा । हरेः अत्यद्भुतं पुरुषोत्तमत्वेनानुभवैकवेद्यं तत्संस्मृत्य स्मरणं कृत्वा पुनः संस्मृत्य ध्यानं कृत्वा मे महान् विस्मयः, यतः क्वाहं तुच्छो जीवः क्व तद्दर्शनमिति त्वत्सम्बन्धेन दर्शनं जातमतः संबोधयति । राजन्निति । किंच । पुनः हृष्यामि आनन्दं प्राप्नोमि । भगवद्दर्शने हर्षस्तु वाप्यनुभवसिद्ध इति तज्ज्ञत्वेन महत्संबोधयति । राजन्निति ॥७७॥

उस अद्भुत अलौकिकरूप को स्मरण करके सम्पूर्ण सर्व दुःखहर्ता पुरुषोत्तम सम्बन्धिरूप का स्मरण करके मुझे महान् विस्मय है अर्थात् तुम्हारे पक्ष के लोग कैसे जीत पायेंगे । मूलभूत स्वरूप दर्शन से सब मोक्ष को प्राप्त करेंगे अतः बार-बार आदर से प्रसन्न हूँ अथवा हरि के पुरुषोत्तमत्वरूप अनुभव से जानने योग्य को स्मरण करके पुनः स्मरण कर ध्यान करके महान् विस्मय है कि—'कहाँ तो तुच्छ जीव और कहाँ वह दर्शन' तुम्हारे सम्बन्ध से दर्शन हुआ अतः सम्बोधन पूर्वक कहता है, पुनः हर्षित होता हूँ भगवान् के दर्शन से हर्ष तो अनुभव द्वारा तुम्हें भी प्राप्त है अतः सम्बोधन आदरपूर्वक है ॥७७॥

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥७८॥

इति श्रीभगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे मोक्षसंन्यासयोगो नामाष्टादशोऽध्यायः ॥१८॥

॥ श्रीकृष्णार्पणमस्तु ॥

एवं गीताश्रवणेन भगवद्दर्शनानन्दितचित्तेन स्वमतिनिश्चितार्थमनुवदति तथात्वज्ञानेन शरणागमनार्थम् ॥ यत्रेति ॥ यत्र येषां पक्षे योगानां सर्वसाधनानाम् ईश्वरो नियामकः तत्र श्रीः लक्ष्मीः, यत्र यस्मिन्नर्थे पार्थः पृथाया क्षत्रियायाः 'यदर्थं क्षत्रियासुत' इति वाक्यवक्त्र्याः पुत्रो महाशूरो भगवदीयश्च धनुर्धरः ससामग्रीकः तत्र विजयः शत्रूणां पराजयपूर्वकमुत्कर्षः, यत्रैव लक्ष्मीस्तत्रैव भूतिस्तदंशरूपा राज्यलक्ष्मीः ध्रुवा निश्चला यत्र विजयस्तत्र नीतिर्नय इत्यर्थः। इत्येवंरूपा मे मतिः मद्बुद्धिनिश्चयः। अत्रायं भावः। यत्र श्रीकृष्णार्जुनौ पक्षे भवतस्तत्र श्र्यादिकं भवति तत्र साक्षात्तावेव यत्र तत्र किं वाच्यमितिभावः। अतस्तवापि संरम्भादित्यागेन शरणगमनमेव सर्वार्थसाधकमितिभावः स्वमतित्ववाचकस्येतिप्रतिजानीमः ॥७८॥

श्रीकृष्णाऽनन्यभक्तस्य गीताश्रवणतः परा ।
दृढा भक्तिर्भवेद्गीतासारस्त्वेवं हि बुद्ध्यताम् ॥१॥
शास्त्रार्थरूपमज्ञात्वा कृतं न फलदं भवेत् ।
हरिर्भजन सिद्ध्यर्थं गीताशास्त्रमथाऽब्रवीत् ॥२॥
अर्जुनाय प्रसंगेन सर्वोद्धारप्रयत्नवान् ।
तस्माज्ज्ञात्वा हि गीतार्थं कृष्ण सेव्यो हि सर्वदा ॥३॥
अतस्तदर्थं गीताऽर्थो निगूढो विनिरूपितः ।
श्रीमदाचार्यपादाब्जभक्त्या लब्धो ह्यनन्यया ॥४॥

श्रीमदाचार्यपादेषु गीतार्थकुसुमाञ्जलिः ।
न्यस्तस्तेन प्रसीदन्तु ते सदा मयि किंकरे ॥५॥
पुष्टिमार्गीयभक्तानां विहारार्थं सुनिर्मला ।
कृता श्रीकृष्णभावाब्धिगीताऽमृततरङ्गिणी ॥६॥
अनन्यैकैव भक्तिर्हि कार्या श्रीकृष्णतुष्टये ।
विद्याऽष्टादशकेनापि सर्वथैवोच्यते यतः ॥७॥
इत्येवाष्टादशाध्यायैर्गीताशास्त्रं हरिः स्वयम् ।
प्रकटीकृतवाँल्लोके दयालुर्देवकीसुतः ॥८॥
अत्र युक्तमयुक्तं वा जीवबुद्ध्या ह्यलेखि यत् ।
तत् क्षमन्तु सदाचार्याः स्वाङ्गीकृतबलान्मयि ॥९॥
कृष्णो जलधरश्यामो बभौ राजीवलोचनः ।
श्यामापि यस्य वामांशे विद्युल्लेखेव राजते ॥१०॥

इति श्रीभगवद्गीताऽमृततरङ्गिण्यामष्टादशोऽध्यायः सम्पूर्णः ॥१८॥

इस प्रकार गीता सुनने से भगवान् के दर्शन से आनन्दित चित्त से अपनी मति से निश्चित अर्थ के लिये वैसे ज्ञान से शरणागत का प्रतिपादन है—जिस पक्ष में सर्व साधनों का ईश्वर नियामक है वहाँ लक्ष्मी है जिस पक्ष में क्षत्रिया पृथा का पुत्र महाशूर भगवदीय धनुर्धर समग्री सहित है उस पक्ष की विजय निश्चित है, शत्रुओं को पराजित करके उत्कर्ष है, वही लक्ष्मी है, भूतिलक्ष्मी की अंशरूपा राज्य लक्ष्मी निश्चला है वहीं बिजय वहीं नीति है ऐसी मेरी बुद्धि है।

भाव यह है जिस पक्ष में श्रीकृष्ण और अर्जुन हैं वहीं श्रीआदिक हैं जहाँ साक्षात् दोनों हैं वहाँ फिर कहना ही क्या है ? अतः तुम्हें भी क्रोध छोड़कर शरण जाना ही सर्वार्थ साधक है, संजय ने यहाँ अपना मत कहा है ॥७८॥

कारिकार्थ :—श्रीकृष्ण भगवान् के भक्त की गीता के श्रवण से दृढ़ भक्ति होती है अतः गीता का सार ऐसा समझना चाहिये—॥१॥

शास्त्रार्थ के रूप को न जानकर किया कर्म फलदायी नहीं होता अतः हरि के भजन सिद्धि के लिये गीता शास्त्र कहा गया है ॥२॥

अर्जुन के बहाने कृष्ण समस्त लोक का उद्धार करना चाहते हैं अतः गीता के अर्थ को जानकर सर्वदा कृष्ण की ही सेवा करनी चाहिये ॥३॥

अतः गूढ़ गीता के अर्थ को श्रीमदाचार्य चरणों को अनन्य भक्ति से मैंने जाना है ॥४॥

श्रीमदाचार्य चरणों में गीतार्थरूपी कुसुमों की अंजलि समर्पित करता हूँ इससे वे मुझ दास पर प्रसन्न होवें ॥५॥

पुष्टिमार्गीय भक्तों के विहार के लिये स्वच्छ श्रीकृष्ण के भावोंरूपी समुद्र से गीतारूपी अमृत की तरङ्गिणी बनायी है ॥६॥

अनन्या एक भक्ति ही श्रीकृष्ण में करनी चाहिये क्योंकि १८ विद्याओं में यही सार कहा है ॥७॥

दयालु देवकीनन्दन श्रीकृष्ण ने भी १८ विद्याओं के साररूप में १८ अध्यायों में गीता शास्त्र को लोक में प्रकट किया है ॥८॥

इसमें जो भी अयुक्त हो जीव बुद्धि से लिखा है आचार्य क्षमा करें उन्होंने ही तो मुझे अङ्गीकार किया है ॥९॥

कमलनयन मेघश्याम कृष्ण विद्युत् लेखा की भांति वाम भाग में स्थित राधिका से शोभित होते हैं ॥१०॥

इति श्रीद्वारकेश संस्कृत महाविद्यालय प्रधानाचार्य स्व० पण्डितप्रवर श्री श्रीधर शास्त्रि चतुर्वेद सूनु, सत्ताचार्य श्रीद्वारकेश संस्कृत महाविद्यालय मथुरा पूर्व प्रधानाचार्य वासुदेव कृष्ण चतुर्वेद कृतायां श्रीव्रजेशानन्दिन्यां हिन्दी टीकायां श्रीमद्भगवद्गीतामृत तरङ्गिण्यामष्टादशोऽध्यायः सम्पूर्णः ।